

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य रचित

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित

[हिन्दी अनुवाद]

पर्व : ३-४, भाग : ३

[मगवान् सम्मवनाथ से धर्मनाथ तक १३ तीर्थङ्कर, २ चक्रवर्ती,
५ वासुदेव, ५ बलदेव, ५ प्रतिवासुदेव—३० महापुरुषों का चरित]



अनुवादक

श्री गणेश ललवानी

एवं

श्रीमती राजकुमारी बेगानी



प्रकाशक

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

श्री जैन श्वेताम्बर नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर

प्रकाशकीय

अप्रतिम प्रतिभाधारक, कलिकाल सर्वज्ञ, परमार्हत कुमारपाल प्रतिबोधक, स्वनामधन्य श्री हेमचन्द्राचार्य रचित त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित का तृतीय एवं चतुर्थ पर्व, भाग—३ के रूप में प्राकृत भारती के पुष्प संख्या ७९ के रूप में प्रस्तुत करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता हो रही है।

त्रिषष्टि अर्थात् तिरेसठ, शलाका पुरुष अर्थात् सर्वोत्कृष्ट महापुरुष अथवा सृष्टि में उत्पन्न हुए या होने वाले जो सर्वश्रेष्ठ महापुरुष होते हैं वे शलाका पुरुष कहलाते हैं। इस कालचक्र के उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के आरकों में प्रत्येक काल में सर्वोच्च ६३ पुरुषों की गणना की गई है, की जाती थी और की जाती रहेगी। इसी नियमानुसार इस अवसर्पिणी में ६३ महापुरुष हुए हैं उनमें २४ तीर्थकर, १२ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव और ९ बलदेवों की गणना की जाती है। इन्हीं ६३ महापुरुषों के जीवन-चरितों का संकलन इस 'त्रिषष्टिशलाका-पुरुष चरित' के अन्तर्गत किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने इसे १० पर्वों में विभक्त किया है जिनमें ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त ६३ महापुरुषों के जीवन-चरित संगृहीत हैं।

प्रथम पर्व में भगवान् ऋषभदेव एवं भरत चक्रवर्ती का एवं द्वितीय पर्व में द्वितीय तीर्थकर भगवान् अजितनाथ एवं द्वितीय चक्रवर्ती सगर का सांगोपांग जीवन गुम्फित है। ये दोनों पर्व हिन्दी अनुवाद के साथ प्राकृत भारती के पुष्प ६२ एवं ७७ के रूप में प्राकृत भारती अकादमी द्वारा प्रकाशित किए जा चुके हैं।

इस तृतीय भाग में पर्व ३ और ४ संयुक्त रूप से प्रकाशित किए जा रहे हैं। तृतीय पर्व में आठ सर्ग हैं जिनमें पहले सर्ग में भगवान् संभवनाथ, दूसरे सर्ग में प्रभु अभिनन्दन, तीसरे सर्ग में विभु सुमतिनाथ, चौथे सर्ग में स्वामिन् पद्मप्रभ, पाँचवें सर्ग में जिनेन्द्र सुपाश्वर्नाथ, छठे सर्ग में तीर्थपति चन्द्रप्रभ, सातवें सर्ग में भगवान् सुविधिनाथ एवं आठवें सर्ग में भगवान् शीतलनाथ का जीवन चरित है। इस प्रकार इस तीसरे पर्व में तीसरे तीर्थकर से लेकर दसवें तीर्थकर शीतलनाथ के चरितों का समावेश हो गया है।

चतुर्थ पर्व में सात सर्ग हैं—

पहले सर्ग में ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयांसनाथ, प्रथम बलदेव अचल, प्रथम वासुदेव त्रिपृष्ठ, प्रथम प्रतिवासुदेव अश्वश्रीव का चरित है।

दूसरे सर्ग में बारहवें तीर्थंकर वासुज्यै एवं दूसरे—बलदेव विजय, द्विपृष्ठ वासुदेव, तारक प्रतिवासुदेव का चरित है।

तीसरे सर्ग में तेरहवें तीर्थंकर विमलनाथ एवं तीसरे—भद्र बलदेव, स्वयम्भू वासुदेव, मेरक प्रतिवासुदेव का जीवन चरित है।

चौथे सर्ग में चौदहवें तीर्थंकर अनन्तनाथ एवं चौथे—सुप्रभ बलदेव, पुरुषोत्तम वासुदेव, मधु प्रतिवासुदेव का चरित है।

पाँचवें सर्ग में पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ एवं पाँचवें—सुदर्शन बलदेव, पुरुषसिंह वासुदेव, निशुम्भ प्रतिवासुदेव का वर्णन है।

छठे सर्ग में तृतीय चक्रवर्ती मधवा का चरित है।

सातवें सर्ग में चतुर्थ चक्रवर्ती सनत्कुमार का जीवन चरित है।

इस प्रकार चौथे पर्व में ५ तीर्थंङ्करो, २ चक्रवर्तियों एवं पाँच-पाँच बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेवों—कुल २२ महापुरुषों का जीवन-चरित्र संकलित है।

पूर्व में आचार्य शीलांक ने 'चउप्पन-महापुरुष-चरिय' नाम से इन ६३ महापुरुषों के जीवन का प्राकृत भाषा में प्रणयन किया था। शीलांक ने ९ प्रतिवासुदेवों की गणना स्वतन्त्र रूप से नहीं की, अतः ६३ के स्थान पर ५४ महापुरुषों की जीवनगाथा ही उसमें सम्मिलित थी।

आचार्य हेमचन्द्र १२वीं शताब्दी के एक अनुपमेय सारस्वत पुत्र थे, कहें तो अत्युक्ति न होगी। इनकी लेखिनी से साहित्य की कोई भी विधा अछूती नहीं रही। व्याकरण, काव्य, कोष, अलंकार, छन्द-शास्त्र, न्याय, दर्शन, योग, स्तोत्र आदि प्रत्येक विधा पर अपनी स्वतन्त्र, मौलिक एवं चिन्तनपूर्ण लेखिनी का सफल प्रयोग इन्होंने किया। आचार्य हेमचन्द्र न केवल साहित्यकार ही थे; अपितु जैनधर्म के एक दिग्गज आचार्य भी थे। महावीर की वाणी के प्रचार-प्रसार में अहिंसा का सर्वत्र व्यापक सकारात्मक प्रयोग हो इस दृष्टि से वे चालुक्यवंशीय राजाओं के सम्पर्क में

भी सजगता से आए और सिद्धराज तथा परमार्हत् कुमारपाल जैसे राज-ऋषियों को प्रभावित किया और सर्वधर्म समन्वय के साथ विशाल राज्य में अहिंसा का अमारी पट्ट के रूप में उद्घोष भी करवाया। जैन परम्परा के होते हुए भी उन्होंने महादेव को जिन के रूप में आलेखित कर उनकी भी स्तवना की। हेमचन्द्र न केवल सार्वदेशीय विद्वान् ही थे; अपितु उन्होंने गुर्जर घरा में अहिंसा, करुणा, प्रेम के साथ गुर्जर भाषा को जो अनुपम अस्मिता प्रदान की यह उनकी उपलब्धियों की पराकाष्ठा थी।

महापुरुषों के जीवनचरित को पौराणिक आख्यान कह सकते हैं। पौराणिक होते हुए भी आचार्य ने इस चरित-काव्य को साहित्य शास्त्र के नियमानुसार महाकाव्य के रूप में सम्पादित करने का अभूतपूर्व प्रयोग किया है और इसमें वे पूर्णतया सफल भी हुए हैं। यह ग्रन्थ छत्तीस अश्वश्लोक का परिमाण का है। इस ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए हेमचन्द्र स्वयं ग्रन्थ की प्रशस्ति में लिखते हैं—

‘चेदि, दशार्ण, मालव, महाराष्ट्र, सिन्ध और अन्य अनेक दुर्गम देशों को अपने भुजबल से पराजित करने वाले परमार्हत् चालुक्यकुलोत्पन्न कुमारपाल राजर्षि ने एक समय आचार्य हेमचन्द्रसूरि से विनयपूर्वक कहा—‘हे स्वामिन् ! निष्कारण परोपकार की बुद्धि को धारण करने वाले आपकी आज्ञा से मैंने नरक गति के आयुष्य के निमित्त-कारण मृगया, जुआ, मदिरादि दुर्गुणों का मेरे राज्य में पूर्णतः निषेध कर दिया है और पुत्ररहित मृत्यु प्राप्त परिवारों के धन को भी मैंने त्याग दिया है तथा इस पृथ्वी को अरिहन्त के चैत्यों से सुशोभित एवं मण्डित कर दिया है। अतः वर्तमान काल में आपकी कृपा से मैं सम्प्रति राजा जैसा हो गया हूँ। मेरे पूर्वज महाराजा सिद्धराज जयसिंह की भक्तियुक्त प्रार्थना से आपने पंचांगीपूर्ण ‘सिद्धहेमशब्दानुशासन’ की रचना की। भगवन् ! आपने मेरे लिए निर्मल ‘योगशास्त्र’ की रचना की और जनोपकार के लिए द्वयाश्रय काव्य, छन्दोज्ञानुशासन, काव्यानुशासन और नामसंग्रहकोष प्रमुख अन्य ग्रन्थों की रचना की। अतः हे आचार्य ! आप स्वयं ही लोगों पर उपकार करने के लिए कटिबद्ध हैं। मेरी प्रार्थना है कि मेरे जैसे मनुष्य को

प्रतिबोध देने के लिए ६३ शलाका-पुरुषों के चरित पर प्रकाश डालें ।'

इससे स्पष्ट है कि राजर्षि कुमारपाल के आग्रह से ही आचार्य हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ की रचना उनके अध्ययन हेतु की थी । पूर्वांकित ग्रन्थों की रचना के अनन्तर इसकी रचना होने से इसका रचनाकाल विक्रम संवत् १२२० के निकट ही स्वीकार्य होता है । यह ग्रन्थ हेमचन्द्राचार्य की प्रौढ़ावस्था की रचना है और इस कारण इसमें उनके लोकजीवन के अनुभवों तथा मानव स्वभाव की गहरी पकड़ की झलक मिलती है । यही कारण है कि काल की दृष्टि में बन्धी पुराण कथाओं में इधर-उधर बिखरे उनके विचारकण कालातीत हैं । यथा—“शत्रु भावना रहित ब्राह्मण, बेईमानी रहित वणिक्, ईर्ष्या रहित प्रेमी, व्याधि रहित शरीर, अन्धकार रहित विद्वान्, अहङ्कार रहित गुणवान्, चपलता रहित नारी तथा चरित्रवान् राजपुत्र बड़ी कठिनाई से देखने में आते हैं ।”

श्री गणेश ललवानी इस पुस्तक के अनुवादक हैं । ये बहुविध विधाओं के सफल शिल्पी हैं । उन्होंने इसका बंगला भाषा में अनुवाद किया था और उसी का हिन्दी रूपान्तरण श्रीमती राजकुमारी बेगानी ने सफलता के साथ किया है । शब्दावली में कोमलकान्त पदावली और प्राञ्जलता पूर्णरूपेण समाविष्ट है । इसके सम्पादन में यह विशेष रूप से ध्यान रखा गया है कि अनुवाद कौन से पद्य से कौन से पद्य तक का है, यह संकेत प्रत्येक गद्यांश के अन्त में दिया गया है । हम श्री गणेश ललवानी और श्रीमती राजकुमारी बेगानी के अत्यन्त आभारी हैं कि इन्होंने इसके प्रकाशन का श्रेय प्राकृत-भारती को प्रदान किया और हम उनसे पूर्णरूपेण आशा करते हैं कि इसी भांति शेष ६ पर्वों का अनुवाद भी हमें शीघ्र ही प्रदान करें जिससे हम सम्पूर्ण ग्रन्थ धीरे-धीरे पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर सकें ।

पारसमल भंताली म. विनयसागर देवेन्द्रराज मेहता

अध्यक्ष

निदेशक

सचिव

श्री जैन श्वे. नाकोड़ा प्राकृत भारती अकादमी प्राकृत भारती अकादमी
पाश्र्वनाथ तीर्थ, भैरानगर जयपुर जयपुर

विषयानुक्रम

तृतीय पर्व

प्रथम सर्ग	—	भ. सम्भवनाथ का चरित	१—२६
द्वितीय सर्ग	—	भ. अभिनन्दन का चरित	२६—३६
तृतीय सर्ग	—	भ. सुमतिनाथ का चरित	३६—५२
चतुर्थ सर्ग	—	भ. पद्मप्रभ का चरित	५३—६६
पंचम सर्ग	—	भ. सुपाश्वर्चनाथ का चरित	६७—७४
षष्ठ सर्ग	—	भ. चन्द्रप्रभ का चरित	७४—८२
सप्तम सर्ग	—	भ. सविधिनाथ का चरित	८२—९२
अष्टम सर्ग	—	भ. शीतलनाथ का चरित	९२—१००

चतुर्थ पर्व

प्रथम सर्ग	—	भ. श्रेयांसनाथ एवं प्रथम—त्रिपृष्ठ वासुदेव, अचल बलदेव तथा अश्वघ्नीव प्रतिवासुदेव का चरित	१००—१५६
द्वितीय सर्ग	—	भ. वासुपूज्य और द्वितीय—द्विपृष्ठ वासुदेव, विजय बलदेव एवं तारक प्रतिवासुदेव का चरित	१५६—१७८
तृतीय सर्ग	—	भ. विमलनाथ एवं तृतीय—स्वयम्भू वासुदेव, भद्र बलदेव और मेरक प्रतिवासुदेव का चरित	१७८—१९३
चतुर्थ सर्ग	—	भ. अनन्तनाथ और चतुर्थ—पुरुषोत्तम वासुदेव, सुप्रभ बलदेव एवं मधु प्रतिवासुदेव का चरित	१९३—२१४
पंचम सर्ग	—	भ. धर्मनाथ एवं पंचम—पुरुषसिंह वासुदेव, सुदर्शन बलदेव तथा निशुम्भ प्रतिवासुदेव का चरित	२१४—२३८
षष्ठ सर्ग	—	तृतीय चक्रवर्ती मधवा का चरित	२३८—२४२
सप्तम सर्ग	—	चतुर्थ चक्रवर्ती सनत्कुमार का चरित	२४२—२६८

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितम्

श्री संभवनाथ चरित

तृतीय पर्व

प्रथम सर्ग

जो तीन लोक के नाथ है, जिनका जन्म पवित्र है, जो संसार और कर्म-बन्धनों का नाश करने वाले हैं, उन्हीं जिनेश्वर भगवान् श्री सम्भवनाथ स्वामी को नमस्कार कर भवचक्र नाशकारी भगवान् का जीवन वर्णन करता हूँ । (श्लोक १-२)

घातकी खण्ड द्वीप के ऐरावत क्षेत्र में क्षेम के निवास रूप क्षेमपुरी नामक एक प्रसिद्ध नगर था । उस नगर में जैसे मेघवाहन ही पृथ्वी पर अवतरित हुए हैं ऐसे विपुल-वाहन नामक एक सद्-विवेचक राजा थे । माली जिस प्रकार भाड़-भंखाड़ को उखाड़ कर उद्यान की रक्षा करता है उसी प्रकार वे भी प्रजा के समस्त दुःख दूर कर उसकी रक्षा करते थे । नदी जिस भांति पथिकों की क्लान्ति दूर करती है उसी प्रकार उनकी सन्नीति प्रजा को सदैव प्रफुल्लित रखती थी । उनका न्यायानुसार शासन इतना दृढ़ था कि वे स्वयं के या अन्य के द्वारा उसका व्यतिक्रम नहीं होने देते थे । वैद्य जिस प्रकार रोगी की चिकित्सा में रोग निवारण के लिए यथोचित कठोर व्यवस्था का अवलम्बन करते हैं उसी प्रकार वे अपराध के गुस्त्वानुसार अपराधी के दण्ड की व्यवस्था करते थे । जो पुण्यवान् थे, गुणानुयायी थे उन्हें पुरस्कृत भी करते थे । वास्तव में भेदकाशी के इस प्रकार भेद करने से ही श्री-वृद्धि होती है । अन्य के लिए जो मान का कारण था वह उनमें मान उत्पन्न नहीं करता । वर्षा का जल नदी की भांति समुद्र के जल की अभिवृद्धि नहीं करता ।

(श्लोक ३-१०)

जिस प्रकार मन्दिर में भगवान् का निवास रहता है उसी प्रकार उनके अन्तर में सर्वज्ञ सर्वदा निवास करते थे । जिस भांति

शास्त्रों में सर्वज्ञ का गुणगान रहता है उसी प्रकार उनकी वाणी से सर्वज्ञों का गुणगान उच्चारित होता रहता था । जबकि अन्य उनके चरणों में माथा झुकाते थे; किन्तु वे अपना मस्तक केवल अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं के चरणों में ही नत करते थे । दुःखदायी आर्तध्यान का अभाव होने के कारण वे शास्त्रों के स्वाध्याय से, अहंतों की पूजा-से, मन, वचन, काया की उत्तम अवस्था को प्राप्त हुए थे । जिस भांति वस्त्र में नील का रंग बैठ जाता है उसी भांति श्रावक के द्वादश व्रत उनके हृदय में सुदृढ़ रूप में बस गए थे । उस महामना को जिस प्रकार द्वादश राजाओं पर दृष्टि थी उसी प्रकार श्रावक धर्म पर भी थी, पवित्रमना वे धर्म बीज रूप अर्थ सर्वदा सात क्षेत्रों में यथायोग्य रूप से वपन करते थे । उनके द्वार से प्रार्थी कभी भी खाली हाथ नहीं लौटता था । समुद्रोत्थित मेघ की भांति वे ही परम करुणामय दारद्वों और अनाथ व्यक्तियों के आश्रय स्थल थे । वर्षा के जल की भांति वे दरिद्रों को धन दान करते थे । वे अहंकार से शून्य थे । अतः मेघ की भांति गरजते नहीं थे । कण्टक नाश के कुठार तुल्य व दान में कल्पतरु सम उन राजा के शासनकाल में पृथ्वी पर कोई दुःखी नहीं था ।

(श्लोक ११-१९)

एक बार उनके राज्य में दुर्भिक्ष पड़ा । भाग्य को जीतना कठिन है । वर्षा ऋतु होने पर भी आकाश श्याम वर्ण न होने से तथा वर्षा न होने पर वह वर्षा ऋतु भी ग्रीष्म की भांति दुःखदायी हो गई । प्रलयकालीन वायु की भांति नैऋत्य कोण की वायु ने प्रवाहित होकर वृक्षों को उखाड़ डाला व समस्त जलाशयों को सुखा दिया । आकाश काक के उदर की भांति पांशु वर्णयुक्त और सूर्य भालर की तरह उज्ज्वल हो गया । ग्राम और नगर के लोग शस्य के अभाव में वृक्षों की छाल, कन्द-मूल और फल खाकर संन्यासी की तरह जीवन व्यतीत करने लगे । भस्मक रोग-ग्रस्त व्यक्ति की तरह बहुत खा लेने पर भी उनकी क्षुधा जान्त नहीं होती थी । भिक्षा लेना लज्जास्पद होने के कारण लोग संन्यासी का वेष धारण कर भिक्षा लेने लगे ।

(श्लोक २०-२६)

आहार की खोज में माता-पिता-पुत्र एक दूसरे का परित्याग कर इधर-उधर घूमने लगे मानो वे राह भूल गए हों । यदि कहीं

खाने की वस्तु मिल जाती तो पिता भूखे पुत्र को रोते देखकर भी खाना नहीं देता । रास्तों पर घूमती माताएँ एक मुट्ठी मटर के दानों के लिए अपने पुत्र-पुत्रियों को उसी प्रकार बेच देते जिस प्रकार कंगाली में लड़कियाँ सूप बिक्री कर देती हैं । सुबह के समय घर के भूखे कबूतर जिस प्रकार आंगन से धान चुन-चुनकर खाते हैं उसी प्रकार क्षुधात व्यक्त धनी व्यक्तियों के आंगन से धान्य बीज चुन-चुनकर खाते थे । रोटी की दूकानों से वे कुत्ते की तरह बार-बार रोटी चुराकर ले जाने लगे । समस्त दिन भटकने के पश्चात् सन्ध्या तक किसी भी प्रकार से यदि उन्हें सामान्य-सा खाद्य-पदार्थ भी मिल जाता तो वे स्वयं को भाग्यशाली समझते । कंकाल-से भयंकर पतित मनुष्यों से नगर का राजपथ भी श्मशान-सा लगने लगा । उनकी लगातार चीत्कार मानो कर्ण-रन्ध्रों को प्रतिपल सूई झाँक रही थी ऐसी कर्णशूल हो गई थी । (श्लोक २०-३४)

इस भाँति के भयंकर दुर्भिक्ष में चतुर्विध संघ को मानो प्रलयकाल घिर आया हो इस भाँति परितप्त देखकर वे महामना राजा सोचने लगे—पृथ्वी की रक्षा करना मेरा कर्त्तव्य है; किन्तु मैं क्या करूँ ? दुःसमय शस्त्र द्वारा निवारित नहीं हो सकता । फिर भी किसी न किसी प्रकार मुझे संघ की रक्षा करनी होगी । कारण, महान् व्यक्ति के योग्य व्यक्ति की रक्षा करना सर्वप्रथम कर्त्तव्य है । (श्लोक ३५-३७)

ऐसा सोचकर राजा ने अपने रसोइयों को आज्ञा दी—‘आज से संघ के आहार के पश्चात् ही जो कुछ बचेगा मैं उसे ग्रहण करूँगा और मेरे लिए जो आहार तैयार होगा वह साधुओं को दिया जाएगा ।’ (श्लोक ३८-३९)

‘जैसी आपकी आज्ञा’ कहकर प्रधान रसोइए ने राजा की आज्ञा स्वीकार कर ली । इस आज्ञा का यथोचित रूप से पालन हो इसलिए राजा स्वयं देख-रेख करने लगे । (श्लोक ४०)

चावल जिनकी सुगन्ध पद्म सुवास-सी थी, उड़द के दानों से भी मोटे मटर, अमृत के सहोदर घृतोद समुद्र के जल से गाढ़ा विभिन्न प्रकार के सूप, तरल खाद्य, शर्करा मिश्रित मण्डक, मिठाई, सुपक्व फल, ममंराल (पापड़), घी में तली पूड़ी, चोष्य द्रव्य, तक्र, दूध, मीठा दही आदि राजा के आहार की तरह श्रावकों के आहार के लिए प्रस्तुत होने लगे । (श्लोक ४१-४५)

वे महामना राजा अपने हाथों से दोषशून्य, ऐषणीय शुद्ध आहार साधु और मुनिवरों को देने लगे । इसी भांति उस दुर्भिक्ष-काल में राजा ने सम्मान और सत्कार के साथ संध को आहार दान दिया । समग्र संध की इस सेवा और भाव उल्लास के कारण राजा ने तीर्थंकर गोत्र कर्म उपार्जन किया । (श्लोक ४६-४८)

एक दिन जबकि वे प्रासाद की छत पर बैठे हुए थे पृथ्वी के छत्र की भांति आकाश में मेघ उदित होते देखा । उस मेघ ने विद्युत् खिंचित नीलाम्बर की तरह समस्त आकाश को आवृत कर लिया इसी बीच वृक्षराजि को मूल और पाताल भित्ति से उखाड़ते हुए भयानक तूफान आया । उस तूफान से अकं के फल की तरह उस मेघ को मुहूर्त्त मात्र में छिन्न-भिन्न कर चारों ओर छितरा दिया । मुहूर्त्त भर के लिए मेघ आकाश में छाया और मुहूर्त्त भर में खो गया । यह देखकर राजा मन ही मन विचारने लगे—जिस भांति देखते-देखते मेघ उमड़ा उसी भांति देखते-देखते ही समाप्त हो गया । संसार की समस्त स्थिति ऐसी ही तो है । ये मनुष्य जो बातें कर रहे हैं, गीत गा रहे हैं, नाच रहे हैं, हँस रहे हैं, खेल रहे हैं, धनोपार्जन के लिए विविध प्रकार की चिन्ताएँ कर रहे हैं, चलते-फिरते, सोते-उठते, यान पर अवस्थान करते, क्रुद्ध व क्रोडारत, घर में या बाहर भाग्य द्वारा नियुक्त सर्प के द्वारा वे सहसा दंशित होते हैं, विद्युत्पात से मरते हैं, मदोन्मत्त हाथी के पैरों तले पिसते हैं, पुरानी प्राचीर के गिर जाने से दब जाते हैं, क्षुधात्त बाघ द्वारा भक्षित होते हैं या दुरारोग्य रोगों से आक्रान्त होकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं । जंगली घोड़ों या ऐसे ही किसी जानवर द्वारा जमीन पर पटक दिए जाते हैं, दस्यु या शत्रुओं द्वारा छुरिकाहत होते हैं, प्रदीप से लगी आग से जलकर मरते हैं या अति वर्षा के कारण नदी में आई बाढ़ में बह जाते हैं या वात, पित्त, कफ का प्रकोप उनकी देह का उत्ताप शोषण कर लेता है, अतिसार से पीड़ित होते हैं या भयंकर खांसी से अभिभूत हो जाते हैं या चर्मव्याधि से आक्रान्त होते हैं या क्षय रोगाक्रान्त होते हैं या बदहजमी से पीड़ित होते हैं, गठिया की पीड़ा से पीड़ित होते हैं, आमोशय, कोष्ठ-काठिन्य या फोड़ा-फुन्सियों से, भगन्दर से, हँफनी से, वात या यमदूत-से नाना प्रकार की व्याधियों से आक्रान्त होकर मृत्यु को प्राप्त करते हैं । (श्लोक ४९-६७)

फिर भी मनुष्य स्वयं को अमर समझकर मूर्ख पशु की भांति जीवित रहते जीवन-वृक्ष के फल की प्राप्ति का प्रयास नहीं करते । अभी मेरे भाई दरिद्र हैं, अभी सन्तानें छोटी हैं, लड़की का विवाह करना है, पुत्र की शिक्षा की व्यवस्था करनी है, अभी तो मात्र विवाह किया है, माता-पिता वृद्ध हो गए हैं, सास-श्वसुर भाग्यहीन हैं, बहन विधवा हो गई है—इसी प्रकार चिन्ता करते हैं जैसे वे चिरकाल तक उनकी रक्षा कर सकेंगे । मूर्ख मनुष्य कभी नहीं सोचते कि भव-समुद्र गले में बँधे पत्थर की तरह है ।

(श्लोक ६८-७१)

आज प्रियतमा का देह-आलिङ्गन का आनन्द प्राप्त नहीं हुआ, पिण्डक की गन्ध नहीं मिली, आज मेरी माल्य-प्राप्ति की इच्छा पूर्ण नहीं हुई, आज मनोमुग्ध कर दृश्य देखने की वासना तृप्त नहीं हुई, वेणु या वीणा के संगीत का आज मुझे आनन्द नहीं मिला, घर का भण्डार आज भरा नहीं गया, जिस पुराने गृह को तोड़ डाला है उसका निर्माण नहीं हुआ, जो अश्व खरीदे हैं उन्हें प्रशिक्षित नहीं किया गया, द्रुतगामी बलद उत्कृष्ट रथ में जोते नहीं गए हैं इस भांति मूर्ख जीवन के अन्तिम समय तक परिताप करता रहता है; किन्तु मैंने धर्माचरण नहीं किया इसका परिताप कोई नहीं करता । यहां मृत्यु सदा मुँह बाए रहती है । फिर आकस्मिक मृत्यु भी तो है । रोग हैं और अनेक दुश्चिन्ताएँ हैं । एक ओर राग-द्वेष-से शत्रु तो हैं ही दूसरी ओर प्रवृत्तियाँ जो कि युद्ध की भांति मृत्यु के कारण होती हैं । संसार जो मरुभूमि-सा है वहाँ ऐसा कुछ नहीं है जो सुख दे सके । हाय, मनुष्य, 'मैं आराम में हूँ' ऐसा सोचकर संसार से विरक्त नहीं होता । जो ऐसी धारणा में मुग्ध है सोए हुए व्यक्ति पर आक्रमण करने की तरह मृत्यु उस पर सहसा आ पड़ती है । पके अन्न की भांति धर्म-साधना इसी नश्वर देह का फल है । नश्वर शरीर से विनश्वर अवस्था प्राप्त करने की बात करना खूब सहज है; किन्तु हाय, विमुग्ध मनुष्य वह करता कहां है ? अतः अब दुविधा न कर आज से इस देह से निर्वाण रूप धन उपाजन का प्रयास करूँगा और यह राज्य-सम्पदा पुत्र को सौंप दूँगा ।

(श्लोक ७२-८३)

यह सोचकर राजा ने द्वार-रक्षक द्वारा अपने यशस्वी पुत्र

विमलकीर्ति को बुलवाया । कुमार ने आकर इस भांति करबद्ध होकर अपने पिता को प्रणाम किया जैसे किसी शक्तिशाली देव को प्रणाम कर रहे हों । प्रणाम कर विनीत भाव से बोले—

‘आप मुझे गुरुत्वपूर्ण आदेश दीजिए । यह सोचकर चिन्तित न बनें कि मैं अभी बालक हूँ । आज किस शत्रु-राज्य को जय करना है ? किस पार्वत्य राजा को पर्वत सहित मैं दमन करूँ ? जल-दुर्गवासी किस शत्रु को जल सहित विनष्ट करूँ ? जो आपको कंटक की तरह बीध रहा है, कहिए उसे तुरन्त उखाड़ दूँ ? बालक होने पर भी मैं आपका पुत्र हूँ अतः जिसे दमन करना कठिन है उसे भी दमन करने में मैं समर्थ हूँ । अवश्य ही यह क्षमता आपकी ही है, मैं तो आपका प्रतिबिम्ब हूँ ।’ (श्लोक ८४-८९)

राजा ने कहा—‘कोई भी राजा मेरे प्रति शत्रुभावपास नहीं है । कोई भी पार्वत्य राजा मेरे आदेश की अवहेलना नहीं करता । किसी भी द्वीप के राजा ने मेरे विरुद्ध आचरण नहीं किया जिसके लिए हे दीर्घबाहु पुत्र, मैं तुम्हें भेजूँ; किन्तु इस मरणशील शरीर में अवस्थान ही सर्वदा मेरी चिन्ता का कारण रहा है अतः हे कुल-भूषण, तुम इस पृथ्वी का भार ग्रहण करो । तुम इस भार को वहन करने में समर्थ हो । जिस भांति मैंने इस राज्य-भार को ग्रहण किया था उसी भांति तुम भी इसे ग्रहण करो ताकि मैं दीक्षा ग्रहण कर इस संसारी जीवन का परित्याग कर सकूँ । गुरुजनों के आदेश को अमान्य नहीं किया जाता यह समझकर अभी जो तुम्हारे लिए पालनीय है इसे अन्यथा मत करना ।’ (श्लोक ९०-९४)

कुमार सोचने लगा—‘गुरुजनों का आदेश और मेरी प्रतिज्ञा के कारण मैं इसका प्रत्युत्तर देने से वंचित हो गया हूँ ।’ राजा ने भी पुत्र का मनोभाव समझकर बड़ी धूम-धाम से स्व-हाथों से उन्हें सिंहासन पर अभिषिक्त किया । (श्लोक ९५-९६)

विमलकीर्ति द्वारा अनुष्ठित दीक्षा-पूर्व स्नानाभिषेक के पश्चात् राजा शिविका में बैठकर स्वयंप्रभसूरि के पास गए । श्रेष्ठ आचार्य से जो कुछ परित्यज्य था उसका परित्याग कर दीक्षा ग्रहण कर ली । संयम रथ पर आरुढ़ होकर आभ्यन्तरिक शत्रु के आक्रमण से उन्होंने अपने संयम रूपी राज्य की समुचित भाव से रक्षा की । बीस स्थानक और अन्य स्थानकों की आराधना कर तीर्थकर गोत्र

कर्म की और अभिवृद्धि की। परिषदों को सहन करते हुए सदैव जागृत प्रहरी की तरह उन्होंने अपना समय व्यतीत किया। अन्ततः अनशन में मृत्यु प्राप्त कर उन्होंने आनत नामक स्वर्ग की प्राप्ति की। सामान्य दीक्षा परिणाम में निर्वाण रूप फल प्रदान करने वाली सिद्ध हुई। (श्लोक ९७-१०२)

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के अलंकार रूप श्रावस्ती नामक एक समृद्धिशाली नगरी थी। शत्रुओं को जय करने के कारण जिनका जितारि नाम सार्थक था ऐसे राजा वहाँ राज्य करते थे। वे इक्ष्वाकु कुल की क्षीर समुद्र के लिए चन्द्र-तुल्य थे। वन्य-पशुओं में जिस प्रकार सिंह और पक्षियों में बाज है उसी प्रकार राजाओं में उनके समकक्ष या उनसे अधिक कोई नहीं था। कक्ष पथ में प्रवेशकारी ग्रह सहित चन्द्र की तरह राजा अपने सेवाकारी राजन्य के मध्य शोभित होते थे। जो धर्म-संगत नहीं हो ऐसा वे कदापि न बोलते थे, न करते थे, न सोचते थे। वे साक्षात् धर्म रूप ही थे।

(श्लोक १०३-१०७)

राजा के रूप में वे अपराधी को दण्ड और दरिद्रों को धन देने के लिए थे; किन्तु उनके राज्य में न कोई अपराधी था न दरिद्र। वे हाथ में अस्त्र धारण मात्र करते थे; परन्तु वे परम कारुणिक, समर्थ और सहिष्णु, ज्ञानी और छल-कपट रहित थे। वे यौवन सम्पन्न थे; किन्तु इन्द्रिय नियग्रह में सक्षम थे। उनकी प्रधान पटरानी सेना का नाम भी सार्थक था। वे थीं धर्म रूप सेना की सेनापति, सौन्दर्य की आकर। संसारी जीवों की किसी भी प्रकार की हिंसा न कर चन्द्र जैसे रोहिणी के साथ क्रीड़ा करता है राजा भी उसी प्रकार उनके साथ क्रीड़ा करते थे। (श्लोक १०८-१११)

राजा विपुलवाहन का जीव आनत नामक स्वर्ग का आयुष्य पूर्ण कर वहाँ से च्युत होकर फाल्गुन मास की शुक्ल पक्ष की अष्टमी को चन्द्र जब मृगशिरा पर अवस्थित था महारानी सेना के गर्भ में प्रवेश किया। मुहूर्त मात्र के लिए नारकी जीवों ने भी उस समय आनन्द की अनुभूति की एवं तीनों लोक में विद्युत् आलोक-सा एक आलोक व्याप्त हो गया। (श्लोक ११२-११४)

निद्रित अवस्था में रानी सेना देवी ने रात्रि के शेष भाग में चौदह स्वप्नों को अपने कमल तुल्य मुख में प्रवेश करते देखा।

यथा—शरद् के शुभ्र मेघ-सा मदोन्मत्त हाथी, स्फटिक शिला-से विद्युत् धवल वृष, सघन केशरयुक्त केशरी सिंह, युग्म हस्तियों द्वारा अभिषिक्त श्री देवी, सान्ध्यमेघ की शोभा को हरने वाली पंचवर्णीय पुष्पों से गुंथी माला, दर्पण-सा रूपहला पूर्ण चन्द्र, तिमिर हरण-कारी सूर्य जिसके द्वारा दूर होता है अंधकार, घुंघरू लगे और पताका से सुशोभित होता ध्वज-दण्ड, कमल द्वारा आच्छादित स्वर्ण-कुम्भ, कमल द्वारा शोभित प्रफुल्लित सरोवर, हस्त प्रमाण तरंगों से उल्लसित क्षीर-समुद्र, रत्ननिर्मित प्रासाद, जिसे पहले किसी ने न देखा हो ऐसा नागों द्वारा रक्षित रत्न-तुल्य रत्न-राशि, प्रभात सूर्य-सी निर्धूम अग्नि-शिखा । (श्लोक ११५-१२२)

जागृत होकर रानी ने उन स्वप्नों का विवरण राजा को बताया । राजा बोले—‘इससे लगता है तुम त्रिलोक बन्दनीय पुत्र को जन्म दोगी ।’ (श्लोक १२३)

सिंहासन कम्पित होने पर इन्द्र वहां आए और सेनादेवी को स्वप्नों का अर्थ बताया । बोले—‘हे देवी, इस अवसर्पिणी के तीसरे तीर्थङ्कर आपके पुत्र रूप में जन्म लेंगे ।’ स्वप्न-अर्थ को सुनकर जिस प्रकार मेघ घोष से मयूर आनन्दित हो जाता है उसी प्रकार आनन्दित हो उठीं महारानी सेना । उन्होंने शेष रात्रि जागृत रह कर ही अतिवाहित की । (श्लोक १२४-१२६)

रत्न खान की मिट्टी जिस प्रकार हीरों को वहन करती है, आलोक वर्तिका अग्नि को, उसी भांति सेनादेवी अपने पवित्र गर्भ को वहन कर रही थीं । गंगा-जल में जिस प्रकार स्वर्ण कमल वर्द्धित होता है उसी भांति गर्भ में वह भ्रूण वर्द्धित होने लगा । रानी की आंखें ईषत् लाल हो उठीं । शरद् ऋतु के प्रभात से सरोवर का कमल जिस प्रकार देखने में सुन्दर होता है उसी प्रकार भ्रूण के प्रभाव से रानी का सौन्दर्य, स्तनों का विस्तार और गति की मृदुता दिनोंदिन वृद्धिगत होने लगी । (श्लोक १२७-१३०)

आकाश जिस प्रकार लोक-आनन्द के लिए मेघ को धारण करता है उसी प्रकार उन्होंने भी फाल्गुन मास की शुक्ल अष्टमी को गर्भ धारण किया और नौ मास साढ़े सात दिन व्यतीत होने पर अग्रहण शुक्ला चतुर्दशी को जब चन्द्रमा मृगशिरा नक्षत्र पर अवस्थित था सहज भाव से एक पुत्र को जन्म दिया । शिशु-जन्म

के पश्चात् रक्तशरित नहीं हुआ । जातक का रंग था सूर्योदयकालीन पूर्व के आकाश-सा स्वर्णिम । उस समय अन्धकार को नष्ट करने वाला एक आलोक मुहूर्त मात्र के लिए तीनों लोक में व्याप्त हो गया और एक मुहूर्त के लिए नारकी जीव भी आनन्दित हुए । ग्रह-समूह उस समय उच्च स्थान पर था, आकाश प्रसन्न था । मृदु-मन्द वायु प्रवाहित हो रही थी । मनुष्यों ने आनन्दोत्सव मनाया । नभ से बरसा सुगन्धित जल । आकाश में हुआ दुन्दुभिनाद । हवा ने अपसारित कर दिया धूलि कणों को । पृथ्वी उच्छ्वसित हो उठी । (श्लोक १३१-१३६)

अधोलोक से भोगंकरा आदि आठ दिक्कुमारियां अवधि-ज्ञान से अर्हत् का जन्म अवगत कर वहां उपस्थित हुईं । उन्होंने जिन और जिन-माता को तीन बार प्रदक्षिणा देकर नमस्कार किया एवं अपने आगमन को जापित किया । साथ ही साथ यह भी कहा—‘आप भयभीत न हों ।’ तदुपरान्त उन्होंने ईशान कोण में जाकर वैक्रिय समुद्धात से संवतं नामक वायु प्रवाहित कर सूतिकागृह के चारों ओर एक योजन पर्यन्त भूमि को कंदम और कंकर रहित किया । तत्पश्चात् जिन भगवान् को नमस्कार कर उनके निकट बैठीं और परिवार के सदस्यों की भांति उनका गुणगान करने लगीं । (श्लोक १३७-१४०)

इसके बाद उर्ध्वलोक से मेघंकरा आदि आठ दिक्कुमारियां भी पूर्वानुरूप वहां आईं और जिन एवं जिनमाता को नमस्कार किया । उन्होंने मेघ का सर्जन कर सुगन्धित जल की वर्षा की और सूतिकागृह के चारों ओर एक योजन पर्यन्त धूल को नष्ट कर डाला । घुटनों तक पंचवर्णीय पुष्पों की वर्षा कर जिन भगवान् को नमस्कार किया और उनका गुणगान करते हुए यथास्थान जाकर खड़ी हो गईं । (श्लोक १४१-१४३)

पूर्व रुचकाद्रि से नन्दोत्तरा आदि आठ दिक्कुमारियों ने पूर्वानुरूप आकर जिन और जिनमाता को नमस्कार किया और हाथ में दर्पण लेकर गीत गाने लगीं । दक्षिण रुचकाद्रि से समाहारा आदि आठ दिक्कुमारियां भी पूर्वानुरूप आकर जिन और जिन-माता को नमस्कार कर दाहिने हाथ में स्वर्णकलश लेकर दक्षिण दिशा में खड़ी हो गईं । पश्चिम रुचकाद्रि से इला आदि आठ

दिक्कुमारियां आईं और जिन एवं जिनमाता को नमस्कार कर हाथ में पंखा लेकर पीछे की ओर जाकर खड़ी हो गईं । उत्तर रुचकाद्रि से अलम्बषा आदि आठ दिक्कुमारियां आईं और जिन एवं जिनमाता को नमस्कार कर हाथ में चंवर लेकर गीत गाती हुई आईं और जाकर खड़ी हो गईं । विदिशा के रुचक पर्वत से चित्रा आदि चार दिक्कुमारियां आईं और पूर्वानुसार जिन एवं जिनमाता को नमस्कार कर हाथों में दीप लेकर गीत गाती हुई विदिशा में जाकर खड़ी हो गईं । (श्लोक १४४-१४८)

रुचक द्वीप से रूपादि चार दिक्कुमारियां वहां आईं, उन्होंने भगवान् की नाड़ीनाल चार अंगुल परिमित रखकर काटो और उसको रत्न की तरह धरती में खड़ा खोदकर गाड़ दिया । हीरे और रत्नों से उस खड्डे को बन्द कर ऊपर दूर्वाधास से आच्छादित कर दिया । तदुपरान्त पश्चिम दिशा को छोड़कर भगवान् के जन्मगृह के तीनों ओर चार कक्षयुक्त कदलीगृह का निर्माण किया । बाद में जिनेश्वर को हाथ में लेकर एवं जिनमाता को हाथ का सहारा देकर दक्षिण के चतुःप्रकोष्ठ कदलीगृह में ले जाकर एक सिंहासन पर बैठाया । सुवासित लक्षपाक तेल दोनों की देह पर मर्दन किया और सुगन्धित उबटन लगाया । तदुपरान्त पूर्व दिशा के कदलीगृह में ले जाकर सिंहासन पर बैठाया और स्नान कराया । देवदुष्य वस्त्र से देह पोछकर गोशीर्ष चन्दन-रस से चर्चित किया और दोनों को दिव्य वस्त्र एवं अलंकारों से विभूषित किया । तत्पश्चात् उत्तर दिशा के कदलीगृह में ले जाकर रत्नजड़ित सिंहासन पर बैठाया । वहां आभियोगिक देवों द्वारा गोशीर्ष चन्दन का काष्ठ मँगवाया । अरणी के दो खण्ड लेकर अग्नि प्रज्वलित कर होम करने के लिए गोशीर्ष काष्ठ के टुकड़ों से हवन किया । हवन की समाप्ति पर भस्मावशेष को वस्त्र-खण्ड में बांधकर दोनों के हाथों में बांध दिया । भगवान् के कान में 'तुम पर्वत तुल्य आयुष्मान बनो' कहकर दो प्रस्तर गोलक ठोके । तदुपरान्त माता और बालक को शय्या पर सुलाकर मंगल-गीत गाने लगीं । (श्लोक १४९-१६०)

भगवान् के चरण-कमलों में जाने के लिए मानो इन्द्रासन कांप उठा । अवधिज्ञान से तीर्थङ्कर का जन्म अवगत कर शक्र ने सिंहासन का परित्याग किया । सात-आठ कदम तीर्थङ्कर की ओर

अग्रसर होकर उन्हें वन्दना की । शक्र के सेनापति ने घण्टा बजाया । तीर्थङ्कर भगवान् के स्नानाभिषेक के लिए उत्सुक देव उनके निकट आकर खड़े हो गए । (श्लोक १६१-१६३)

शक्र देवताओं सहित पालक विमान पर चढ़े और नन्दीश्वर होते हुए जिनेश्वर के आवास पर आए । विमान में बैठे हुए ही तीर्थङ्कर के जन्मगृह के चारों ओर परिक्रमा देकर, विमान को ईशान कोण में रखकर वे विमान से बाहर आए । तदुपरान्त सूतिकागृह में गए और भगवान् को देखते ही उन्हें प्रणाम किया । तीर्थङ्कर और उनकी माता को तीन प्रदक्षिणा देकर भूमि-स्पर्श पूर्वक उन्हें पुनःपंचांग प्रणाम किया । माता को अवस्वापिनी निद्रा से निद्रित कर उनके पास तीर्थङ्कर का एक प्रतिरूप रखकर स्वयं पांच रूप धारण किए । फिर एक रूप से उन्होंने उसे हाथों में लिया, दूसरे रूप से छत्र धारण किया, चण्ड दो छत्रों से चँदुर धारण किया और शेष एक रूप से वज्र हाथ में लेकर उनके आगे-आगे चले । तदुपरान्त जय-जय शब्द से आकाश गुञ्जित कर देवताओं द्वारा परिवृत्त होकर वे एक मुहूर्त में मेरुपर्वत पर पहुँच गए । वहाँ अतिपाण्डुकवला शिला पर शक्र त्रिभुवनपति को गोद में लेकर रत्न-सिंहासन पर बैठ गए । (श्लोक १६४-१७१)

सिंहासन कम्पित होने से अच्युतेन्द्र ने अवधिज्ञान का प्रयोग किया और अनुरूप भाव से प्राणत सहस्रार, महाशुक्र, लान्तक, ब्रह्मा, महेन्द्र, सनत्कुमार, ईशान, चमर, बलि, धरण, भूतानन्द, हरि, हरिष, वेणुदेव, वेणुदारी, अग्निशिख, अग्निमानव, वेलम्भ, प्रभंजन, सुघोष, महाघोष, जलकान्त, जलप्रभ, पूर्ण, अवशिष्ट, अमित, अमितवाहन, काल, महाकाल, सुरूप प्रतिरूपक, पूर्णभद्र, मणिभद्र भीम, महाभीम, किन्नर, किंपुरुष, सत्पुरुष, महापुरुष, अतिकाय, महाकाय, गीतरति, गीतयश, सन्निहित, समानक, धातृ, विघातृ, ऋषि, ऋषिपालक, ईश्वर, महेश्वर, सुवत्सक, विशालक, हास, हासरति, श्वेत, महाश्वेत, पावक, पावकगति, सूर्य, चन्द्र ये त्रैसठ इन्द्र परिजन सहित आडम्बरपूर्वक इस भांति मेरुपर्वत पर तीर्थंकर के जन्माभिषेक के लिए उपस्थित हुए मानो प्रतिवेशी के घर से आए हों । (श्लोक १७२-१८२)

अच्युतेन्द्र के आदेश से आभियोगिक देव, सुवर्ण के, रजत के,

रत्नों के, सुवर्ण और रजत के, सुवर्ण और रत्न के, रजत और रत्न के, सुवर्ण रजत और रत्न के, ऐसे ही मिट्टी के इस भांति आठ रकम के प्रत्येक प्रकार के एक हजार आठ सुन्दर कलशों का निर्माण किया। कलशों की संख्या के अनुपात में आठ प्रकार के पदार्थों की भारी, दर्पण, रत्न करण्डिका, सुप्रतिष्ठक, थाल, राचिका व पुष्पों की डाली का निर्माण किया। तत्पश्चात् देव क्षीरसमुद्रादि समुद्र और तीर्थादि से जल और आनन्दित करने के लिए मिट्टी और कमल तोड़कर ले आए; क्षुद्र हिमवत से औषधि, भद्रशाल से केशर एवं अन्य सुगन्धित द्रव्य ले आए। उन सभी सुगन्धित द्रव्यों को भक्तिवश तत्क्षण जल में डालकर तीर्थजल को सुवासित किया।

(श्लोक १८३-१८८)

देवताओं द्वारा प्रदत्त कलशों से और प्रवाल वृक्ष के पुष्पों से अच्युतेन्द्र ने प्रभु को स्नान कराया। जिस समय वे प्रभु को स्नान करा रहे थे आनन्द भरे देवगणों में कोई गाने लगा, कोई नृत्य करने लगा, कोई कीतुक अभिनय करने लगा। तदुपरान्त आरण्य और अच्युतेन्द्र देव ने भक्ति भाव से प्रभु की देह को पोंछकर दिव्य गन्ध द्रव्य का लेपन किया एवं अपना भक्ति भाव निवेदित किया। शक्र के पश्चात् अन्य बासठ इन्द्रों ने भक्ति भाव सहित प्रभु को स्नान कराया। पृथ्वी को पवित्र करने का यही तो एक मात्र साधन है।

(श्लोक १८९-१९२)

शक्र की भांति ईशानेन्द्र ने भी पांच रूप धारण किए। एक रूप से उन्होंने प्रभु को गोद में लिया, दूसरे रूप में छत्र धारण किया। अन्य दो रूपों से चँवर हाथ में लिया और शेष एक रूप में प्रभु के सम्मुख खड़े हो गए। भक्ति में प्रीति शक्र ने प्रभु के चारों ओर दीर्घ शृङ्ग विशिष्ट चार स्फटिक मणि के वृषभ तैयार करवाए। उनके शृङ्गों से जलधारा ऊपर की ओर उठने लगी। मूल में पृथक्-पृथक्; किन्तु ऊपर जाकर वे एक साथ मिलकर प्रभु पर बरसने लगी। इस भांति सौधर्म कल्प के इन्द्र ने अत्यधिक भक्तिवश प्रभु का स्नानाभिषेक कराया जो कि अन्यान्य इन्द्रों से विशिष्ट था। तदुपरान्त उन चारों वृषभों को नष्ट कर शक्र ने प्रभु की देह पर अङ्गराग किया और पूजा कर भक्ति भाव से आनन्दमना बने इस प्रकार स्तुति करने लगे—‘हे त्रिलोकीनाथ, तीनों लोक के

रक्षक तृतीय तीर्थंकर, मैं आपको नमस्कार करता हूँ। असाधारण शक्ति के कारण आप साधारण भूतल से शिवा हैं। तुज्जन्म से ही आप तीन ज्ञान और अनेक शक्तियों के अधिकारी हैं। आपकी देह पर एक हजार आठ शुभचिह्न हैं। आपका यह जन्म-कल्याणक उत्सव सदा निद्रित के निद्रा विनाशकारी मुक्त जैसे के लिए सुख का सूचक है। हे त्रिजगत्पति, आज भी यह सम्पूर्ण रात्रि अभिनन्दनीय है क्योंकि आज रात्रि में कलंकहीन चन्द्र-से आपने जन्म ग्रहण किया है। हे भगवन्, आपकी वन्दना के लिए आने-जाने वाले देवों के कारण यह पृथ्वी भी स्वर्ग में परिणत हो गई है। आज से देवों को किसी अन्य मदिरा की आवश्यकता नहीं है। आपकी दर्शन रूपी मदिरा को पान कर उनका चित्त पूर्ण हो गया है। हे भगवन्, भरत क्षेत्र के श्रेष्ठ सरोवर में उत्पन्न कमल-तुल्य आप-से भ्रमर की भांति मैं परमतृप्ति को प्राप्त करूँ। मृत्यु-त्रोक के ये अधिवासी भी धन्य हैं जो सर्वदा आपके दर्शनों का सुख प्राप्त करते हैं। हे भगवन्, आपको देखने का सौभाग्य स्वर्ग के राज्य से भी बढ़कर है।' (श्लोक १९३-२०५)

इस प्रकार प्रभु की स्तुति कर शक्र ने पुनः पांच रूप धारण किए। एक रूप से प्रभु को ग्रहण किया एवं अन्य चार रूपों से पूर्व की ही भांति छत्रादि धारण किए। मुहूर्तमात्र में वस्त्रालंकारों से भूषित प्रभु को माता सेनादेवी के पास सुला दिया और श्रीदाम गण्डक चंदोवे में लटका दिया। एक जोड़ी अंगद, दो दिव्य वस्त्र उन्होंने तकिए पर रख दिए। तत्पश्चात् सेनादेवी पर प्रयुक्त अवस्वापिनी निद्रा और तीर्थंकर के प्रतिबिम्ब को उठा लिया। तदुपरान्त शक्र ने अभियोगिक देवों द्वारा अपनी आज्ञा वैमानिक भवनपति व्यन्तर और ज्योतिष्क इन चारों निकाय के देवों में घोषित करवा दी कि जो प्रभु और प्रभु की माता का अनिष्ट करने की इच्छा करेगा उसका मस्तक सात खण्ड होकर फूट जाएगा। बाद में उन्होंने प्रभु के अंगुष्ठ में अमृत भर दिया। कारण, अर्हत् स्तन-पान नहीं करते। जब उन्हें भूख लगती है वे अपना अंगुष्ठ चूसते हैं। इसके बाद पांच अप्सराओं को धाय माता के रूप में नियुक्त कर अर्हत् की वन्दना की और वहां से प्रस्थान किया। अन्य इन्द्र मेरुपर्वत से ही नन्दीश्वर द्वीप चले गए। वहां शाश्वत अर्हत्

प्रतिमाओं का अष्टाह्निका उत्सव कर सकल सुरासुर स्व-स्व निवास स्थान को चले गए । (श्लोक २०६-२१४)

सुबह होने पर राजा जितारी ने स्व-पुत्र रूप में जन्में अर्हत् का स्नानाभिषेक महाधूमधाम से सम्पन्न किया । जिस भांति राज-गृह में उत्सव अनुष्ठित हुआ उसी प्रकार प्रकार प्रत्येक घर में, प्रत्येक पथ में, प्रत्येक बाजार में, समग्र नगरी में अनुष्ठित हुआ । वे जल गर्भ में थे तब प्रभूत धान्य उत्पन्न हुआ था (सम्भूत) और जन्म समय द्वितीय कर्पण (सम्वा) सम्पन्न हुआ अतः उन्होंने पुत्र का नाम रखा सम्भव । (श्लोक २१५-२१७)

राजा ने त्रिलोकपति पुत्र का बार-बार मुख देखा । ऐसा लगा—मानो वे अमृत सागर में निमज्जित हुए जा रहे हैं । राजा बहुमूल्य रत्न की भांति त्रिलोकपति को कभी क्रीड़ा में, कभी वक्ष पर, कभी सिर पर धारण कर स्पर्शसुख का अनुभव करते हैं । शक्र द्वारा नियोजित पाँचों घात्रियाँ अधिकाधिक भक्ति के कारण देह की काया की तरह कभी उनका परित्याग नहीं करती; किन्तु वे उनकी गोद से उतरकर सिंह-शावक की तरह भयहीन होकर उधर-उधर विचरण करते और उन्हें सिंहनी की भांति उद्विग्न कर देते । यद्यपि वे तीन ज्ञान के धारक थे फिर भी वे मणि कुट्टिम प्रति-बिम्बित चन्द्र को पकड़ने के लिए बाल्य-क्रीड़ाएँ करते ।

(श्लोक २१८-२२२)

उनका साहचर्य पाने के लिए आए मानव रूपधारी देवकुमारों के साथ वे क्रीड़ा करते । देवों के सिवाय उनसे क्रीड़ा करने में भला कौन समर्थ है ? महावत जैसे हस्ती के सम्मुख पीठ कर दौड़ता है उसी प्रकार देव भी खेल ही खेल में उनकी तरफ पीठ कर दौड़ते । खेल के बहाने से जब वे जमीन पर गिरकर बचाओ-बचाओ करते तब प्रभु अवस्थानुसार उन पर करुणा वर्षण करते । चन्द्रमा जिस प्रकार रात्रि का प्रथम भाग व्यतीत करता है उसी प्रकार उन्होंने खेल-कूद में बाल्यकाल व्यतीत किया ।

(श्लोक २२३-२२६)

चार सौ धनुष दीर्घ स्वर्ण वर्ण वाले भगवान् ऐसे लगते थे मानो मनुष्यों को आनन्दित करने के लिए मेरु ने ही मनुष्य रूप धारण कर लिया है । (श्लोक २२७)

वे छत्र की तरह सिर पर उष्णीष धारण करते थे। उनके केश थे घने, काले और मसृण। ललाट का सौन्दर्य चन्द्रमा का-सा था। नेत्र थे आकर्ण विस्तृत, कर्ण स्कन्धस्पर्शी। उनके वृष से स्कन्ध, दीर्घ बाहु, प्रशस्त वक्ष, केशरी-से क्षीण कटि, गज-सुण्ड-सी जंघाएँ व पैर हरिण-से थे। घुटने छोटे, चरण कच्छप पृष्ठ से मसृण और तोरणाकृति, अंगुलियाँ सीधी, रोम अलग-अलग, परिपूर्ण, काले, नरम और स्निग्ध, श्वांस पद्मगन्धवाही, सर्व प्रकार की अपवित्रता से सर्वथा मुक्त। स्वभाव से उनका शरीर ऐसा था कि वे शरद् के पूर्ण चन्द्रमा की तरह सर्वदा अस्वाभाविक रूप से तरुण हैं—ऐसे प्रतीत होते थे। (श्लोक २२८-२३२)

एक दिन उनके माता-पिता ने अपनी साध पूर्ण करने के लिए देव-कन्या-सी राजकुमारियों के साथ विवाह के लिए प्रस्ताव रखा। भोगकर्म अभी अवशेष हैं, देखकर एवं माता-पिता के आदेश को समझकर उन महामना ने विवाह की स्वीकृति दे दी। शक्र की उपस्थिति में राजा जितारि ने सम्भवकुमार का विवाहोत्सव सम्पन्न किया। इस उत्सव में हा-हा-हू-हू ने मधुर संगीत परिवेशित किया, गन्धर्वों ने मन्द्रित स्वर में वाद्य-वादन किया, रम्भा, तिलोत्तमा आदि अप्सराओं ने नृत्य किया एवं उच्चकुलजात रमणियों ने मंगल गीत गाए। विवाहोपरान्त कभी नन्दन-वन-से श्रेणीबद्ध उद्यानों में, कभी रत्नगिरि-से क्रीड़ा-पर्वतों पर, कभी सुधा समुद्र-से स्निग्ध सरोवरों में, देव-विमानों-से चित्रगृह में, यूयपति हस्ती की भाँति सम्भव स्वामी हजारों तरुणी और विचक्षण रमणियों के साथ क्रीड़ा करने लगे। इस प्रकार सांसारिक सुखों को भोगते हुए उन्होंने पन्द्रह लाख पूर्व वर्ष व्यतीत कर लिए। (श्लोक २३३-२४१)

संसार से वैराग्य उत्पन्न होने पर राजा जितारि ने सम्भव स्वामी की सम्मति लेकर उन्हें अंगूठी के हीरे की तरह सिंहासन पर सस्थापित किया। तदुपरान्त उपयुक्त गुरु से दीक्षा लेकर राजा ने अपनी मनोकामना पूर्ण की। पिता से राज्य ग्रहण कर सम्भव स्वामी ने उद्दण्ड प्रताप से माला की भाँति पृथ्वी की रक्षा की। आपके प्रताप से प्रजा निरुपद्रव एवं व्याधिरहित होकर सुख से जीवन व्यतीत करने लगी। जबकि सम्भव ने अपनी भीहों को भी कुंचित नहीं किया तो प्रत्यंचा कुंचित करने का तो प्रश्न ही नहीं

उठता । भोग कर्मों को क्षयकर प्रभु ने ४४ लाख पूर्व और ४ पूर्वांग राजा रूप में व्यतीत किए । तत्पश्चात् तीन ज्ञान के धारी स्वयंबुद्ध प्रभु संसार की क्षणभंगुरता के विषय में इस भांति विचारने लगे :

(श्लोक २४२-२४८)

विषाक्त खाद्य की भांति इन्द्रियों के विषयों के उपभोग क्षण सुखदायी होते हैं; किन्तु परिणाम में अनिष्टकारी है । लवणाक्त भू-भाग में जिस प्रकार मीठा जल पाना दुष्कर है उसी प्रकार इस भव-सागर में मनुष्य जन्म पाना भी दुष्कर है । जब मनुष्य जन्म मिला है तो उसे अमृत रस में पांव धोने की भांति व्यर्थ होने देना उचित नहीं है ।

(श्लोक २४९-२५०)

जब प्रभु इस प्रकार चिन्तन कर रहे थे तभी लोकान्तिक देवों ने आकर उनसे निवेदन किया—‘भगवन्, तीर्थ की स्थापना करिए ।’ देवों के चले जाने के पश्चात् भगवान् संवत्सरी दान देने को प्रस्तुत हुए । इन्द्र के आदेश से कुबेर द्वारा प्रेषित जृम्भक देवगणों ने जिस धन के अधिकारी मर चुके हैं, जो अज्ञात गिरि-कन्दराओं में या समाधिस्थानों में गड़े हुए हैं, वरों में लुकाए हुए हैं, बहुत दिनों से खोए हुए हैं, ऐसे धन लाकर श्रावस्ती के चौराहों पर, तिराहों पर एवं अन्य स्थानों पर स्तूपीकृत पहाड़ की भांति धर दिए । सम्भव स्वामी ने श्रावस्ती में घोषणा करवा दी कि जिसको जितना धन चाहिए वह उतना मुझसे आकर ले जाए । स्वामी प्रतिदिन एक करोड़ आठ लाख सुवर्ण दान करते थे । जिस समय अर्हत् प्रभु ने दान दिया उस समय जितने याचक उपस्थित थे उन्हें एक वर्ष तक ३८८ कोटि ८० लाख सुवर्ण दान दिया ।

(श्लोक २५१-२५९)

वर्ष के अन्त होते ही इन्द्र का आसन कम्पायमान हुआ । वे सपरिवार एवं अनुचरों सहित स्वामी के घर उपस्थित हुए । विमान में अवस्थित रहकर उन्होंने तीन बार प्रभुगृह की प्रदक्षिणा दी फिर विमान से बाहर आए । उनके चरण भूमि से चार अंगुल ऊपर थे । समस्त इन्द्रों ने त्रिलोकपति को प्रदक्षिणा देकर भक्ति-भाव से वन्दन किया । स्नानाभिषेक की भांति आभियोगिक देवों द्वारा लाए तीर्थ-जल से अच्युतेन्द्र ने प्रभु का स्नानाभिषेक किया । भक्ति में विज्ञ अन्य इन्द्रों ने भी उसी प्रकार प्रभु का स्नानाभिषेक किया । तत्पश्चात् सुरेन्द्रों की तरह असुरेन्द्रों ने भी सुवासित जल

से सम्भव स्वामी को स्नान कराया । सुवर्ण दर्पण-सी देवाधिदेव प्रभु की सित्त देह को देवों ने देवदुष्य वस्त्र से पोछा । भक्ति भरे देवों ने गो-शीर्ष चन्दन का उनके शरीर पर लेपन किया और सूक्ष्म परिधान एवं अलंकारों से उन्हें विभूषित किया । प्रभु को देवों ने पृथ्वी के सर्वस्व रूप हीरों का किरीट पहनाया व कानों में कर्णाभरण । देखकर लगा जैसे वे मेघमुक्ता द्वारा निर्मित हों । गले में मोती की लड़ियों का हार पहनाया जो कि निहार पर्वत से गिरती गङ्गा-सा लग रहा था । हाथों में अङ्गद पहनाए । वे सूर्य और नक्षत्रों द्वारा बने हों ऐसे लग रहे थे । पावों में जो नूपुर पहनाए उन्हें देखकर ऐसा लगा जैसे पद्मनाल को बलयाकृत कर दिया गया है । राजाओं ने तब सिंहासन और पादपीठ सह एक शिविका उनके लिए निर्मित करवाई जिसका नाम रखा सिद्धार्थ । अच्युतेन्द्र ने भी आभियोगिक देवों द्वारा एक शिविका का निर्माण करवाया जो देखने में वैमानिक देवों के इन्द्र-विमान-सा था । अच्युतेन्द्र ने तब स्व-निर्मित शिविका को राजाओं द्वारा निर्मित शिविका में इस भांति स्थापित करवा दी जिस प्रकार चंदन-काष्ठ में अगुरु संस्थापित होता है । हंस जिस तरह पद्म पर आरोहण करता है वैसे ही सम्भव स्वामी भी देवों की सहायता से शिविकास्थित सिंहासन पर आरोढ़ हुए । रथ के अश्वों की भांति शिविका का अग्रभाग नरेन्द्रों ने उठाया, घनवात जिस प्रकार पृथ्वी को धारण करती है उसी प्रकार पीछे का भाग देवेन्द्रों ने उठाया । (श्लोक २६०-२७५)

मेघ की भांति चहुँ ओर वादित्र बजने लगे, गन्धर्वगण कानों को अमृत-तुल्य लगे ऐसे गीत गाने लगे, अप्सराएँ विभिन्न अङ्ग-भङ्गिमा में नृत्य करने लगीं, चारण आवृत्ति करने लगे, ब्राह्मण मन्त्र-पाठ करने लगे, कुलवृद्धाएँ मांगलिक गान गाने लगीं और अभिरमणियाँ भी गीत गाने लगीं । देवगण आगे-पीछे और दोनों पार्श्व में अश्व की भांति दौड़ने लगे । पद-पद पर नागरिकों का अभिनन्दन ग्रहण करते और अपनी अमृत तुल्य दृष्टि से पृथ्वी को आनन्दित करते हुए प्रभु उदार दृष्टि से चारों ओर देखने लगे । देव उन्हें चँवर बीज रहे थे, देव उनका छत्र पकड़े हुए थे । इस प्रकार स्वामी श्रावस्ती नगरी के सहस्रात्र वन में पहुंचे ।

(श्लोक २७६-२८१)

आहार-ग्रहण के लिए जिस प्रकार मयूर वृक्ष से नीचे उतरता है उसी प्रकार जगद्गुरु रत्न-जड़ित शिविका से नीचे उतरे। फिर शरीर पर धारण की हुई समस्त मालाएँ और अलङ्कारों को उतार दिया। तभी इन्द्र ने उनके कन्धे पर देवदुग्ध वस्त्र रखा। अग्रहण मास की पूर्णिमा को चन्द्र जब मृगशिरा नक्षत्र में था तब दिवस के अन्तिम प्रहर में प्रभु ने दो दिनों के उपवास के पश्चात् पूर्वार्जित आस्रव की तरह मस्तक के केशों को उत्पाटित किया। उन केशों को इन्द्र ने अपने उत्तरीय में ग्रहण किया और तत्क्षण यज्ञावशेष की तरह उन्हें क्षीर-समुद्र में निक्षेप कर दिया। द्वार-रक्षक की भांति उन्होंने हाथ के इशारे से देव, असुर व मनुष्यों द्वारा होने वाले शब्दों को बन्द करवा दिया। (श्लोक २८२-२८७)

‘मैं समस्त प्रकार के सावद्य कर्मों का परित्याग करता हूँ’ कहकर सम्भव स्वामी ने देवादि सभी के सम्मुख चारित्र्य ग्रहण कर लिया। तभी उन्हें केवलज्ञान की अमानत की भांति मनःपर्याय ज्ञान उत्पन्न हुआ। उस समय नरकाग्नि में सर्वदा दुःख भोग करने वाले नारकी जीवों को भी मुहूर्त भर के लिए शान्ति प्राप्त हुई। एक हजार राजाओं ने अपने राज्य को तृणवत् त्याग कर प्रभु के साथ दीक्षा ग्रहण कर ली। (श्लोक २८८-२९१)

तब इन्द्र ने करबद्ध होकर उनकी वन्दना की और भक्तिप्लुत कण्ठ से उनकी स्तुति करने लगे—

‘हे चार ज्ञान के धारी, चार प्रकार के धर्म के प्रवर्तक, चार प्रकार की गतियों के जीवों को आनन्द प्रदानकारी, आपकी जय हो। हे तीर्थपति, हे त्रिलोकनाथ, भरत क्षेत्र के जिन-जिन स्थानों पर जङ्गम तीर्थ की भांति आप विचरण करेंगे वे सभी स्वान्धन्य हैं। आप इस पार्थिव देह में रहते हुए भी पार्थिव देह से अस्पृष्ट हैं। कीचड़ में उत्पन्न होने पर भी कमल कभी कर्दम-लिप्त नहीं होता। आपके चार महाव्रत, जो तलवार की भांति कर्म का छेदन करते हैं, उनकी जय हो। यद्यपि आप अनुराग-मुक्त हैं, फिर भी आप अनुकम्पामय हैं, यद्यपि परिग्रहहीन हैं, फिर भी अनन्त शक्ति के अधिकारी हैं, यद्यपि पराक्रमशाली हैं, फिर भी सर्वदा शान्त हैं, यद्यपि साहसी हैं फिर भी संसार के भयों से भीत हैं। हे मुक्तिदाता, सर्वत्र विचरणकारी, आप जिसके घर पा रणा करेंगे

वह मानव होने पर भी देवों के लिए पूज्य है। हे भगवान्, आपके दर्शन मेरे लिए जो सर्वदा वासना-मुक्त नहीं है, रोग-ग्रस्त के लिए घोषधि की भांति उपकारी है। हे त्रिलोकनाथ, मेरा मन सदैव आपमें संलग्न रहता है मानो वह उसमें मिलाई किया गया है, बँटाया गया है, जोड़ा गया है इस भांति है।' (श्लोक २९२-३००)

इस तरह भगवान् की स्तुति कर उनके समीप रहने की इच्छा प्रकट कर शक्र और अन्यान्य इन्द्र देवों सहित अपने-अपने आवास को लौट गए। (श्लोक ३०१)

दूसरे दिन पारने के लिए प्रभु उसी नगरी के राजा सुरेन्द्रदत्त के घर गए। प्रभु को आते देख राजा सुरेन्द्रदत्त उठकर खड़े हो गए, वन्दना की और 'प्रभु, ग्रहण करें' कहकर क्षीरान्न प्रभु को बहराया। प्रभु ने उस निर्दोष अचित्त ग्रहणयोग्य आहार को अपने कर-पात्र में ग्रहण किया। रत्नपूर्ण आहार-ग्रहण में निःस्पृह प्रभु ने मात्र उतना ही ग्रहण किया जितना जीवन धारण के लिए प्रयोजनीय था। इस दान को देने से दान देने वाले का भाग्योदय हो गया। आकाश में दिग्गजों के बृहन्तिनाद की भांति देव-दुन्दुभि बजने लगी। टूटी हुई माला से जिस प्रकार मणियाँ गिर पड़ती हैं उसी भांति आकाश से रत्न-राजि की वर्षा हुई। नन्दनवन के सुरभियुक्त पुष्प भी बरसे। देव जैसे एक सूत्र में ग्रथित हो इस भांति अपने उत्तरीय को लहरा कर 'अहो दान ! अहो दान !' बोलने लगे। सुरेन्द्रदत्त ने जिस स्थान पर प्रभु ने पारणा किया था, रत्न-जड़ित सुवर्ण पादपीठ का निर्माण करवाया और उसी पादपीठ की प्रभु के साक्षात् चरणों की तरह सुबह, मध्याह्न एवं सायं पूजा करने लगा। बिना पूजा किए वह किसी भी प्रकार का आहार ग्रहण नहीं करता। (३०२-३१०)

उस स्थान का परित्याग कर प्रभु चौदह वर्षों तक प्रव्रजन करते रहे। उस समय वे ग्राम, नदीपथ और स्थलपथ युक्त ग्राम, नगर, खान, दरिद्र ग्राम, प्राकारों से घिरा नगर, विच्छिन्न नगर, नदीपथ और स्थलपथ युक्त नगर और अरण्य में अणगार रूप में विभिन्न व्रतों से संयत होकर, बाईस परिषद्ओं को सहन करते हुए, तीन गुप्ति, पाँच समिति धारण कर, मौनावलम्बी होकर, निर्भय, दृढ़-प्रतिज्ञ और नासाग्र दृष्टि धारे हुए विचरते रहे।

(श्लोक ३११-३१३)

तदुपरान्त प्रभु प्रतिमा धारण कर सहस्राभवन के शालवृक्ष के नीचे शुक्ल ध्यान के द्वितीय पाद में अवस्थित हुए । जब वे ध्यान में अवस्थित थे वृक्ष के शुष्क पत्तों की तरह चारों घाती कर्म झड़ पड़े । कार्तिक कृष्णा पंचमी के दिन जबकि चन्द्र मृगशिरा नक्षत्र में था तब बेल की तपस्या में उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ । अब वे भूत, भविष्य, वर्तमान को देखने लगे । उस समय नारकी जीवों ने भी एक मुहूर्त्त के लिए परमाधार्मिक स्थान और एक दूसरे के द्वारा उत्पन्न दुःखों को भूलकर शान्ति प्राप्त की । देव और असुरों के समस्त इन्द्रों के आसन कम्पायमान होने से प्रभु के समवसरण उत्सव का उद्घापन करने वहाँ उपस्थित हुए । (श्लोक ३१४-३१८)

एक योजन परिमाण भूमि को वायु कुमार देवों ने तीव्र वायु द्वारा परिष्कृत कर दिया । मेघकुमार देवों ने वारि-वर्षण कर समवसरण के लिए उस भूमि को मार्जित किया । व्यंतर देवों ने उस भूमि को रत्न और सुवर्ण जड़ित शिलाओं से आवृत्त कर उस पर पंचवर्णीय पुष्पों की वर्षा की । उन्होंने चारों दिशाओं की प्रत्येक दिशा में छत्र, पताका, स्तम्भ मकर-मुख आदि से सुशोभित चार तोरण स्थापित किए । भवनपति देवों ने मध्य भाग में रत्न-जड़ित एक वेदी का निर्माण किया, जिसके चारों ओर स्वर्ण शिखर युक्त रौप्य प्राकार का भी निर्माण किया । ज्योतिष्क देवों ने रत्न-शिखर युक्त सुवर्ण की एक मध्य प्राकार निर्मित की मानो वह धरती रूपी वधू की मेखला हो । तदुपरान्त वैमानिक देवों ने हीरों जड़ी रत्नों की ऊर्ध्व प्राकार निर्मित की । प्रत्येक प्राकार में चार अलंकृत द्वार रखे गए । द्वितीय प्राकार के मध्य में उत्तर-पूर्व की ओर एक वेदी का निर्माण किया । ऊर्ध्व प्राकार के मध्य स्थान में व्यंतर देवों ने दो कोस और एक सौ आठ धनुष ऊँचे एक चैत्य वृक्ष का निर्माण किया । चैत्य वृक्ष के नीचे रत्न खचित वेदी पर उन्होंने एक मंच बनाया । और इसके ठीक बीच में पूर्वाभिमुख पाद-पीठ सहित रत्न-जड़ित एक सिंहासन स्थापित किया । उस मंच पर तीन श्वेत छत्र स्थापित किए । दोनों ओर दो यक्ष चन्द्रिका-से शुभ्र श्वेत चंदर धारण कर स्थित हो गए । समवसरण के सम्मुख तीर्थपति धर्म-चक्रवर्ती हैं यह समझाने के लिए व्यंतर देवों ने एक उज्ज्वल धर्मचक्र स्थापित किया । (श्लोक ३२०-३३०)

देवताओं द्वारा परिवृत होकर देवताओं द्वारा ही संचालित नौ स्वर्णकमलों पर पैर रखते हुए सुबह के समय भगवान् ने पूर्व द्वार से समवसरण में प्रवेश किया और चैत्य वृक्ष को तीन प्रदक्षिणा दी। तदुपरान्त 'नमो तित्थाय' कहकर मंच पर रखे सिंहासन पर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गए। भगवान् की शक्ति से व्यंतर देवों ने प्रभु की तीन मूर्तियों का निर्माण कर अन्य तीनों ओर रत्न-जड़ित सिंहासन पर स्थापित कर दी। भगवान् के पीछे भामंडल था। सम्मुख इन्द्रध्वज और आकाश में देव-दुंदुभि बज रही थी।

(श्लोक ३३१-३३५)

साधुगण ने पूर्व द्वार से प्रवेश कर अर्हत को प्रणाम किया और बैठ गए। साध्वियाँ और वैमानिक देव-पत्नियाँ दक्षिण पूर्व कोण में जाकर खड़ी हो गयीं। उत्तर द्वार से प्रवेश कर वैमानिक देव, मनुष्य और देवियाँ अर्हत की वन्दनाकर यथाक्रम उत्तर-पूर्व के कोण में जाकर खड़ी हो गयीं। पश्चिम द्वार से प्रवेश कर भवनपति, ज्योतिष्क और व्यंतर देव अर्हत की वन्दना कर यथाक्रम उत्तर-पश्चिम कोण में जाकर खड़े हो गए। भवनपति, ज्योतिष्क और व्यंतर देवों को देवियाँ, दक्षिण द्वार से प्रवेश कर अर्हत प्रभु की वन्दना की ओर दक्षिण-पश्चिम कोण में जाकर खड़ी हो गयीं। इस प्रकार प्रथम प्राकार के मध्य चतुर्विध संघ, द्वितीय प्राकार के मध्य जीव-जन्तु और तृतीय प्राकार के मध्य वाहन रूप में आगत पशु अवस्थित हो गए।

(श्लोक ३३६-३४०)

शक्र भगवान् को वन्दन कर विनम्रतापूर्वक भक्तिभाव से करबद्ध बने निम्न स्तुति करने लगे :

'भगवन्, आप आयाचित सहायकारी हैं, अकारण कारुणिक, प्रार्थित न होने पर भी कृपा करने वाले, अज्ञानी के लिए भी आत्मीय तुल्य हैं। मैं आपकी शरण ग्रहण करता हूँ, मुझे शरण में लीजिए। आपका मन तैलाक्त नहीं होने पर भी स्निग्ध है, वाणी मार्जित न होने पर भी मधुर है, चारित्र्य बिना धुला होने पर भी कलंकहीन है। आपने इच्छामात्र से कर्म के वक्र कंटकों को नष्ट कर डाला—जबकि आप दुर्दम योद्धा नहीं हैं, मात्र श्रमण हैं, शांत और समभावापन्न हैं। आपको नमस्कार ! आप जन्म से मुक्त हैं, व्याधि से मुक्त हैं, नरक के कारण राग-द्वेष से मुक्त और पवित्र हैं। मैं

आपसे फल के लिए प्रार्थना कर रहा हूँ। आप कल्प वृक्ष तुल्य हैं— कभी विनष्ट नहीं होने वाला आपका फल जीवन को शाश्वत बना देता है। हे जिन, आप राग-द्वेष से मुक्त कारुणिक समदर्शी शरण्य और जगत के रक्षक हैं। भृत्य न होने पर भी मैं आपका भृत्य हूँ। मैंने आपको अपनी आत्मा दे डाली है कारण आप अरक्षित होने पर भी रत्नों के निधान हैं, घरे न रहने पर भी कल्पवृक्ष हैं, अचिन्त्य भाव-रत्न के अधिकारी हैं। मैं ध्यान रूपी फल से शून्य हूँ। आप उस फल के मूल-रूप हैं। मैं अज्ञानी हूँ। क्या करना होगा, नहीं जानता। आप मुझ पर दया करिए।' (श्लोक ३४१-३४९)

इस प्रकार स्तुति कर शक्र के आसन ग्रहण कर लेने पर भगवान् सम्भवनाथ ने जगत-कल्याण के लिए यह उपदेश दिया :

‘इस संसार की समस्त वस्तुएँ ही अनित्य हैं, नाशवान हैं फिर भी प्राथमिक मधुरता के कारण जीव उनमें मूर्च्छित हो जाता है। संसार के जीवों के अपनी ओर से, दूसरों की ओर से, चारों ओर से विपत्ति ही विपत्ति आती रहती है। वे कृतान्तों के दाँतों के मध्य धृत होकर काल के मुख-बिंदु में निवास करते हैं। अनित्यता जबकि वज्र से टूट एवं कठोर शरीर को भी जर्जरित कर देती है तब कदली वृक्ष से कोमलतनु मनुष्यों का तो कहना ही क्या? यदि कोई निःसार और नाशवान शरीर को अविनाशी समझता है तब तो उसका प्रयत्न घास-फूस द्वारा निर्मित मनुष्यों को अविनाशी समझने जैसा ही है जो कि आंधी-वर्षा में गल जाता है। व्याघ्र रूपी काल के मुख में पकड़े हुए मनुष्य की मन्त्र-तन्त्र औषधि एवं देव-दानवों की कोई भी शक्ति रक्षा नहीं कर सकती। मनुष्य की उम्र जैसे-जैसे बढ़ती जाती है वाढ्ढंक्क उसे निगलने लगता है और वह मृत्यु के निकट आ जाता है। इस रूप में मनुष्य-जन्म को धिक्कार है। (श्लोक ३५०-३५६)

‘मनुष्य यदि कभी यह सोचे कि वह काल रूपी कृतान्त के अधीन है तो उसकी रुचि आहार-ग्रहण में भी नहीं रहेगी, पाप कार्य करना तो दूर की बात है। जल में जैसे बुदबुदे उत्पन्न होते हैं, नष्ट होते हैं, उसी प्रकार मनुष्य देह भी उत्पन्न होती है, नष्ट हो जाती है। काल का तो स्वभाव ही नष्ट करना है। वह घनाढ्य या निर्धन, राजा या रंक, ज्ञानी या मूर्ख, सज्जन या दुर्जन का कोई भेद नहीं

करता । काल न पाप का निरादर और पुण्य का आदर करता है । दावानल जिस प्रकार समस्त अरण्य को जला डालता है काल भी उसी प्रकार सब कुछ नष्ट कर डालता है । यदि कहीं किसी कुशास्त्र में लिखा भी हो कि इस देह को अमर और स्थायी बनाया जा सकता है तो भी उस पर विश्वास करना उचित नहीं है । जो देवेन्द्रादि सुमेरु पर्वत को दण्ड और पृथ्वी को छत्र करने में समर्थ हैं वे भी मृत्यु से बचने और बचाने में असमर्थ हैं । सामान्य कीट से लेकर वैभवशाली इन्द्र पर्यन्त सब पर यमराज का शासन समान रूप से अव्याहत है । ऐसी अवस्था में काल को धोखा देना कोई बुद्धिमान व्यक्ति सोच नहीं सकता । कभी किसी ने अपने पूर्व पुरुषों को कहीं अमर होते देखा हो ऐसा नहीं पाया गया । फिर भी काल को छलने की बात संदेहास्पद है ।' (श्लोक ३५७-३६४)

‘यह समझना है कि यौवन भी अनित्य है, वृद्धावस्था यौवन के रूप और सौन्दर्य का हरण कर लेती है । यौवन में सुन्दर लड़कियाँ जिसे चाहती हैं वार्द्धक्य में वे ही उससे घृणा कर उसका परित्याग कर देती हैं । अनेक कष्टों से जिस धन का संग्रह किया जाता है, उपभोग न कर संचय किया जाता है, धनवानों का वह धन भी मुहूर्तमात्र में नष्ट हो जाता है । जो धन देखते-देखते नष्ट हो जाता है उसका तो कहना ही क्या ? वह धन भी विद्युत और जल-बुदबुदों की तरह ही क्षण-भंगुर है । बन्धु-बान्धव, आत्मीय परिजनों के साथ मिलन भी अनित्य है कारण मृत्यु, स्थान-परिवर्तन आदि के द्वारा वह भी समाप्त हो जाता है । जो नित्य अनित्यता की भावना करता है वह अपने प्रिय पुत्र की मृत्यु पर भी शोक नहीं करता और वह मुग्ध प्राणी जो नित्यता का आग्रह करता है वही घर की एक दीवार टूट कर गिर जाने पर भी रो पड़ता है । शरीर, यौवन धन एवं कुटुम्बादि ही अनित्य नहीं हैं बल्कि चर-अचर संसार भी अनित्य है । सब कुछ को अनित्य जानकर जो आत्मार्थी परिग्रह का त्याग करता है वह नित्यानन्दमय परम पद को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है ।’ (श्लोक ३६५-३७२)

भगवान् की देशता श्रवण कर तत्काल कई स्त्री-पुरुषों ने उनसे दीक्षा ग्रहण कर ली । तदुपरान्त प्रभु ने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य इस त्रिपदी की चार आदि उन-उन व्यक्तियों को जिनके गणधर

होने के कर्ण थे शिक्षा दी । उनके एक सौ दो भगधरों ने उस त्रिपदी के अनुसार बारह अङ्ग और चौदह पूर्वों की रचना की । शक्र द्वारा लाई गई बासक्षेप ग्रहण कर उस बासक्षेप को उन पर निक्षेप कर भगवान् ने द्रव्यादि के माध्यम से वह शिक्षा गण को देने का आदेश दिया । देवों ने भी दुन्दुभि वाद्य के साथ उन पर बासक्षेप किया । तब गणधरगण भगवान् के मुख से देशना सुनने की प्रतीक्षा करने लगे । भगवान् पुनः उसी दिव्य सिंहासन पर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गए और उन्हें पालनीय आचार की शिक्षा दी । प्रहर के अन्त में भगवान् ने देशना देनी बन्द कर दी । राज प्रासाद से चार प्रस्थ सुगन्धित अन्न की बलि लाई गई । उसे आकाश में उछाला गया । देवों ने उसे गिरने से पूर्व ही ग्रहण कर लिया । जो गिरा उसका आधा राजाओं ने और शेष साधारण मानवों ने ग्रहण कर लिया । तदुपरान्त त्रिलोक-नाथ उठकर खड़े हुए और क्लान्त न होने पर भी उत्तर द्वार से निकलकर मञ्च पर विश्राम करने लगे क्योंकि ऐसा ही नियम है ।

(श्लोक ३७३-३८१)

भगवान् ने पादपीठ पर बैठकर गणधरों में प्रमुख चारु स्वामी ने भगवान् की शक्ति से अज्ञान का नाश करने वाला उपदेश दिया । द्वितीय प्रहर के अन्त में जैसे शनि के मध्याह्न के बाद पाठ बन्द किया जाता है, उपदेश देना बन्द कर दिया । तब देवगण, असुर एवं राजादि सभी प्रभु की वन्दना कर उत्सव के अन्त में जिस प्रकार लोग लौट जाते हैं उसी प्रकार आनन्दितमना बने अपने-अपने निवास को लौट गए ।

(श्लोक ३८२-३८४)

इस प्रकार तीर्थ स्थापित होने पर त्रिमुख नामक यक्ष प्रकट हुआ । उसके तीन मुख, तीन नेत्र और छह हाथ थे । उसकी देह का रंग काला और वाहन मयूर था । दो दाहिने हाथों में पाश और दण्ड था । तृतीय हाथ वरद मुद्रा में था । बायें तीन हाथों में एक में नींबू बिजोरा, दूसरे में पुष्पमाला और तीसरे में अक्षमाला थी । इसी भांति उनके तीर्थ में दुरितारि नामक यक्षिणी उत्पन्न हुई । उसके चार हाथ थे । देह का वर्ण सफेद और वाहन भेड़ था । दाहिने हाथों में एक वरद मुद्रा में और दूसरे में अक्षमाला थी । बायें हाथों में एक में सर्प और दूसरा अभय मुद्रा में था । शासन देव और देवी त्रिमुख व दुरितारि अङ्ग-रक्षक की भांति

सदैव भगवान् के साथ रहतीं ।

(श्लोक ३८५-३८९)

तदुपरान्त भगवान् चौबीस अतिशयों से सुशोभित और साधु-साधवियों द्वारा परिवृत्त होकर अन्यत्र विहार कर गए । उनके शासन में दो लाख श्रमण, तीन लाख छत्तीस हजार साधवियाँ, इक्कीस हजार एक सौ पचास पूर्वधर, नौ हजार छह सौ मनःपर्याय ज्ञानी, बारह हजार एक सौ पचास अवधिज्ञानी, पन्द्रह हजार केवल-ज्ञानी, दो सौ कम बीस हजार वैक्रिय लब्धिधारी, बारह हजार वादी, दो सौ निन्यानवे हजार श्रावक, छह सौ छत्तीस हजार श्राविकाएँ थीं ।

(श्लोक ३९०-३९२)

मार्गदर्शक — केवलज्ञान प्राप्ति के पश्चात् चार पुर्वाङ्ग और चौदह वर्ष कम एक लाख पूर्व तक सम्भव स्वामी ने विचरण किया । तत्पश्चात् सर्वज्ञ प्रभु ने अपना निर्वाण समय निकट जानकर अनुवर्त्ती श्रमणों सहित सम्मेद शिखर पर पधारे । वहाँ आपने एक हजार मुनियों सहित पादपोषगमन अनशन ग्रहण किया । असुरेन्द्र और देवेन्द्र भी भगवान् का मोक्षकाल निकट जानकर वहाँ आए और भक्तिभाव सहित त्रिलोकनाथ की सेवा करने लगे । पादपोषगमन अनशन के एक मास व्यतीत हो जाने पर पर्वत की तरह स्थिर सम्भव स्वामी समस्त क्रियाओं का निरोध कर शैलेशीकरण ध्यान में स्थित हुए । चैत्र शुक्ला पंचमी को जब चन्द्र मृगशिरा नक्षत्र में था तब अनन्त चतुष्टय प्राप्त होकर प्रभु ने सिद्धलोक में गमन किया । इसी भांति एक हजार मुनि भी भगवान् के अकलंक अवयव रूप में सिद्धलोक को प्राप्त हो गए ।

(श्लोक ३९३-४०२)

कुमारावस्था की ४५ लाख पूर्व, राजा रूप की ५४ लाख पूर्व और ४ पूर्वांग, छद्मस्थ अवस्था की ४ पूर्वांग कम एक लाख पूर्व, इस प्रकार सब मिलाकर साठ लाख पूर्व की आयु भोगकर अजितनाथ स्वामी के निर्वाण के तीस लाख क्रोड़ सागरोपम के पश्चात् संभव-नाथ स्वामी मोक्ष को प्राप्त हुए ।

(श्लोक ४०३-४०५)

तब इन्द्रों ने संभवनाथ स्वामी की देह को संस्कारित किया और अन्यान्य करणीय कर्म सम्पादित किए । प्रभु के ऊपर और नीचे के दांत उन्होंने परस्पर बांट लिए । अन्य देवों ने उनकी अस्थियों को संगृहीत किया । सभी इन्द्र अपने-अपने आवास को लौट गए और वहाँ मानवक स्तम्भों पर पूजा के लिए भगवान् की

अस्थि आदि रखी । तीर्थकरों का कौन सा अंश पूजनीय नहीं होता ।

(श्लोक ४०६-४०७)

प्रथम सर्ग समाप्त

मार्गवर्तिक — आचार्य द्वितीय सर्ग सागर जी महाराज

पृथ्वी को आनन्द देने वाले धर्म के नन्दनवन राजा सम्बर के पुत्र जिनेश्वर अभिनन्दन स्वामी की मैं स्तुति करता हूँ । तत्त्वज्ञान के अमृत कुम्भ रूप, भव्यजनों की मोह निद्रा को भंग करने वाले दिवालीक तुल्य भगवान् के दिव्य जीवन का अब मैं वर्णन करता हूँ ।

(श्लोक १-२)

इस जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में ऐश्वर्य और सुख के निवास रूप मंगलावती नामक एक देश था । उस देश में पृथ्वी के शिरोमणि रूप, समुद्र की भाँति रत्नों के निवास स्थल, नगरी में रत्न तुल्या, रत्नमंजूषा नामक एक नगरी थी । उस नगरी में कुबेर-से ऐश्वर्यशाली, पवन की तरह शक्तिवान महाबल नाम के एक राजा थे । हिमवत पर्वत जिस प्रकार गंगा, सिन्धु और रोहितास्या नदी से शोभित है वे भी उसी प्रकार राजकीय शक्ति—उत्साह, सम्मंत्रणा ऐश्वर्य और सैन्यदल की समृद्धि से सुशोभित थे । हस्तीचावक दंताघात से जिस प्रकार शत्रु को पराजित करता है वे भी उसी प्रकार चार प्रकार से शत्रु को शासित कर शासन करते थे । ज्ञान के आधार रूप में केवल अहंत् को ही देव, साधु को गुरु और जिन प्रवचन को धर्म मानते थे । उदारता, चारित्र्य, तप और भाव रूप धर्म में उन्हें आनन्द था । कारण महत् महत् ही होते हैं । (श्लोक ३-९)

राग रहित विवेकवान वे राजा संसार-भय से भीत और संसार की असारता को जानकर केवल श्रावक धर्म से ही सन्तुष्ट नहीं रहे विमलसूरि के चरणों में पाले हुए वृष की तरह चारित्र्य के साथ-साथ पंच महाव्रत भी ग्रहण किया । दुष्ट व्यक्ति यदि उनकी निन्दा करते तो वे दीर्घकाल तक हार्दिक सुख अनुभव करते । सज्जन व्यक्ति यदि उनकी उपासना करते तो वे मन-ही-मन लज्जित होते । दुष्ट व्यक्तियों द्वारा पीड़ित होने पर भी वे दुःखी नहीं होते, सज्जन व्यक्तियों द्वारा पूजे जाने पर भी गर्वित नहीं होते । मनोरम उद्यान में विचरण कर वे जिस प्रकार उत्फुल्ल नहीं होते उसी प्रकार सिंह

व्याघ्रादिपूर्ण अरण्य में विचरण कर भयभीत नहीं होते । शीतकाल की रात्रि की भयानक सर्दियों में भी प्रतिमा धारण कर आलान स्तम्भ की तरह बाहर ही अवस्थित रहते । सूर्य किरणों से उत्तप्त ग्रीष्म-काल में धूप में तपस्या करने पर भी वे सूखते नहीं बल्कि अग्नि द्वारा परिशुद्ध स्वर्ण-से उज्ज्वल हो उठते । वर्षा ऋतु में दोनों नत्न निरुपद्रव कर वृक्ष तले प्रतिमा धारण कर अवस्थित रहते । लोभी जिस प्रकार सम्पत्ति का संचय करता है उसी प्रकार उन्होंने सभी प्रकार के उपवास, एकावली, रत्नावली आदि बहुत बार पालन किए । बीस स्थानक के कई स्थानकों की उपासना कर उन्होंने तीर्थंकर गोत्र-कर्म उपार्जन किया । इस प्रकार दीर्घकाल तक चारित्र्य-पालन कर मृत्यु के पश्चात् वे विजय-विमान में ऋद्धि सम्पन्न देव बने ।

(श्लोक १०-२०)

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में पुरन्दर की नगरी-सी अयोध्या नामक एक नगरी थी । उस नगरी में प्रत्येक गृह के रत्नजड़ित स्तम्भ में प्रतिबिम्बित होकर चन्द्र ने शाश्वत सुन्दर दर्पण का रूप प्राप्त किया था । वहाँ के प्रतिगृह के वृक्ष कल्पवृक्ष से लगते; कारण, वहाँ के मयूर खेल-खेल में एकावली हार खींच-खींच कर बिखेरते और उसमें से मणियां झर पड़तीं । पंक्तिबद्ध देवालियों से निकलती चन्द्रमणियों की आलोक धारा के कारण मन्दिर सरितायुक्त पर्वत-से लगते । प्रतिगृह की क्रीड़ावापियों पर क्रीडारत पुरुष और स्त्रियां क्षीर-सागर में क्रीडारत अप्सराओं को भी लज्जित करती थीं । गले तक जल में डूबी सुन्दर रमणियों के मुख-कमल से वे वापियां स्वर्ण-कमलों की माला द्वारा सर्वदा भूषित-सी लगतीं । नगर के बाहर की भूमि सघन और विस्तृत उद्यान से नवमेघाच्छादित पर्वत की अधित्यका-सी लगती, परिखायुक्त प्राकार, गंगा परिवृत अष्टापद से शोभित थे । हर गृह में स्वर्ग के कल्पवृक्ष-से देने को उन्मुख व्यक्ति सहज लभ्य थे; किन्तु याचक दुर्लभ थे अर्थात् पाए नहीं जाते थे ।

(श्लोक २१-३०)

इक्ष्वाकु वंश रूप क्षीर-समुद्र के चन्द्रतुल्य, जिन्हें शत्रु की श्री देवियों ने भी स्व-पति रूप में चुन लिया है ऐसे संवर अयोध्या नगरी के राजा थे । करुणामय व्यक्ति की तलवार जिस प्रकार कोप से बाहर नहीं निकलती उसी प्रकार समग्र धरणी के एकछत्र राजा का

ऐश्वर्य उनके कोप से बाहर नहीं निकलता था। उन दीर्घबाहु महावीर्यवान राजा के द्वारा आकाश के एक चन्द्र की तरह वह पृथ्वी एकछत्र के रूप में धारण की हुई थी। उन्होंने पृथ्वी को धारण कर रखा था नहीं तो दिग्विजय के लिए निकली उनकी विपुल सैन्य-वाहिनी के पदभार से पृथ्वी शतधा विदीर्ण हो जाती। जब वे दूर-दूर देश से श्री को आकृष्ट कर लाते तब उनके कोमल होने पर भी उन्हें धर्म-शृङ्खला में আবদ্ধ कर रखते थे। अन्य राजाओं के राज-दण्ड हरण कर लेने पर भी वे गर्वित नहीं हुए। नदियों के जल को ग्रहण कर क्या समुद्र कभी गर्वित होता है? सर्वदा शान्त निर्लोभी और निराकुल मुनि की तरह वे धन और सम्पदा के लिए नहीं, धर्म के लिए शासन करते थे। प्रजा की रक्षा के लिए ही वे शत्रुओं का शमन करते थे किसी द्वेष के बशीभूत होकर नहीं। प्रजा के लिए जो श्रेय है वह तुलादण्ड की तरह स्वयं में धारण करते थे।

(श्लोक ३१-३९)

उच्चकुलजाता धर्मभावापन्ना अन्तःपुर की अलंकारस्वरूपा सिद्धार्था नामक उनकी एक पत्नी थी। मन्थरगति के कारण मधुर-भाषिणी वह रूपवती राजहंसिनी-सी लगती थी। उसकी सुन्दर आँखें, मुख, हाथ, पैर धर्म और सौन्दर्य की सरिता में कमल-वन से लगते थे। उसके कमल नेत्रों-का भीतरी भाग इन्द्रनील-सा, दांत मुक्ता-से, होठ प्रवाल-से, नख लोहितक-से, अंग-प्रत्यंग सुवर्ण-से, और देह रत्नों द्वारा निमित्त-सी लगती थी। वह नगरियों में विनीता, विद्या में रोहिणी, नदियों में मन्दाकिनी-सी व महीयसी महिलाओं में श्रेष्ठा थी। वह पति के प्रति अनुराग के वशवर्त्ती होने पर भी कभी कोप-प्रदर्शन नहीं करती, कारण साध्वी स्त्रियाँ धार्मिक व्रतों की तरह वैवाहिक प्रतिज्ञा-भंग को भी भय की दृष्टि से देखती हैं। उनके प्रति राजा का प्रेम भी नील की तरह छल-रहित था। बिना धर्म का लंघन किए अहंकार शून्य वे दम्पती सांसारिक सुखों का भोग करते थे।

(श्लोक ४०-४८)

उधर महाबल के जीव ने विजय विमान के आनन्द में तैतीस सागरोपम का सर्वायु व्यतीत किया। वैशाख शुक्ला चतुर्थी को चंद्र जब अभिजित नक्षत्र में आया तब वह विजय विमान से च्युत होकर रानी सिद्धार्था के गर्भ में अवतरित हुआ। उस समय वह तीन ज्ञान

का धारक था। उस समय पृथ्वी पर सर्वत्र एक आलोक दीप्ति प्रसारित हो गई। नारकी जीवों ने भी मुहूर्त भर के लिए आनन्द का अनुभव किया।

(श्लोक ४९-५१)

रात्रि के चतुर्थ याम में सिद्धार्थ रानी ने सुख-शय्या पर सोते हुए चौदह महास्वप्न देखे : चार दन्त विशिष्ट श्वेत हाथी, जूही-सा श्वेत वृषभ, व्यादित मुख सिंह, अभिषिक्तमाना लक्ष्मी, पंचवर्णीय पुष्पमाल्य, पूर्ण चन्द्र, उज्ज्वल सूर्य, घण्टिकायुक्त ध्वज, स्वर्ण का पूर्ण कुम्भ, पद्म सरोवर, तरंगित समुद्र, देवविमान, रत्न-राशि और निधू भ अग्नि।

(श्लोक ५२-५६)

जागने पर रानी ने स्वप्नों को राजा के सम्मुख निवेदित किया। सुनकर राजा बोले—‘देवी, तुम्हारे स्वप्नों से लगता है तुम त्रिलोकनाथ पुत्र को जन्म दोगी।’ इन्द्र ने भी आकर ऐसा कहा—‘देवी, आप जिस पुत्र को जन्म देंगी वह चतुर्थ तीर्थङ्कर होगा।’ रात्रि का शेष भाग रानी ने निद्रा-रहित रहकर बिताया। पद्म-कोष के बीज की तरह वह ध्रूण उनके गर्भ में गोपनीय रूप में वृद्धिगत होने लगा। देवी सिद्धार्थ उस गर्भ को सहज रूप में वहन करती थीं। सचमुच ही ऐसे जीवों का अवतरण पृथ्वी के आनन्द के लिए ही होता है। नौ मास साढ़े सात दिन व्यतीत होने पर माघ मास शुक्लपक्ष में चन्द्र जब अभिजित नक्षत्र में था देवी सिद्धार्थ ने सहज भाव से मकंट लांछनयुक्त एक पुत्र को जन्म दिया। उसकी देह का रंग सुवर्ण-सा और दीप्ति सूर्य-सी थी। उसी समय तीनों लोक में एक आलोक व्याप्त हो गया एवं नारकी जीवों को भी मुहूर्त भर के लिए आनन्द प्राप्त हुआ।

(श्लोक ५७-६४)

स्व-स्व-निवास से ५६ दिक्कुमारियां आईं और प्रसूति एवं पुत्र के जन्म-कल्याणक का करणीय-कार्य यथाविधि सम्पन्न किया। सिंहासन कम्पित होने पर अर्हत् जन्म को अवगत कर शक्र देवों सहित पालक विमान में वहां आए। विमान से उतर कर प्रभु के घर में प्रवेश किया और तीर्थङ्कर एवं तीर्थङ्कर-माता की वंदना की। अवस्थापिनी निद्रा में माता को निद्रित कर प्रभु की प्रतिकृति उनके निकट रख शक्र ने पांच रूप धारण किए। एक रूप से उन्होंने प्रभु को गोद लिया। दूसरे से छत्र धारण किया। अन्य दो रूपों से चँवर डुलाने लगे और शेष एक रूप में वज्र हाथ में लेकर नृत्य

करते हुए प्रभु के आगे चलने लगे। मुहूर्त भर में शक्र अतिपांडु-कवला शिला पर जा पहुंचे और प्रभु को गोद में लिए ही सिंहासन पर बैठ गए। तत्पश्चात् अच्युतादि ब्रह्मसठ इन्द्र भी सपरिवार वहां आए और यथोचित स्नानाभिषेक किया। ईशानेन्द्र ने भी पांच रूप धारण कर एक रूप से प्रभु को गोद में लिया, दूसरे से छत्र धारण किया, तीसरे-चौथे रूप में चैंबर डुलाने लगे, पांचवें रूप में वज्र हाथ में लिए उनके सम्मुख खड़े हो गए। शक्र ने चारों दिशाओं में स्फटिक के चार वृषभों का निर्माण किया और उनके शृङ्गों से निर्गत जल से प्रभु को स्नान करवाया। स्नानाभिषेक के पश्चात् शक्र ने वंदना की एवं वस्त्रालंकारों से उन्हें भूषित कर हाथ जोड़कर उनके सम्मुख इस प्रकार स्तुति करने लगे : (श्लोक ६५-७४)

हे भगवन्, हे चतुर्थ तीर्थङ्कर, कालचक्र के चतुर्थ आरे के भास्कर, चातुर्यामि धर्म प्रकाशक आपकी जय हो। दीर्घ दिनों के पश्चात् आप जैसे तीर्थपति को प्राप्त कर विवेकहरणकारी मिथ्या द्वारा पृथ्वी अब आक्रान्त नहीं होगी। आपके पादपीठ पर न्यस्त मेरे मस्तक पर पुण्य-पणिका रूप आपकी चरणधूलि गिरे। मेरी दृष्टि आपमें संलग्न रहे। जो दर्शनीय नहीं है ऐसी वस्तुओं के दर्शन से मेरे जो नेत्र अपवित्र हो गए हैं वे मुहूर्त भर में आनन्द के आंसुओं से धुल जाएँ। दीर्घ दिनों के पश्चात् आपके दर्शनों से जो रोमांच हुआ है उससे अयोग्य वस्तु की दर्शन जनित जो स्मृति मेरे मस्तिष्क में थी वह दूर हो जाए। आपके मुखारविन्द के दर्शन से मेरे नेत्र सदैव नृत्य करें, मेरे हाथ सदैव आपकी पूजा करें और मेरे कर्ण हमेशा आपके गुणानुवादों का श्रवण करें। मेरे कण्ठ के अवरुद्ध होने पर भी वह आपके गुणानुवाद के लिए तत्पर है। आनन्द के कारण ही वह अवरुद्ध है, अन्य कारण से नहीं। मैं आपका सेवक, दास और उपासक हूँ। मैं अधम हूँ। हे भगवन् ! ऐसा कहकर अब मैं निवृत्त होता हूँ। (श्लोक ७५-८२)

इस प्रकार स्तुति कर इन्द्र ने पंच रूप धारण किए। एक रूप में ईशानेन्द्र ने प्रभु को ग्रहण किया, दूसरे रूप से छत्र धारण किया, अन्य दो रूपों में चैंबर डुलाने लगे, शेष एक में वज्र हाथ में लेकर मुहूर्त भर में स्वामी के घर पहुंच गए। वहां उन्होंने अवस्वापिनी निद्रा और प्रभु की मूर्ति को हटा दिया एवं त्रिभुवन-

पति को माता के निकट यथाविधि सुला दिया। तदुपरान्त शक्र प्रभु के गृह से एवं अन्यान्य इन्द्र-प्रेक्षार्थ से स्व-स्व स्थान को लौट गए।

(श्लोक ८३-८५)

दूसरे दिन सुबह राजा ने पुत्र का जन्मोत्सव किया जिससे समस्त प्रजा आनन्दित हो उठी। जिस दिन से वे गर्भ में आए थे उस दिन से परिवार, नगर और राज्य आनन्दित हो रहा था अतः आपके माता-पिता ने आपका नाम रखा अभिनन्दन। स्व-अंगुष्ठ से इन्द्र प्रदत्त अमृत-पान कर और स्वर्ग की अप्सराओं द्वारा पालित होकर वे क्रमशः बड़े होने लगे। प्रभु ने अपने समवयस्क देव और असुर बालकों के साथ नाना प्रकार की क्रीड़ा करते हुए बाल्यकाल को व्यतीत किया।

(श्लोक-८६-८९)

बसन्तकाल में जिस प्रकार उद्यान वृक्षों से सुशोभित होता है उसी प्रकार अभिनन्दन स्वामी यौवन प्राप्त कर शोभान्वित होने लगे। उनकी देह ३५० धनुष दीर्घ थी और भुजाएँ आजानुलम्बित थीं। इससे वे श्रीदेवी के भूला सहित उन्नत वृक्ष से लगते थे। उनके कपोल सुन्दर थे। ललाट अर्द्धचन्द्र-सा और मुख पूर्णचन्द्र की शोभा को अपहरण करने वाला था। उनका वक्षदेश सुवर्ण-शिला-सा था। स्कन्ध थे उन्नत, कटि क्षीण, पैर हरिण-से एवं पदतल कूर्माकृति थे।

(श्लोक ९०-९३)

यद्यपि उन्हें संसार से वैराग्य था फिर भी भोगकर्म अभी भी अवशेष हैं ऐसा जानकर माता-पिता की इच्छा के अनुसार उन्होंने उच्च कुलजात राजकन्याओं के साथ विवाह किया। इन सुन्दर तरुणियों के साथ वे इच्छा के मुताबिक प्रमोद उद्यान में, वापियों में, जलाशयों में, क्रीड़ा पर्वतों पर चन्द्र जैसे तारिकाओं सहित विहार करता है उसी प्रकार विहार करने लगे। जन्म से साढ़े बारह लाख पूर्व तक उन्होंने अहमिन्द्र की तरह आनन्द में निमज्जित होकर व्यतीत किया।

(श्लोक ९४-९६)

राजा संवर अभिनन्दन स्वामी को सिंहासन पर बैठाकर स्वयं दीक्षित हो गए। उन्होंने एक गाँव की भाँति समस्त पृथ्वी का शासन किया। जो त्रिलोक की रक्षा करने में समर्थ हैं उनके लिए एक राज्य का शासन है ही क्या? राजा रूप में अभिनन्दन स्वामी ने छत्तीस लाख पूर्व और आठ अंगों को अतिवाहित किया।

(श्लोक ९७-९९)

अब उनकी इच्छा दीक्षा ग्रहण करने की हुई तो लोकान्तिक देवों ने अमात्य की तरह उनके मनोभावों को जानकर उनसे निवेदन किया—‘आपके संसार-त्याग का समय हो गया है। हे भगवन्, दुस्तर संसार-समुद्र अतिक्रम करने के लिए आप तीर्थ स्थापित कीजिए।’

याम्यदर्शक — आचार्य श्री (श्लोक १०२-१०३) काटव

लोकान्तिक देवों के चले जाने के पश्चात् अभिनन्दन स्वामी ने बिना इच्छा या फलाकांक्षा के वर्षी दान देना प्रारम्भ किया। शक्र के आदेश से कुबेर द्वारा प्रेरित जृम्भक देवगण बार-बार अर्थ लाकर अभिनन्दन स्वामी को देने लगे। वर्षीदान समाप्त होने पर अभिनन्दन स्वामी का दीक्षा-महोत्सव चौसठ इन्द्रों द्वारा साढम्बर सम्पन्न हुआ। अभीष्ट सिद्धि के लिए स्नानाभिषेक के पश्चात् देवदत्त वस्त्र और अलंकारों से भूषित होकर अर्द्ध-सिद्धा नामक पालकी पर उन्होंने आरोहण किया। सम्मुख भाग मनुष्य और पीछे का भाग देवों द्वारा वाहित शिविका से वे सहस्राम्रवन उद्यान में पहुँचे। पालकी से उतरकर अभिनन्दन स्वामी ने वस्त्रालंकारों का त्याग किया और इन्द्र प्रदत्त देवदूष्य वस्त्र कंधे पर रखा। माघ मास की शुक्ल द्वादशी को सन्ध्या के समय चन्द्र जब अभिजित नक्षत्र में था तब दो दिनों के उपवास के पश्चात् उन्होंने पंचमुष्टि से केश उत्पाटित किया। शक्र ने उन केशों को अपने उत्तरीय में धारणकर उसी मुहूर्त्त में क्षीर-सागर में निक्षेप कर दिया। शक्र द्वारा देव असुर और मनुष्यकृत कोलाहल शान्त करने पर उन्होंने सामायिक उच्चारण कर चारित्र्य ग्रहण कर लिया। उसी मुहूर्त्त में उन्हें मनः पर्याय ज्ञान उत्पन्न हुआ और नारकी जीवों को भी मुहूर्त्त भर के लिए सुख का अनुभव हुआ। आपके साथ एक हजार राजाओं ने देह-मैल की भाँति अपने-अपने राज्यों का परित्याग कर मोह-नाशक श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर ली। भगवान् को वन्दना कर प्रवासी जिस प्रकार वर्षाकाल में घर लौट जाते हैं उसी प्रकार शक्र और अन्यान्य इन्द्र एवं उनके अनुचर अपने-अपने निवास को लौट गए।

(श्लोक १०२-११३)

दूसरे दिन अयोध्या के राजा इन्द्रदत्त के घर प्रभु ने खीराश्र ग्रहण कर उपवास का पारणा किया। देवताओं ने आकाश से रत्न, पुष्प, वस्त्र और सुगन्धित जल की वर्षा की, दुन्दुभि बजाई। देव-

असुर, मनुष्यों ने महा आनन्द से प्रेरित होकर अहोदान-अहोदान की ध्वनि की । (श्लोक ११४-११६)

प्रभु के अन्यत्र विहार कर जाने पर जहां उन्होंने भिक्षा ग्रहण की थी वहां पूजा करने के लिए उन्होंने एक रत्नवेदी का निर्माण करवाया । अठारह वर्ष प्रभु ने छद्मस्थ अवस्था में व्रत पालन और उपसर्ग सहन करते हुए व्यतीत किए । (श्लोक ११७-११८)

एक दिन प्रव्रजन करते हुए वे सहस्राम्रवन उद्यान में आए और दो दिनों के उपवास के पश्चात् प्रियाल वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग ध्यान में स्थित हो गए । द्वितीय शुक्ल ध्यान के पश्चात् घाती कर्म क्षय हो जाने पर पौष शुक्ला चतुर्दशी को चन्द्र जब अभिजित नक्षत्र में था उन्हें निर्मल केवलज्ञान की प्राप्ति हुई । उस समय एक मुहूर्त्त के लिए नारकी जीवों को भी आनन्द प्राप्त हुआ । (श्लोक ११९-१२१)

तत्पश्चात् चौसठ इन्द्र वहां आए और एक योजन परिमित समोसरण की वन्दना की । देवों द्वारा संस्थापित स्वर्ण-कमलों पर पैर रखते हुए प्रभु पूर्व द्वार से समोसरण में प्रविष्ट हुए । भगवान् ने दो गव्यूत और बीस धनुष परिमित चैत्य वृक्ष की परिक्रमा की । तदुपरान्त 'नमो तित्थाय' कहकर वे मञ्च के मध्य रखे सिंहासन पर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गए । फिर चतुर्विध संघ, देव, असुर और मनुष्य यथायोग्य द्वार से प्रवेश कर यथायोग्य स्थान में बैठ गए । (श्लोक १२२-१२६)

तब शक्र प्रभु को वन्दना कर पुलकित देही बने निम्नलिखित स्तुति करने लगे :

'मन, वचन, काया को संयमित कर आपने अपने मन को जीता है । इन्द्रिय संयमित नहीं है, असंयमित भी नहीं है इसी सम्यक् ज्ञान से आपने उन पर विजय प्राप्त की है । अष्टांगिक योग तो इसी का परिणाम है । यह अन्यथा होगा भी कैसे ? कारण, शैशवावस्था में ही तो योग आपका स्वभाव था । लम्बे समय तक आप मित्रों और इन्द्रिय विषयों से निरासक्त थे । अरूपी ध्यान भी आपमें स्वाभाविक ही था जो कि साधारण में नहीं पाया जाता । शत्रु यदि किसी का उपकार भी करे तो जैसे वह आनन्दित नहीं होता उसी प्रकार मित्र भी यदि आपका उपकार करे तब भी दुःखी

नहीं होते। आपमें सब कुछ अस्वाभाविक है। अनिष्टकारी भी लाभवान होता है, अनुगामी भी उपेक्षित। इस विपरीत व्यवहार के सम्पर्क में कौन प्रश्न कर सकता है? आपका मन तभी तो ध्यान की इस उच्चता में अवस्थित है कि मैं सुखी या सुखी नहीं हूँ, या दुःखी या दुःखी नहीं हूँ, ऐसे विचार नहीं आते। ध्याता, ध्यान और ध्येय सब एक आत्मा में मिल जाते हैं। ध्यान की ऐसी उच्च अवस्था को अन्य कैसे समझ सकते हैं?’ (श्लोक १२७-१३५)

शक्र की स्तवना के पश्चात् प्रभु ने अपनी देशना प्रारम्भ की जो कि एक योजन तक लुनाई पड़ रही थी—सुविचितागत जी म्हाराज

‘यह संसार विपत्ति का आकर है। जो इसमें डूबा हुआ है उसकी माता-पिता, भाई-बन्धु या अन्य कोई रक्षा नहीं कर सकता। इन्द्र एवं उपेन्द्र भी जब मृत्यु के अधीन हैं तब मृत्यु के भय से ‘मनुष्य की रक्षा कौन कर सकता है? माता-पिता, भाई-बहिन, पुत्र-कन्या देखते ही रह जाते हैं और कर्म द्वारा प्रेरित अनाथ मनुष्य यम मंदिर चला जाता है। मोहाविष्ट मनुष्य परिवार में किसी की मृत्यु हो जाने पर दुःख करता है किन्तु भविष्य में उसका स्वयं का भी यही हाल होगा उस पर दुःख नहीं करता। दावाग्नि दग्ध अरण्य में जिस प्रकार मृग-शावक को आश्रय नहीं है, उसी प्रकार दुःख वेदना से पीड़ित संसार में मनुष्य को भी कहीं आश्रय नहीं है। अष्टविध आयुर्वेद, जीवनदायी उपकरण, मन्त्र-तन्त्र कोई भी उसे मृत्यु से नहीं बचा सकते। चतुर्विध सैन्य द्वारा परिवृत्त और अस्त्र-शस्त्रों द्वारा रक्षित राजा को भी यम के अनुचर दीन-हीन की तरह जबर्दस्ती छीन ले जाते हैं। जिस भाँति गाएँ आदि पशु मृत्यु से बचने का उपाय नहीं जानते उसी प्रकार मनुष्य भी मृत्यु से बचने का उपाय नहीं जानता। बचने की इनकी मूर्खता ही कैसी है! जो लोग अस्त्र द्वारा अपने विरोधी को संसार से हटा देते हैं उन्हें ही यम की भृकुटि के सम्मुख दांतों में तृण धारण करना पड़ता है। यहाँ तक कि शुद्धाचारी मुनिगण भी जो अस्त्र की तरह व्रत धारण करते हैं वे भी मृत्यु का प्रतिरोध नहीं कर सकते। हाय, यह संसार ही अरक्षित है—राजाहीन, नायकहीन। कारण यमरूपी राक्षस इसे ग्रस लेता है। मृत्यु का प्रतिरोध तो धर्म भी नहीं कर सकता, केवल उत्तम गति प्राप्त करने में सहायक बनता है। अतः धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष

में हमें चतुर्थ मोक्ष का ही अनुसरण करना चाहिए। मोक्ष जो कि अनन्त सुखमय है वह श्रामण्य द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

(श्लोक १३६-१४९)

यह उपदेश सुनकर अनेक नर-नारियों ने श्रामण्य ग्रहण किया। बज्रनाभ प्रमुख ११६ गणधर हुए। विधि के अनुसार उन्हें व्याख्यान और गण का आदेश देकर भगवान् ने उन्हें शासन विषयक उपदेश दिए। भगवान् ने उन्हें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य इस त्रिपदी के विषय में बतलाया। गणधरों ने इसी त्रिपदी के अनुसार द्वादशांगी की रचना की। एक प्रहर के पश्चात् देशना से प्रभु विरत हुए। तदुपरान्त राजा द्वारा लाई बलि को आकाश में उत्क्षिप्त किया गया जिसे देवता राजन्यवर्ग और साधारण मनुष्यों ने ग्रहण कर लिया। तदुपरान्त भगवान् वहाँ से उठकर मध्य प्राकार के निकट गए और उत्तर-पूर्व के कोण में रखे देवछन्द पर बैठ गए। तत्र प्रभु के पाद-पीठ पर उपवेशित होकर गणधर बज्रनाभ ने देशना दी। यद्यपि वे श्रुत केवली थे फिर भी लोगों ने उनकी देशना को केवली की भाँति ही सुना। वे द्वितीय प्रहर बीत जाने पर देशना से विरत हुए। तदुपरान्त अहंत् को वन्दना कर देवता आदि सभी स्व-स्व स्थान को चले गए।

(श्लोक १५०-१५६)

उस तीर्थ में भगवान् के शासनदेव यक्षेश्वर उत्पन्न हुए। उनकी देह का रंग काला था, वाहन हाथी था। उनके चार हाथ थे। दाहिने दोनों हाथों में विजोरा और अक्षमाला थी एवं बाएँ दोनों हाथों में नकुल और अंकुश थे। इसी भाँति पद्मासीन कृष्ण-वर्णा कालिका नामक शासन देवी उत्पन्न हुई। उनके दाहिने एक हाथ में पाश और अन्य हाथ वरदमुद्रा में था। बाएँ दोनों हाथों में था क्रमशः सर्प और अंकुश।

(श्लोक १५७-१६०)

तदुपरान्त प्रभु चौतीस अतिशय सहित ग्राम, खान, नगर आदि स्थानों में विचरण करने लगे। उनके संघ में तीन सौ हजार साधु, छह सौ तीस हजार साध्वियाँ, अट्ठानवें हजार अवधिज्ञानी, पन्द्रह सौ पूर्वज्ञानी, ग्यारह हजार छह सौ पचास मनःपर्यायज्ञानी, चौदह हजार केवली, उन्नीस हजार वैक्रिय शक्ति संपन्न, ग्यारह हजार वादी, दो सौ अट्ठासी हजार श्रावक और पाँच सौ सत्ताइस हजार श्राविकाएँ थीं।

(श्लोक १६१-१६६)

केवलज्ञान के पश्चात् आठ अंग और अठारह वर्ष कम एक लाख पूर्व व्यतीत हो जाने पर अपना निर्वाण समय निकट जानकर भगवान् सम्मैत शिखर पहुंचे । देवताओं सहित इन्द्र और राजन्यों द्वारा सेवित भगवान् ने एक हजार मुनियों सहित एक मास का उपवास किया । वैशाख महीने की शुक्ल अष्टमी को चन्द्रमा जब पुष्य नक्षत्र में आया तब भगवान् अभिनन्दन स्वामी और एक हजार मुनि शैलेशीकरण ध्यान से अघाती कर्म क्षयकर जहाँ से पुनः लौटना नहीं पड़े उस मोक्ष घाम को प्रयाण कर गए । भगवान् साढ़े बारह लाख पूर्व तक राजपुत्र रूप में, साढ़े छत्तीस लाख पूर्व और आठ अंग तक राजा रूप में, आठ अंग कम एक लाख पूर्व श्रमण रूप में, पचास लाख पूर्व तक पृथ्वी पर विचरण किया । सम्भव स्वामी के निर्वाण के दस लाख कोड़ सागर के पश्चात् अभिनन्दन स्वामी का निर्वाण हुआ । शक्र ने प्रभु और मुनियों की अन्त्येष्टि क्रियाएँ सम्पन्न की । देव और असुर उनकी दाढ़ें, दांत और अस्थियाँ पूजा के लिए ले गए । नंदीश्वर द्वीप में शाश्वत जिनों की अष्टाह्निका महोत्सव कर इन्द्र और देवगण स्व-स्व विमान को और राजन्य वर्ग स्व-स्व महलों को लौट गए ।

(श्लोक १६७-१७५)

द्वितीय सर्ग समाप्त

तृतीय सर्ग

सम्यक् ज्ञान के मूल, दुस्तर संसार-सागर को अतिक्रम करने में सेतु रूप भगवान् सुमतिनाथ को मैं प्रणाम करता हूँ । उन्हीं के अनुग्रह से संसार के भव्य जीवों के आनन्द रूप वृक्ष को सिंचित करने में जो सक्षम हैं ऐसे आपके जीवन का मैं सम्यक् रूप से वर्णन करूँगा ।

(श्लोक १-२)

जम्बूद्वीप के पूर्व-विदेह को ऐश्वर्य से उज्ज्वल करने वाला पुष्कलावती नामक एक प्रदेश था । उसी प्रदेश में शङ्खपुर नामक एक नगर था जिसका आकाश मन्दिरों एवं महलों की पताकाओं से सुशोभित था । उसी नगर में विजय सेन नामक एक राजा राज्य करते थे । उनका भुजबल इतना प्रबल था कि सेना तो मात्र शोभा के लिए ही अवस्थित थी । उनके सुदर्शना नामक एक रानी थी जो

कि अन्तःपुरिकाओं में अलंकार रूप एवं चन्द्रकला की भाँति सुन्दर थी। कुसुमायुध जिस प्रकार रति के साथ क्रीड़ा करते हैं उसी प्रकार वे भी उसके साथ क्रीड़ा कर समय व्यतीत करते थे।

(श्लोक ३-७)

एक दिन वे अनुचरों सहित उस उद्यान में गए जहाँ उत्सव मनाया जा रहा था अतः नगर के सभी अधिवासी समवेत हुए थे। रानी सुदर्शना भी मानो मूर्तिमती राज्यश्री हों इस प्रकार हाथी पर चढ़कर छत्र-चामर सहित वहाँ गयीं? वहाँ उन्होंने दिक्कन्या-सी सुन्दर बहुमूल्य अलंकारों से भूषित आठ तरणियों द्वारा सेवित एक स्त्री को देखा। अप्सराओं द्वारा जिस प्रकार शची सेवित होती है उसी प्रकार उसे सेवित होते देख रानी महान् आश्चर्य में डूब गई।

(श्लोक ८-११)

यह कौन है और कौन हैं वे जो इसकी सेवा कर रही हैं, जानने के लिए रानी सुदर्शना ने अपने अनुचरों को भेजा। अनुचरों ने पता लगाकर कहा—‘देवी, यह श्रेष्ठी नन्दीसेन की पत्नी सुलक्षणा हैं और वे कन्याएँ सुलक्षणा के दो पुत्रों की चार-चार पत्नियाँ हैं। वे अपनी सास की दासी की भाँति सेवा करने के लिए सदैव व्यग्र रहती हैं।’

(श्लोक १२-१४)

यह सुनकर रानी सुदर्शना सोचने लगी—पुत्रवती, यह श्रेष्ठी-पत्नी ही भाग्यवती है कि उच्चकुलजात सुन्दरी ऐसी पुत्र-बधुएँ प्राप्त की हैं जो कि नाग-कन्याओं की तरह उसकी सेवा कर रही है। और मैं इतनी भाग्यहीन हूँ कि न मेरे पुत्र हैं न पुत्र-बधुएँ। पति-वल्लभा होने पर भी मेरा यह जीवन व्यर्थ ही है। भाग्यवती रमणियों की गोद में ही जिस प्रकार वृक्ष पर मकंद खेलते रहते हैं उसी प्रकार लोधरेणु से लिपटे शिशु हाथ-पाँव चलाते हुए खेलते रहते हैं। फलहीन द्रक्षालता की तरह, जलहीन पर्वत की तरह पुत्रहीन रमणियाँ भी निन्दनीय हैं, दुःखों का कारण हैं। जिसने कभी पुत्र-जन्म, नामकरण, मुण्डन और उसका विवाहोत्सव नहीं मनाया उसके अन्य उत्सवों से प्रयोजन ही क्या है? (श्लोक १५-२०)

ऐसा सोचती हुई शीत-जर्जर कमलिनी की तरह विषण्णवदना रानी सुदर्शना दुःखित हृदय लिए घर लौटीं। उन्होंने परिचारिकाओं को दूर हटा दिया और निर्वल निष्पन्द होकर बिछोने पर लेट गई

मानो अस्वस्थ हो गई हैं। उन्होंने आहार ग्रहण नहीं किया, न बात की, न श्रृंगार किया। केवल अन्तःकरणहीन पुतली की तरह लेटी रही।
(श्लोक २९-३३)

परिचारिकाओं से यह खबर प्राप्त कर राजा उनके पास आए और स्नेहसिक्त कण्ठ से बोले—‘देवी, जब मैं तुम्हारे वश में हूँ तब तुम्हारी कौन-सी इच्छा पूरी नहीं हुई जो मरुभूमि में आई हंसिनी की तरह तुम इतनी दुःखी हो? क्या तुम्हें किसी दुश्चिन्ता ने व्यथित किया है या तुम अस्वस्थ हो? तुम्हारे दुःखों का क्या कारण है मुझे बताओ। तुम्हारे और मेरे मध्य गोपनीय तो कुछ भी नहीं है।’
(श्लोक २४-२७)

सुदर्शना दीर्घ निःश्वास छोड़ती हुई अवरुद्ध कण्ठ से बोली—स्वामिन्, जिस प्रकार कोई आपको अमान्य नहीं करता, आपके प्रताप से उसी प्रकार कोई मुझे भी अमान्य नहीं करता है। मुझे कोई दुश्चिन्ता भी नहीं है, न कोई व्याधि ही है। न मैंने कोई दुःस्वप्न देखा है न कोई अपशकुन हुआ है। अन्य कुछ भी ऐसा नहीं घटित हुआ है जो मुझे दुःखी करे। फिर भी एक विषय मुझे दुःखित कर रहा है कि जिसने पुत्र-मुख नहीं देखा उसका राजऐश्वर्य वृथा है, सांसारिक सुख वृथा है, प्रेम भी वृथा है। धनियों का ऐश्वर्य देखकर दरिद्र जिस प्रकार लुब्ध हो जाता है उसी प्रकार पुत्रवान् रमणी को देखकर मैं भी लुब्ध हो गई हूँ। संसार का समस्त सुख एक ओर रखें और दूसरी ओर पुत्र-प्राप्ति का सुख तो मेरे मन के तुलादण्ड पर जिधर पुत्र-प्राप्ति का सुख है उधर का ही पलड़ा भारी रहेगा। वन के हरिणादि जो कि शावकों द्वारा परिवृत्त हैं मुझ पुत्रहीना से बहुत अधिक सुखी हैं। उनका वह सामान्य सुख भी काम्य है।’
(श्लोक २८-३३)

तब राजा बोले—‘देवी, शान्त हो जाओ। मैं तुम्हारी इच्छा पूर्ति के लिए देवों से प्रार्थना करूँगा। जो शक्ति द्वारा सम्पन्न नहीं होता, ज्ञानियों के लिए भी जो अलभ्य है, जहाँ मन्त्र भी कार्य नहीं करते उसे अन्य प्रकार से तो प्राप्त ही कैसे किया जा सकता है किन्तु, मित्र भावापन्न देव उस कार्य को पूर्ण कर सकते हैं। अतः समझो तुम्हारी इच्छा पूर्ण ही हो गई है। शोक का परित्याग करो। मैं पुत्र-प्राप्ति के लिए निराहार रहकर कुलदेवी की आराधना

कहेगा ।

(श्लोक ३४-३९)

इस प्रकार रानी को सान्त्वना देकर, पवित्र होकर पवित्र वस्त्र धारण कर वे राज-प्रासाद से कुलदेवी के मन्दिर में गए । वहाँ जाकर यह संकल्प कर लिया कि जब तक मुझे पुत्र-प्राप्ति का वर नहीं मिलेगा, निराहार रहकर तब तक देवी की उपासना करता हुआ यहीं बैठा रहूँगा । छठे दिन देवी ने प्रत्यक्ष होकर राजा के पास जाकर कहा—‘वर माँगो ।’ राजा विजयसेन ने देवी को प्रणाम कर कहा—‘माँ, मुझे ऐसा पुत्र दो जो मनुष्यों में श्रेष्ठ हो ।’ देवी ने प्रत्युत्तर दिया—‘एक प्रधान देव स्वर्ग से च्युत हो रहा है वही तुम्हारा पुत्र होगा ।’ यह वर देकर देवी अदृश्य हो गई । राजा ने देवी प्रदत्त इस मंगलमय बात को रानी से कहा । वज्रनाद से बलाका जिस प्रकार हर्षित होती है यह सुनकर रानी भी उसी प्रकार हर्षित हो गई ।

(श्लोक ३८-४३)

स्वर्ग से एक महाशक्तिशाली देव च्युत होकर शुचि-स्नाता रानी के गर्भ में प्रविष्ट हुआ । रानी ने सुप्त अवस्था में एक केशरी सिंह को अपने मुख में प्रवेश करते देखा । डरकर रानी शय्या पर उठ बैठी और राजा को स्वप्न की बात बताई । राजा बोले—‘कुलदेवी प्रदत्त वर रूपी वृक्ष के फलस्वरूप इस स्वप्न से तुम्हारे सिंह-सा विक्रमशाली पुत्र होने का संकेत मिलता है ।’ स्वप्न की यह व्याख्या सुनकर रानी हर्षित हो गई और रात्रि का अवशिष्ट भाग पवित्र धर्मालोचना में व्यतीत किया । गंगाजल से जिस प्रकार स्वर्णकमल वर्द्धित होता है वैसे ही रानी के गर्भ का भ्रूण दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगा ।

(श्लोक ४४-४९)

एक दिन रानी ने अपने मन में उत्पन्न दोहद के विषय में राजा को बताया । बोली—‘मैं समस्त प्राणियों को अभय देना चाहती हूँ । ग्राम-नगर में मैं हिंसा-निषिद्ध की घोषणा करवाना चाहती हूँ ।’ सुनकर राजा बोले—‘देवी, कुलदेवी के वर और स्वप्न से उद्भूत तुम्हारा दोहद गर्भ की शक्ति के कारण कल्याणकारी है । गर्भ के जीव की महानुभावता के कारण ही ऐसा दोहद उत्पन्न हुआ है । कुलदेवी के आदेश से की हुई कुल व्यवस्था कार्यकर होती है ।’ ऐसा कहकर राजा ने सभा को अभय दिया और नगर में ढोल पिटवाकर हिंसा-निषिद्ध की घोषणा करवा दी । दिव्य वाद्यों के

साथ-साथ अष्ट-प्रकारी पूजा सहित हर मन्दिर में अष्टाह्निका महोत्सव करवाया ।
(श्लोक ५०-५५)

दोहद पूर्ति के आनन्द से आनन्दिता रानी का मुख पूर्ण चन्द्र की तरह विकसित हो गया । लता जिस प्रकार फल उत्पन्न करती है, रानी ने भी उसी प्रकार यथासमय एक पुत्र-रत्न को जन्म दिया । राजा ने चिन्तामणि रत्न की तरह हर याचक को प्रार्थित वस्तु दान दी । चन्द्र जिस प्रकार समुद्र को उल्लवमित करता है उसी भाँति आनन्दमना राजा ने पुत्र-जन्म का महामहोत्सव सम्पन्न किया । तदुपरान्त पारिवारिक लोगों की तरह नगर निवासियों ने भी पुत्र-जन्म का उत्सव किया ।
(श्लोक ५६-५८)

रानी के स्वप्नानुसार राजा ने पुत्र का नाम पुरुषसिंह रखा । धात्रियों द्वारा पालित होकर माता-पिता और प्रजा की इच्छा के अनुरूप नवजातक क्रमशः बड़ा होने लगा । चन्द्र जिस प्रकार कला को प्राप्त करता है उसी प्रकार उसने भी समस्त कलाएँ अधिगत कर लीं और कामदेव के क्रीड़ा उद्यान रूप यौवन को प्राप्त किया । कुल, कला और सौन्दर्य में उसके अनुरूप आठ राज कन्याओं के साथ उस दीर्घबाहु का विवाह कर दिया गया । देव जिस प्रकार अप्सराओं के साहचर्य में सुख-भोग करते हैं वैसे ही पुरुषसिंह भी आठों पत्नियों के साथ इन्द्रिय सुख भोग करने लगे ।

(श्लोक ५९-६३)

इच्छानुरूप क्रीड़ा करने के लिए पुरुषसिंह एक दिन मानो मूर्त बसन्त या स्वयं कामदेव हो इस प्रकार उद्यान में विहार करने गया । वहाँ उसने प्रशान्तचित्त और रूप में अतंग को भी परास्त करने वाले विनयनन्दन नामक एक मुनि को देखा । उन्हें देखते समय लगा जैसे वह अमृत पान कर रहा है । अतः उसके नेत्र, हृदय देह के अन्यान्य भाग आनन्द से उत्फुल्ल हो उठे । वह सोचने लगे ।

(श्लोक ६४-६६)

गणिका के पास रहकर भी पत्नी के प्रति आनुगत्य रखना, दस्युओं के पास रखी गई धरोहर का रक्षित रहना, स्त्री राक्षसी के समीप आत्म-प्रशान्ति को बनाए रखना उत्तम व्रतों का हा परिणाम है जिसके फलस्वरूप उन्होंने स्थिर यौवन और अप्रतिम सौन्दर्य को प्राप्त किया है जो कि हमारे भीतर आनन्द का उद्रेक कर रहा है ।

शीतकाल में शीत सहना पड़ता है, ग्रीष्मकाल में ग्रीष्म का उत्ताप, वर्षाकाल में मूसलाधार वर्षा के झोके; किन्तु, यौवन में केवल भोग ही किया जाए ऐसा नहीं। अतः भाग्यवश ही पुण्य कर्म के फलस्वरूप मैंने गुरु व माता-पिता की भाँति आनन्ददायी इनका साक्षात् दर्शन प्राप्त किया। (श्लोक ६७-७१)

ऐसा सोचकर कुमार ने विनयानन्दन मुनि के निकट जाकर आनन्द चित्त से वन्दना की। मुनि ने भी आनन्द के अंकुर को उद्गमित करने के लिए वारितुल्य धर्मलाभ द्वारा उन्हें आनन्दित किया। कुमार उन्हें पुनः वन्दन कर बोला—‘इस अल्पवय में आपने महाव्रत ग्रहणकर सभी को आश्चर्यचकित कर दिया है।’ इस उम्र में आप विषय-सुख से विरक्त हुए हैं इसी से विषय-सुख रूपी किपाक-फल का भयावह परिणाम हम जान सकते हैं। इसके अतिरिक्त हम यह भी जान गए हैं कि संसार में किसी भी वस्तु का कोई मूल्य नहीं है। तभी आप जैसे व्यक्ति इन्हें परित्याग करने का प्रयत्न करते हैं। आप मुझे संसार को कैसे अतिक्रम किया जा सकता है इसका उपदेश दें। सार्थवाह जैसे पथिक को अपने पथपर ले जाता है आप भी हमें उसी प्रकार अपने पथ पर ले चले। पर्वत पर पत्थर लाने गए हुए किसी को जिस प्रकार हीरा प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार इन्द्रिय सुख के लिए आये हुए मुझे आप जैसे महामुनि का साक्षात्कार हुआ।’ (श्लोक ७२-७८)

कुमार के द्वारा इस प्रकार अनुरुद्ध होकर कन्दर्प शत्रु उन महामुनि ने मेघमन्द्र स्वर में कुमार को उपदेश दिया : (श्लोक ७९)

‘भूत-प्रेत को बुलाने की क्षमता प्राप्त कर जिस प्रकार ओझागण उन्हें अपना दास बना लेते हैं उसी प्रकार मैंने तप के द्वारा मान के उत्स रूप यौवन-शक्ति और सौन्दर्य को शमित किया है। संसार-सागर को अबाध रूप में अतिक्रम करने में जिन-प्रवक्त यतिधर्म ही निर्भरयोग्य नौका है। संयम, सुनृत, शीघ्र, अकिंचनत्व, तप, क्षान्ति, मार्दव, आर्जव और मुक्ति यही दस यतिधर्म हैं। संयम अर्थात् जीव-हिंसा नहीं करना, सुनृत अर्थात् झूठ नहीं बोलना, शीघ्र अर्थात् अदत्तादान ग्रहण नहीं करना, ब्रह्मचर्य अर्थात् नौ वृत्ति सहित इन्द्रिय संयम, अकिंचनता अर्थात् शरीर के प्रति अनादर। तप—तपस्या दो प्रकार की है—बाह्य और आभ्यन्तरिक। बाह्यतप

—अनशन (उपवास), ऊतोदरी (अल्पाहार), वृत्ति संक्षेप (आहार्य वस्तुओं की संख्या कम करना), रसत्याग (गरिष्ठ भोजन परिहार), काय-क्लेश (शारीरिक कष्ट सहन करना), संलीनता (शरीर संकुचित कर निर्जन स्थान में बैठना) । आभ्यन्तर तप—प्रायश्चित्त (कृत द्रुष्कर्मों का अनुताप व दण्ड ग्रहण), विनय, वैयावृत्य (पीड़ितों व आत्त जनों की सेवा), स्वाध्याय (मनन), व्युत्सर्ग (शरीर के प्रति ममता त्याग), ध्यान । क्षान्ति अर्थात् क्रोधादि दमन या क्षमा, मार्दव अर्थात् मान विजय या अहंकार का त्याग, आर्जव अर्थात् माया परित्याग-जनित मन-वचन-काया की सरलता, मुक्ति अर्थात् बाह्य और आभ्यन्तरिक परिग्रह एवं तृष्णा का परित्याग । इस प्रकार के दशविध यतिधर्म का जो कि संसार-सागर को अतिक्रम करने में चिन्तामणि रत्न-तुल्य हैं ज्ञानी व्यक्ति अबलम्बन लेते हैं ।' (श्लोक ८०-९०)

इस देशना को सुनकर पुरुषसिंह ने विनम्र भाव से कहा—'दरिद्र को धन दिखाने की भाँति आपने मुझे धर्म दिखाया । गृहस्थ इस धर्म का पालन नहीं कर सकते कारण गार्हस्थ संसार रूपी वृक्ष के दोहद तुल्य हैं । हे भगवन्, अतः आप मुझे धर्म के निवास रूप प्रासाद तुल्य श्रामण्य दीजिए । संसार रूपी दरिद्र ग्रामवास से मैं वीतश्रद्ध हो गया हूँ ।' (श्लोक ९१-९३)

यह सुनकर विनयनन्दन सूरि बोले—'तुम्हारी यह अभिलाषा उत्तम और धर्मरूप सम्पदा को प्रदान करने वाली है । उत्तम स्वभाव सम्पन्न, बुद्धिमान्, विचक्षण और दृढ़प्रतिज्ञ तुम व्रत ग्रहण करने के उत्तम अधिकारी हो । हम तुम्हारी इच्छा पूर्ण करेंगे । तुम जाओ और अपने शुभकामी माता-पिता का आदेश लेकर आओ । कारण संसार में वे ही पूजनीय होते हैं ।' (श्लोक ९४-९६)

तब पुरुषसिंह ने जाकर माता-पिता को प्रणाम किया और करबद्ध होकर विनीत भाव से बोला—'आपलोग आज्ञा दीजिए मैं व्रत ग्रहण करूँ ।' वे बोले—'पुत्र, श्रामण्य तो उपयुक्त हैं; किन्तु जिन पाँच महाव्रतों का तुम्हें पालन करना होगा वे बहुत कठिन हैं । शरीर के प्रति ममता त्याग, रात्रि-भोजन का परिहार, द्रव्यालस दोषों से रहित आहार का ग्रहण करना, सर्वदा उत्साही, राग-रहित, परिग्रह-रहित, धर्म निरत होकर तुम्हें पाँच सभितियों और तीन

गुप्तियों का पालन करना पड़ेगा। द्रव्य, स्थान, काल, भाव की पर्यालोचना कर यथा नियम एक-एक महीने की प्रतिमा तुम्हें धारण करनी पड़ेगी। जब तक जीवित रहोगे स्नान नहीं कर सकोगे, धरती पर सोना होगा, केशोत्पाटन करना होगा, देह-यत्न रहित होना होगा और गुरु के साथ रहकर समभाव से कृच्छता और उपसर्गों को सहन कर १=००० प्रकार का सम्यक् चारित्र्य पालन करना होगा। हे सुकुमार राजपुत्र, श्रामण्य ग्रहण कर तुम्हें इन लोहे के चनों को सदैव चवाना पड़ेगा। मात्र बाहुओं के सहारे दुस्तर संसार-समुद्र को अतिक्रम करना होगा। नंगे पैर तेज धार वाली तलवार की धार पर चलना होगा। अग्निशिखा पीनी होगी। मेरु पर्वत को तुलादण्ड पर तोलना होगा और बाढ़-विक्षुब्ध गंगा को प्रतिकूल प्रवाह में पार करना होगा। तुम्हें अकेले ही दुर्घर्ष शत्रुओं को परास्त करना होगा व घूर्णमान चक्र के भीतर राधावेध को विद्ध करना होगा। आजीवन श्रामण्य ग्रहण करने के लिए अनुपम चारित्र्य, अनुपम तितिक्षा, अनुपम बुद्धि और अनुपम शक्ति आवश्यकीय है।' (श्लोक ९७-१०८)

यह सुनकर कुमार विनीत भाव से बोले—'पूज्यवर, श्रामण्य वैसा ही है जैसा आप बता रहे हैं; किन्तु मेरा कहना है गार्हस्थ धर्म को पालन करने में जिस दुःख का अनुभव होता है उसके शतांश के एक अंश का भी क्या श्रामण्य धर्म पालन करने में होता है? जैसे नरक की यंत्रणा जो कि कहने में भी दुष्कर है, सुनने भी दुष्कर है उसके विषय में तो नहीं कहता पर इस संसार में भी जीव को बद्ध होने की, हत्या कर दिए जाने की, प्रहार किए जाने की यंत्रणा सहनी होती है। मनुष्य को कितने प्रकार की आधि-व्याधि से पीड़ित होना पड़ता है, उन्हें कारागार में डाल दिया जाता है, अंग-भंग कर दिया जाता है, चमड़ा उतार लिया जाता है, आग में जला दिया जाता है, शिरच्छेद कर दिया जाता है यहाँ तक कि देवों को भी मित्त-विरह, शत्रु द्वारा अपमान, च्यवन का ज्ञान आदि महाकष्टों को सहना पड़ता है।' (श्लोक १०९-११४)

यह सुनकर सन्तुष्ट बने माता-पिता ने उन्हें श्रामण्य ग्रहण की अनुमति दे दी और 'जय-जय' शब्द से उन्हें अभिनन्दित किया। उनके पिता ने अभिनिष्क्रमणोत्सव किया और कुमार भी जिस प्रकार

फल के लिए लोग वृक्ष के निकट जाते हैं उसी भाँति दीक्षा के लिए मुनि के निकट गए। मुनि चरणों में दीक्षा ग्रहण कर पुरुष सिंह ने संसार को उत्तीर्ण करने में नौका तुल्य श्रामण्य ग्रहण किया। राजा जिस प्रकार अपने राज्य की रक्षा करता है वे भी उसी प्रकार अति-चार परिहार एवं समस्त जीवों की सुरक्षा की कामना करते हुए श्रामण्य धर्म का पालन करने लगे। बीस स्थानकों में कई स्थानकों की आराधना कर उन्होंने तीर्थंकर गोत्र कर्म उपार्जन किया। बहुत दिनों तक प्रव्रजन करते हुए अनशन से देह त्याग कर वे वैजयन्त विमान में देव रूप में उत्पन्न हुए। (श्लोक ११५-१२०)

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में शक्तिमान और धनशालियों की निवास भूमि विनीता नामक एक नगरी थी। उसके प्राकार शीर्ष रोप्य-मण्डित होने के कारण ऐसे लगते मानो वे अन्य द्वीप से लाए चन्द्र द्वारा निर्मित हों। रत्न निधान वह नगरी रोप्य प्राकारों से ऐसी लगती मानो सुरक्षा के लिए शेष नाग द्वारा चक्राकार में परिवेष्टित हो गई है। रत्न-जड़ित छत पर चन्द्रप्रतिबिम्बित होने से दधि भ्रम में गृह-मार्जार उसे चाटती यहाँ तक कि नगर के क्रीड़ा-शुक भी सर्वदा अर्हत, देव, गुरु और साधु शब्दों का उच्चारण करते रहते कारण प्रति गृह में वे ये ही शब्द सुनते रहते थे। हर घर से जो अगरु की धूम-शिखा निकलती थी वह आकाश में तमाल वृक्ष का भ्रम उत्पन्न करती थी। विनीता के उद्यान धारा-यंत्रों से उत्क्षिप्त जल-कणिकाओं के धूम्र से इस भाँति आवृत्त रहते कि शैत्य के भय से सूर्य वहाँ प्रवेश ही नहीं कर पाते। (श्लोक १२१-१२७)

उस नगरी में इक्ष्वाकुवंश के तिलक रूप मेघ-से सबको आनंद देने वाले मेघरथ नामक एक राजा राज्य करते थे। उनका अतुल वैभव दरिद्रों के लिए व्यय होते रहने पर भी नहर के जल की भाँति वह नियत वृद्धिगत होता रहता। राजालोग देव समझकर पंचांगों से भूमि-स्पर्श पूर्वक उन्हें प्रणाम करते और वस्त्र, रत्न, अलंकारादि उपहार देते। उनके प्रताप ने मध्याह्न का सूर्य जैसे देह की छाया को संकुचित करता है उसी प्रकार शत्रुओं के प्रताप को संकुचित कर दिया था। वैभव, शान्ति और पराक्रम में वे पैसठवें इन्द्र की भाँति सुशोभित होते। (श्लोक १२८-१३२)

समस्त मंगलों के निधान धर्म की पताका मानो द्वितीय गृह-

लक्ष्मी हो ऐसी उनकी महारानी का नाम था सुमंगला । वे अपने पति के हृदय में निवास करती थीं, पति उनके हृदय में । अतः मानो वे एक देह में ही स्थित थे । चाहे प्रासाद हो या उद्यान, या कहीं विचरण कर रही हो वे देवता की तरह अपने पति का ही ध्यान करती रहती थीं । रूप और लावण्य में वे अप्सराओं को भी पराजित करती थीं । उन दुनयना का मुख-सौन्दर्य चन्द्र को भी अतिक्रमण करता था । उनकी अनुपम आकृति और सौन्दर्य रत्न और अंगूठी की भाँति एक दूसरे को शोभान्वित करते थे । पौलोमी के साथ जिस प्रकार महेन्द्र सुख-भोग करता है उसी प्रकार राजा उनके साथ अनंत सुख भोग करते । (श्लोक १३३-१३८)

पुरुष सिंह के जीव ने वैजयन्त विमान में तैंतीस सागर की आयु पूर्ण की । श्रावण शुक्ला द्वितीया के दिन चन्द्र जब मघा नक्षत्र में था उन्होंने विमान से च्वय कर सुमंगला देवी के गर्भ में प्रवेश किया । सुमंगला देवी ने हस्ती आदि १४ महास्वप्न देखे जो कि तीर्थंकर के जन्म को सूचित करता था । पृथ्वी जिस भाँति रत्न को गर्भ में धारण करती है उसी प्रकार सुमंगला देवी ने त्रिलोकनाथ को गर्भ में धारण किया । (श्लोक १३८-१४२)

उसी समय एक धनाढ्य व्यवसायी ने अपनी दोनों पत्नियों को लेकर व्यवसाय के लिए दूर विदेश में गमन किया था । उसकी दोनों पत्नियाँ देखने में प्रायः एक सी थीं । उनमें से एक ने राह में एक पुत्र को जन्म दिया । उसका दोनों ने मिलकर लालन-पालन किया । धन-उपार्जन कर व्यवसायी जब घर लौट रहा था उसी समय हठात् वह मर गया । भाग्य ऐसा ही अनिश्चित होता है । उसकी पत्नियों ने अश्रुसिक्त मुख लिए उसकी अन्त्येष्टि क्रिया संपन्न की । तदुपरान्त दूसरी पत्नी पुत्र की माँ के साथ झगड़ा करती हुई बोली— 'यह पुत्र और सम्पत्ति मेरी है ।' पुत्र की माँ और विमाता जिनमें एक पुत्र को और दूसरी पुत्र और सम्पत्ति पाना चाह रही थी अतिशीघ्र अयोध्या लौटी । वहाँ उन्होंने स्व-परिवार एवं अन्य परिवारों के सम्मुख अपना विवाद रखा; किन्तु कोई भी इसका समाधान नहीं दे सका । इस विवाद को लेकर तब वे राजा के पास गयीं । राजा ने उन्हें राज-सभा में बुलाया और विवाद का कारण बताने को कहा । (श्लोक १४३-१५०)

विमाता बोली—‘इस विवाद की बात नगर के सभी लोग जानते हैं किन्तु कोई इसका समाधान नहीं दे पा रहा है। भला दूसरे के दुःख से कौन दुःखी होता है? अतः अब अन्य के सुख से सुखी और अन्य के दुःख से दुःखी धर्म के प्रतिनिधि आपके सम्मुख उपस्थित हुई हूँ। यह मेरी अपनी सन्तान है। देखने में भी मेरे ही जैसा है और इसका लालन-पालन भी मैंने ही किया है। अतः यह सम्पत्ति भी मेरी है कारण सम्पत्ति उसी की होती है जिसकी संतान होती है।’ (श्लोक १५१-१५३)

बालक की माँ बोली—‘यह बालक मेरा है, सम्पत्ति भी मेरी है। वह पुत्रहीना मेरी सीत है। अर्थलाभ के लिए यह झगड़ रही है। मैंने अपनी सरलता के कारण पुत्र के लालन-पालन से उसे रोका नहीं। स्नेहवशतः तकिया लिए वह उसके पैरों तले सोयी रहती। अतः अब आप न्याय करिए। राजा का विचार अच्छा हो या बुरा वह अलंघ्य होता है।’ (श्लोक १५४-१५६)

उसके इस प्रकार कहने पर राजा ने सोचा—ये दोनों देखने में एक-सी ही हैं मानो एक ही वृन्त पर उत्पन्न हुई हों। यदि इनके चेहरे में पार्थक्य रहता तब तो बालक जिसके जैसा होता उसी का कहा जाता। किन्तु यह तो दोनों के ही अनुरूप है। बालक अभी छोटा है अतः वह बता नहीं सकता कि उसकी माँ कौन है और विमाता कौन है। जिस समय राजा इस विचार में मगन थे तभी उन्हें कहा गया कि मध्याह्न का समय हो गया है, आहारादि नित्य कर्म करने पड़े हैं। सभासदों ने भी कहा—‘इन दोनों के विवाह का निर्णय हम छह महीने में भी नहीं कर पाए हैं अतः आहारादि नित्य कर्म की अवहेलना करना उपयुक्त नहीं है। इसलिए आहारादि के पश्चात् ही विचार किया जा सकता है।’ राजा ने भी ‘ऐसा ही हो’ कहकर सभा विसर्जित कर दी। (श्लोक १५७-१६३)

आहारादि के पश्चात् राजा अन्तःपुर गए। रानी सुमंगला ने आहारादि का समय व्यतीत हो जाने पर आने का कारण पूछा। तब राजा ने दोनों सौतों के विवाद की बात बताई। यह सुनकर गर्भ के प्रभाव से उनकी मति प्रेरित होने के कारण वे बोली—महाराज स्त्रियों के विवाद को स्त्रियाँ ही सहज रूप में हल कर सकती हैं अतः इस पर विचार करने का भार आप मुझ पर छोड़ दें। राजा

चकित होकर रानी को लिए राज-सभा में पहुंचे । दोनों सौतों को बुलाया गया । उन्होंने भी पूर्व की भाँति ही अपना वक्तव्य दिया । रानी बादी और प्रतिवादी का विवरण सुनकर बोली—‘मेरे गर्भ में तीन ज्ञान के धारक तीर्थंकर हैं । जब वे जन्म ग्रहण करेंगे तब अशोक वृक्ष के नीचे वे ही इसका निर्णय करेंगे । तुम लोग तब तक के लिए प्रतीक्षा करो ।’ (श्लोक १६४-१६९)

सौतेली माँ ने यह बात गाल ली; किन्तु सगी माँ ने स्वीकार नहीं किया । बोली—‘महारानी, मैं इतने दिनों तक प्रतीक्षा नहीं कर सकती । आप अभी इसका निर्णय कीजिए । इतने दीर्घ समय तक अपने पुत्र को मैं सौतेली माता के अधीन नहीं कर सकती ।’

(श्लोक १७०-१७१)

उसकी बात सुनकर महारानी ने अपना निर्णय सुनाया—‘यही पुत्र की माँ है, कारण, बिना पुत्र के वह बहुत दिनों तक नहीं रह सकती । सौतेली माँ रह सकती है क्योंकि वह उसका पुत्र नहीं है और धन तो दोनों का ही है । पुत्र निर्णय का विलम्ब माँ कैसे सह सकती है ? तुम विलम्ब नहीं सह सकती हो अतः यह पुत्र तुम्हारा है, तुम पुत्र को लेकर घर चली जाओ । यह पुत्र उसका नहीं है यद्यपि वह इसको चाहती है और इसका लालन-पालन भी किया है । पिक-शावक काक द्वारा पालित होने पर भी कोयल ही होता है ।’

(श्लोक १७२-१७६)

गर्भ के प्रभाव से जब महारानी ने अपना निर्णय सुनाया तो चतुर्विध-सभा आश्चर्य-चकित हो गई । उस बालक की माँ और सौतेली माँ प्रभात और सन्ध्या के उन्मीलन और निमिलनकारी पद्म की तरह उत्फुल्ल और मलिन होकर दोनों घर लौट गई ।

(श्लोक १७७-१७८)

शुक्लपक्ष का चन्द्र जिस प्रकार कला में बढ़ता जाता है उसी प्रकार गर्भ क्रमशः बढ़ता गया । रानी को उसमें बिल्कुल कष्ट नहीं हुआ । उसे लगा जैसे वह प्रतिदिन ह्रास होता जा रहा है । नौ महीने साढ़े सात दिन व्यतीत हो जाने पर वैशाख शुक्ला अष्टमी को चन्द्रमा जब मघा नक्षत्र में आया तब सुमंगला देवी ने पूर्व दिशा जिस प्रकार चन्द्र को जन्म देती है उसी भाँति एक पुत्र-रत्न को जन्म दिया । प्रसव के समय उन्हें जरा भी कष्ट नहीं हुआ । पुत्र

का वर्ण सुवर्ण-सा था और क्रीच लाञ्छन-युक्त था । मुहूर्त शर के लिए त्रिलोक में दिव्य प्रकाश फैल गया और नारकी जीवों को भी आनन्द प्राप्त हुआ । शक्र का सिंहासन कम्पित हुआ ।

(श्लोक १७९-१८२)

दिक्-कुमारियों ने उनका जन्म-कार्य सम्पन्न किया और शक्र उन्हें मेरु पर्वत पर ले गया । अच्युतादि त्रैलोक्य इन्द्रों ने शक्र की गोद में उपविष्ट प्रभु को तीर्थजल से अभिषिक्त किया । तदुपरान्त ईशानेन्द्र की गोद में बैठकर शक्र ने स्फटिक निर्मित चार वृषभों के शृङ्गों से निकलते जल से प्रभु का अभिषेक किया । चन्दनादि लेपन के पश्चात् उन्हें स्नानाभिरुणादि पहनाकर पूजा की और इस प्रकार स्तुति करने लगे :

(श्लोक १८३-१८६)

‘हे भगवन्, आपके जन्म-कल्याणक में भाग लेकर मैं धन्य हो गया हूँ । वह पृथ्वी ही क्या जहाँ आपके चरण-कमल न पड़े हों ! आपको देखने के आनन्द से नेत्र सार्थक हो गए हैं, आपकी पूजा कर हाथ अपने करणीय कार्य को कर सुसिद्ध हो गए हैं । बहुत दिन पश्चात् आपका स्नानाभिषेक और चन्दनादि कर मेरी कामना चरितार्थ हो गई है । हे भगवन्, अब तो मैं संसार को ही अच्छा कह सकता हूँ जहाँ आपके दर्शन ही मुक्ति के कारण हैं । स्वयंभूरमण समुद्र की तरंग की गणना की जा सकती है; किन्तु आप जैसे अलौकिक शक्तिधारी के गुणों की वर्णना मेरे द्वारा सम्भव नहीं है । हे धर्म रूप गृह के स्तम्भ, हे संसार को प्रकाशित करने वाले सूर्य, हे अनुकम्पा रूप लता को धारण करने वाले महावृक्ष, हे जगन्नाथ, इस संसार की रक्षा कीजिए । हे भगवन्, आपकी देशना निर्वाण रूप दरवाजे को खोलने में कुञ्जी की भाँति है, जिसे भव्य जन ही श्रवण करते हैं । आपकी आकृति उज्ज्वल दर्पण की भाँति मेरे हृदय में प्रतिबिम्बित होकर निर्वाण का कारण बने ।’

(श्लोक १८७-१९४)

इस भाँति स्तवना कर वे प्रभु को गोद में लेकर शून्य पथ से देवी सुमंगला के कक्ष में आए और प्रभु को उनके पास सुलाकर अपने आवास को लौट गए ।

(श्लोक १९५)

जब वे माँ के गर्भ में थे तब माँ की मति प्रखर हो गई थी अतः प्रभु के पिता ने उनका नाम रखा सुमति । इन्द्र नियुक्त

घात्रियों द्वारा पालित होकर प्रभु ने बाल्यकाल व्यतीत कर यौवन प्राप्त किया। तीन सौ धनुष दीर्घ, विस्तृत स्कन्ध, जङ्घा पर्यन्त लम्बित शाखा-सी बाहुओं के कारण वे साक्षात् कल्पवृक्ष-से लगते थे। प्रभु के सौन्दर्य रूपी सलिल में रमणियों के नेत्र सर्वदा मत्स्य की भाँति क्रीड़ा करते थे। भोग कर्म अवशेष समझकर और पिता के आग्रह से उन्होंने सुन्दर राजकन्याओं के साथ विवाह कर लिया। उन्होंने राजा रूप में २९ लाख पूर्व और १२ अङ्ग तक वैजयन्त विमान की भाँति आनन्द में समय व्यतीत किया। (श्लोक १९६-२०२)

स्वयं सम्बुद्ध और लोकान्तिक देवों द्वारा प्रतिबुद्ध भगवान् सुमति ने एक वर्ष व्यापी दान दिया। दीक्षा ग्रहण की अभिलाषा व्यक्त की। एक वर्ष व्यतीत हो जाने के पश्चात् सिंहासन कम्पित होने से इन्द्र और राजाओं द्वारा प्रभु का महाभिनिष्क्रमण आयोजित हुआ। प्रभु अभयंकरा पालकी पर आसीन होकर देव, असुर और राजाओं द्वारा परिवृत्त सहस्राम्रवन उद्यान में गए। वैशाख शुक्ला नवमी के अपराह्न में चन्द्र जब मघा नक्षत्र में था उन्होंने अपने अनुयायी एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा के साथ-साथ मानो दीक्षा का अनुज हो इस प्रकार प्रभु को मनः-पर्यव ज्ञान उत्पन्न हुआ। विजयपुर के राजा पद्म के घर खीराक्ष ग्रहण कर प्रभु ने चार दिनों के उपवास का पारणा किया। देवताओं ने रत्नादि पाँच दिव्य प्रकटित किए और राजा पद्म ने पूजा के लिए रत्न-वेदिका का निर्माण किया। विविध व्रत-ग्रहण और परिषद् सहन कर प्रभु ने बीस वर्षों तक प्रव्रजन किया।

(श्लोक २०३-२१०)

ग्राम, खान आदि में विचरण करते हुए प्रभु सहस्राम्रवन उद्यान में पहुंचे जहां उन्होंने दीक्षा ग्रहण की थी। प्रियंगु वृक्ष के नीचे एक दिन प्रभु जब ध्यान कर रहे थे तब अष्टम गुणस्थान से क्रमशः आरोहण करते हुए उन्होंने अपने घाती कर्मों को क्षय किया। चैत्र शुक्ला एकादशी को चन्द्र जब मघा नक्षत्र में अवस्थित था तब दो दिनों के उपवास के पश्चात् उन्हें उज्ज्वल केवल ज्ञान प्राप्त हुआ।

(श्लोक २११-२१३)

इन्द्र का सिंहासन कम्पित होने से प्रभु को केवल-ज्ञान हुआ है यह अवगत कर देव और असुर वहाँ आए और उनकी देशना के

लिए समवसरण की रचना की। प्रभु ने पूर्व द्वार से प्रवेश किया और एक कोश अर्थात् सोलह सौ धनुष दीर्घ चैत्यवृक्ष की प्रदक्षिणा दी। तदुपरान्त 'नमो तित्थाय' कहकर वे पूर्वाभिमुख होकर सिंहासन पर बैठ गए। देवों ने अन्य तीन ओर उनकी प्रतिकृति रखी। देव, असुर और मानव यथास्थान खड़े हो गए। शक्र भगवान् की वन्दना कर इस प्रकार स्तुति करने लगे : (श्लोक २१४-२१७)

'आपके गुणों से आनन्दित अशोक वृक्ष भ्रमरों के गुञ्जन के रूप में मानो गान कर रहा है, पल्लवों के आन्दोलन से मानो नृत्य कर रहा है। आपकी समवसरण भूमि पर देव एक योजन पर्यन्त जिनके वृन्त नीचे रहे ऐसे फूलों की दुन्दुबियों तक वर्षा की। गालव्र कौशिकी आदि ग्राम और राग से पवित्र आपकी दिव्य ध्वनि को वे आनन्द से हरिण की भाँति ग्रीवा ऊँची कर सुनते हैं। चन्द्र कौमुदी-सी श्वेत चँवर श्रेणियाँ आपके मुख-कमल के चारों ओर उड्डीयमान हंस पंक्ति-सी लगती हैं। आप जब सिंहासन पर बैठकर देशना देते हैं तब मानो सिंह की सेवा करने आए हैं ऐसे हरिण उसे सुनने आते हैं। चन्द्र जिस प्रकार प्रभा-मण्डल से परिवृत्त रहता है उसी प्रकार आप भा-मण्डल से परिवृत्त चकोर रूपी नेत्रों को आनन्दित करते हैं। हे त्रिभुवनपति, आकाश में देव-दुन्दुभि निनादित होकर पृथ्वी के राजाओं पर आपके एकछत्र आधिपत्य को व्यक्त करती है। त्रिजगत पर आपके आधिपत्यसूचक एक के ऊपर एक त्रिछत्र धर्म के सोपान रूप हैं। आपका दिव्य अतिशय रूप देखकर हे भगवन् कौन आश्चर्यचकित नहीं होता ? यहाँ तक कि मिथ्यात्वी तक भी।' (श्लोक २१८-२२६)

इस प्रकार स्तुति कर शक्र के नीरव होने पर भगवान् सुमतिनाथ ने सर्वभाषा बोधगम्य देशना देनी प्रारम्भ की :

'जो व्यक्ति हिताहित और कार्याकार्य समझने की क्षमता प्राप्त कर चुके हैं उनका कर्त्तव्य-पालन में उपेक्षा करना उचित नहीं है। स्व शरीर सम्बन्धी या पुत्र मित्र स्त्री आदि से सम्बन्धित जो कार्य किया जाता है वह सबका सब परक्रिया है निज की क्रिया नहीं है। जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मृत्यु को प्राप्त होता है। अकेला ही पूर्व संचित कर्मों का फल भोग करता है। जिस विपुल वित्त को वह संग्रह करता है, उसे समस्त परिजन भोगते

है; किन्तु उसके संग्रह में जो कर्मबन्धन उसने किया है उसका फल वह अकेला ही भोगता है। दुःख रूपी दावानल से भयंकर इस विशाल संसार रूपी अटवी में कर्म के वशीभूत होकर वह अकेला ही विचरण करता है। यदि कोई कहता है आत्मीय परिजन उसके संगी नहीं होने पर भी शरीर उसका साथी है कारण उसी से वह सुख-दुःख का अनुभव करता है तो वह कथन भी ठीक नहीं है कारण शरीर भी पूर्व जन्म से नहीं आता या परजन्म में साथ नहीं जाता, तब इस सहसा प्राप्त शरीर का साथी कैसे कहा जा सकता है।

(श्लोक २२७-२३४)

‘यदि कहा जाए धर्म-अधर्म इसका साथी है तो वह भी ठीक नहीं है कारण मोक्ष के लिए धर्म-अधर्म भी कोई सहायता नहीं देते। अतः जीव संसार में शुभ और अशुभ कर्म कर अकेला ही परिभ्रमण करता है और शुभ और अशुभ कर्म का फल भोगता रहता है। तभी तो मोक्ष रूपी महाफल जीव अकेला ही प्राप्त करता है पर-संयोग का तो एकदम ही वहाँ अभाव है अतः संगी का तो प्रश्न ही नहीं उठता। जिस प्रकार संसार का जो दुःख वह अकेला ही भोगता है उसी प्रकार मोक्ष जनित सुख भी वह अकेला ही प्राप्त करता है। इसमें कोई संगी नहीं है। बिना कुछ लिए व्यक्ति जिस प्रकार एक मुहूर्त्त में नदी पार कर दूसरे किनारे पर चला जाता है उसी प्रकार परिग्रह, धन, देहादि में आसक्ति हीन जीव मुहूर्त्त मात्र में संसार समुद्र को अतिक्रम कर जाता है। अतः समस्त सांसारिक सम्बन्ध परित्याग कर शाश्वत सुखमय मोक्ष प्राप्ति के लिए जीव को एकाकी प्रयत्न करना उचित है।’

(श्लोक २३५-२४१)

भगवान् की देशना सुनकर बहुत-से नर-नारियों ने आसक्ति रहित होकर व्रत ग्रहण किए। उनके चमरादि एक सी गणधर हुए। भगवान् से उन्होंने त्रिपदी प्राप्त कर द्वादशांगी की रचना की। प्रथम प्रहर बीत जाने पर प्रभु ने देशना देनी वन्द की। तब आपके मुख्य गणधर आपके पाद पीठ पर बैठकर देशना देने लगे। द्वितीय प्रहर बीत जाने पर वे भी देशना से विरत हुए। भगवान् को वंदना कर सभी अपने-अपने निवास को लौट गए। (श्लोक २४२-२४५)

भगवान् के तीर्थ में श्वेतवर्ण गरुड़-वाहन तुम्बुरु नामक शासनदेव उत्पन्न हुए। उनके दाहिने दोनों हाथों में एक हाथ में

वरछी और अन्य हाथ वरद् मुद्रा में था। बाएँ दोनों में एक हाथ में गदा और दूसरे में पाश था। इसी प्रकार पदम-वाहना स्वर्णवर्णा महाकाली नामक शासनदेवी उत्पन्न हुई। उनके दाहिने हाथ के एक हाथ में पाश और दूसरा वरद्मुद्रा में था। बाएँ हाथ के एक हाथ में विजोरा नीबू और दूसरे में गदा थी। (श्लोक २४६-२४९)

भगवान् की वाणी पैंतीस अतिशयों से युक्त थी। इस प्रकार भव्य जीवों को प्रमुदित करते हुए वे पृथ्वी पर विचरण करने लगे। प्रभु के संघ में ३,२०,००० साधु, ५,३०,००० साध्वियाँ, २,४०० चतुर्दश पूर्वी, ११,००० अवधिज्ञानी, १०,४५० मनःपर्यवज्ञानी, १३,००० केवली, १८,४०० वैक्रिय लब्धिधारी, १०,४५० वादी, २,८१,००० श्रावक और ५,१६,००० श्राविकाएँ थीं। प्रभु चौतीस अतिशयों सहित पृथ्वी पर विचरण करते रहे। (श्लोक २५०-२५६)

केवल ज्ञान होने के पश्चात् भगवान् सुमतिनाथ १२ अंग २० वर्ष कम एक पूर्व तक पृथ्वी पर विचरण किया। अपना निर्वाण समय निकट जानकर एक हजार मुनियों सहित सम्मेद शिखर पर जाकर अनशन ग्रहण कर लिया। एक मास के उपवास के पश्चात् त्रिलोकनाथ आयुष्य समाप्त और चार अनन्त प्राप्त होने के पश्चात् शैलेसी ध्यान में निरत हो गए। चैत्र शुक्ला नवमी को चन्द्र जब पुनर्वसु नक्षत्र में था तब भगवान् वहाँ से जहाँ जाकर प्रत्यावर्तन न करना पड़े उस लोक को प्राप्त किया। (श्लोक २५७-२६०)

भगवान् दस लाख पूर्व कुमारावस्था में रहे, २९ लाख पूर्व और १२ अंग तक राजा रूप में, १२ अंग कम एक लाख पूर्व तक व्रती रूप में विचरे। अतः आपका पूर्णायु था ४० लाख पूर्व। अभिनन्दन स्वामी के निर्वाण के बाद नौ लाख क्रोड़ सागर व्यतीत होने पर सुमतिनाथ प्रभु का निर्वाण हुआ। (श्लोक २६१-२६३)

भगवान् और एक हजार मुनियों की अन्त्येष्टि क्रिया देवों ने यथाविधि सम्पन्न की। नन्दीश्वर द्वीप में निर्वाण-उत्सव मनाकर वे अपने-अपने घर को लौट गए। (श्लोक २६४)

तृतीय सर्ग समाप्त



चतुर्थ सर्ग

ॐ । भगवान् पद्मप्रभ जिनकी देह का रंग लाल पद्म-सा है और जो पद्मा के कमलतुल्य निवास-स्थल हैं, मैं उनकी वन्दना करता हूँ । मन्द बुद्धि होते हुए भी उनकी अलौकिक शक्ति से पाप-नाशक उन्हीं जिनेन्द्र प्रभु के जीवन-चरित्र का वर्णन करता हूँ ।

(श्लोक १-२)

धातकी खण्ड द्वीप में पूर्व विदेह के अलङ्कारतुल्य वत्स नामक विषय में सुसीमा नामक एक सुन्दर नगरी थी । वहां अपराजित नामक राजा राज्य करते थे जो कि शत्रुओं के लिए अपराजेय और इन्द्रियों को जय करने से मूर्तिमान धर्म स्वरूप थे । न्याय उनका मित्र था, धर्म आत्मीय और ऐश्वर्य । बन्धु-बान्धव, आत्मीय, स्वजन और ऐश्वर्य तो सब बाह्य हैं । वृक्ष की शाखा-प्रशाखाओं की तरह शालीनता, चारित्र्य, सत्य आदि प्रमुख गुण एक दूसरे को शोभित करते थे । क्रोधहीन होकर वे राजा शत्रु पर शासन करते, रागहीन होकर विषय भोग और लोभहीन होकर विवेकियों में अग्रगण्य वे अर्थ भार वहन करते थे ।

(श्लोक ३-७)

एक दिन देव तुल्य उन्होंने जब अहंत् वाणी रूप अमृत का पान किया तब तत्त्व-चिन्तन करते हुए उन्होंने सोचा—ऐश्वर्य, यौवन, सौन्दर्य, शरीर, मृगनयनी नारी, पुत्र, मित्र, प्रासाद आदि का परित्याग करना कठिन है । फिर भी जिस व्यक्ति ने जीवन में दुःख प्राप्त किया है या मर गया है उसे परिजन जिस प्रकार पक्षी नष्ट अण्डे का परित्याग कर देता है उसी प्रकार उसका परित्याग कर देते हैं । वह व्यक्ति मूर्ख है जो एक पांव से फलांगने की तरह केवल अपनी ओर से ही उनके प्रति आसक्त है । उस परिग्रह से विच्छिन्न तो होना ही पड़ता है । अतः पुण्य क्षय होने पर वे मेरा परित्याग करें उसके पूर्व ही क्यों नहीं मैं साहस के साथ उनका परित्याग कर दूँ ?

(श्लोक ८-१२)

अनेक दिनों तक इसी प्रकार चिन्तन करते हुए विवेकियों में रोहण पर्वत तुल्य राजा को जब संसार से चरम विरक्ति हो गई तब स्व-राज्य पुत्र को दान कर वे पिहिताश्रव सूरि के पास जाकर मोक्ष प्राप्ति के लिए रथ तुल्य श्रामण्य अङ्गीकार कर लिया । उन्होंने तीन गुप्तियां और पांच समितियों को धारण कर रागहीन और

परिग्रहहीन होकर बहुत दिनों तक तलवार की धार जैसे व्रतों की रक्षा की। बीस स्थानकों में कई स्थानकों की आराधना कर उन निर्मलमना राजा ने तीर्थङ्कर गोत्र कर्म उपार्जन किया। वे महामना शुक्ल ध्यान में इस जीवन को व्यतीत कर मृत्यु के पश्चात् नवमें श्रव्यक विमान में महाशक्तिशाली देवरूप में उत्पन्न हुए।

(श्लोक १३-१७)

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में वत्स देश के अलङ्कार तुल्य कौशाम्बी नामक एक नगरी थी। ऊँचे मन्दिर के शिखर स्थित सिंहलाञ्छन के समीप विचरण करने के कारण मृग लाञ्छन के भीत हो जाने से चन्द्र यहां कलङ्क से रहित हो गया था। ऊँचे-ऊँचे महलों से निकलती अगर धूप वस्त्र की तरह उन मिथुनों को आवृत्त कर देती जो विलास के लिए वस्त्रों का परित्याग कर देते थे। इस नगरी के प्रतिगृह में मुक्ता रचित स्वस्तिक को अनार का बीज समझकर शुक चञ्चु द्वारा उन पर आघात करता। यहां सभी समान धनी थे। फलतः कोई किसी से ईर्ष्या नहीं करता। केवल पवन ही उद्यान पुष्पों के सौरभ से ईर्ष्यान्वित था। (श्लोक १८-२२)

कौशाम्बी के राजा धर मेघ और पर्वत की तरह पृथ्वी का ताप हरते थे और उसे धारण करते थे। पृथ्वी के राजागण उनकी आज्ञा का उल्लङ्घन नहीं करते बल्कि अविच्छिन्न माल्य की तरह मस्तक पर धारण करते थे। यद्यपि दण्ड की तरह हाथ में धनुष धारण करते थे फिर भी दण्ड देने के समय वे निष्ठुरता नहीं दिखाते थे बल्कि भद्रजातीय हस्ती की तरह शान्त भाव का अवलम्बन लेते, आधा चन्दन और आधी केशर की तरह यश और करुणा के मिश्रित पङ्क से उन्होंने बहुत दिनों तक आकाश को अभिषिक्त किया था। कुलदेव की तरह सभी गुणों ने उनका आश्रय लिया था। वे लक्ष्मी के निवास स्थल रूप थे। (श्लोक २३-२७)

साध्वी पत्नियों में अग्रणी देवीतुल्या सुसीमा नामक उनकी रानी थी। किसलयतुल्य करतल, पैर और ओष्ठ, पुष्पतुल्य दांत और शाखा-सी बाहुओं से वे कल्पवृक्ष-सी लगतीं। अवगुण्ठन किए वे धीरे-धीरे चलतीं, धरती पर दृष्टि रखकर चलतीं मानो वे ईर्यासमिति का पालन कर रही हों। उनकी देह सौन्दर्य-मण्डित थी, चारित्र्य विनय, मन संलीनता और वाक्य सत्य-मण्डित था।

जब वे बोलतीं तब उनकी दन्त पंक्तियों से निकलती ज्योत्सना से चन्द्रकोमुदीं स्नात रात्रि-सां लगतीं । (श्लोक २८-३२)

राजा अपराजित का जीव श्रवेयक विमान में इकतीस सागर की आयु व्यतीत कर माघ कृष्ण षष्ठी को चन्द्र जब चित्रा नक्षत्र में था वहाँ से च्यवकर देवी सुसीमा के गर्भ में प्रविष्ट । हुआ तीर्थकर के जन्म सूचक चौदह महास्वप्नों को उन्होंने अपने मुख में प्रवेश करते हुए देखा । गर्भ वर्द्धित होने पर उन्हें पद्म-शय्या पर सोने का दोहद उत्पन्न हुआ जिसे देवियों ने मुहूर्त भर में पूर्ण कर दिया । नौ मास साढ़े सात दिन व्यतीत होने पर कार्तिक कृष्ण द्वादशी को चन्द्र जब चित्रा नक्षत्र में था और सभी ग्रह उच्च स्थान में थे तब रानी सुसीमा ने एक पुत्र को जन्म दिया । लाल कमल उसका लांछन था और देह का रंग भी लाल कमल-सा ही था । (श्लोक ३३-३८)

तीर्थकर का जन्म होते ही छप्पन दिक् कुमारियाँ आयीं और जन्मकालीन क्रियाओं को सम्पन्न किया । फिर इन्द्र आए और प्रभु को सुवर्णाद्रि के शिखर पर ले गए । वहाँ अच्युत और अन्यान्य इन्द्रों ने शक्र की गोद में बैठे भगवान् के सहोदर की तरह यथाक्रम स्नानाभिषेक किया । ईशानेन्द्र की गोद में बैठकर शक्र ने भी प्रभु का स्नानाभिषेक पूजा आदि कर निम्नलिखित स्तुति पाठ किया :

(श्लोक ३९-४१)

‘इस असार संसार में दीर्घकाल तक मरुभूमि में विचरण करने वाले व्यक्ति की भाँति आपका दर्शन हे भगवन् अमृत-सरोवर तुल्य है । आपकी अनुपम रूप-मुद्रा अवलान्त भाव से पान कर देवों के अनिमेष नेत्र सार्थकता प्राप्त हुए हैं । चिर अन्धकार में भी जो आलोक रेखा प्रकाशित हुई है, नारकी जीवों को भी जिसने आनन्द दिया है वह आपकी तीर्थकृत देह के कारण ही हुआ है । हे भगवन्, दीर्घ दिनों के पश्चात् मनुष्यों के भाग्य से धर्मरूपी वृक्ष को करुणा रूपी वापी के जल से पुष्पित करने के लिए ही आपने जन्म लिया है । जल में जिस प्रकार शीतलता सहजात होती है उसी प्रकार त्रिजगत का स्वामित्व और त्रिविध ज्ञान आपको जन्म से ही प्राप्त है । हे कमलवर्ण कमललांछन, आपका निःश्वास भी कमल गन्धी है । आपका मुख कमल-सा है जो कि पद्मा (श्री) का निवास-स्थल है । आपकी जय हो । हे भगवन् जिस अनार संसार-सागर को

अतिक्रम करना अत्यन्त दुष्कर है वह अब आपका कृपा से गोष्पद जल की तरह सहज हो गया है । मैं अन्य किसी स्वर्ग का आधिपत्य नहीं चाहता न ही अनुत्तर विमान में निवास—मैं तो आपके चरण-कमलों की सेवा करना चाहता हूँ ।' (श्लोक ४२-४९)

इस प्रकार स्तुति कर शक्र भगवान् को लेकर द्रुतगति से कौशाम्बी को लौट गए और उन्हें देवी सुसीमा के पार्श्व में सुलाकर स्वर्ग को चले गए । (श्लोक ५०)

भगवान् जब गर्भ में थे तब आपकी माँ को पद्मशैया पर सोने का दोहद उत्पन्न हुआ । उनकी देह का रंग भी पद्मवर्ण था अतः पिता ने आपका नाम पद्मप्रभ रखा । स्वर्ग की धात्रियों द्वारा लालित होकर और देवों के साथ क्रीड़ा कर भगवान् क्रमशः बड़े होने लगे और जीवन का द्वितीय भाग अर्थात् यौवन को प्राप्त किया । (श्लोक ५१-५२)

दो सौ पचास धनुष दीर्घ, विस्तृत वक्ष भगवान् श्री का प्रवाल निर्मित क्रीड़ा-पर्वत से लगते । संसार-त्याग की इच्छा होने पर भी पिता-माता की भावना और जन-साधारण को आनन्दित करने के लिए प्रभु ने विवाह किया । जब उनकी उम्र साढ़े सात लाख पूर्व हुई तब पिता के आग्रह से आपने राज्यभार ग्रहण किया । जगत्पति ने साढ़े इक्कीस पूर्व और सोलह पूर्वाङ्ग राज्य-शासन में व्यतीत किए । शुभ मुहूर्त में जिस प्रकार सार्धवाह यात्रा के लिए उन्मुख हो जाता है उसी प्रकार संसार-सागर को पार करने के इच्छुक प्रभु लोकान्तिक देवों द्वारा दीक्षा ग्रहण के लिए उद्बुद्ध किए गए । उन्होंने एक वर्ष तक दान दिया । जृम्भक देव कुबेर द्वारा प्रेरित होकर भगवान् के सम्मुख धन-रत्न उपस्थित करने लगे । देवों और राजन्वों द्वारा अभिनिष्क्रमण उत्सव आयोजित होने पर निवृत्तिकरा नामक शिविका में बैठकर सहस्राश्वन उद्यान में गए । कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी के अपराह्न में चन्द्र जब चित्रा नक्षत्र में आया प्रभु ने दो दिनों के उपवास के पश्चात् एक हजार राजाओं के साथ श्रमण दीक्षा ग्रहण की । (श्लोक ५३-६१)

दूसरे दिन सुबह प्रभु ने ब्रह्मस्थल नगर के राजा सोमदेव के घर खीराश्र से पारणा किया । देवों ने वहाँ पांच दिव्य प्रकट किए । जहाँ प्रभु पारने के लिए खड़े हुए थे वहाँ सोमदेव राजा ने मणिमय

पार्श्विक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
वेदी का निर्माण करवाया । (श्लोक ६२-६३)

छह महीने तक उन्होंने छद्मस्थ रूप में विचरण किया । पुनः अपनी दीक्षा के साक्षी रूप सहस्राम्रवन में लौट आए । दो दिनों के उपवास के पश्चात् वटवृक्ष तले जब वे प्रतिमा धारण कर खड़े थे तब हवा जिस प्रकार मेघ को उड़ाकर ले जाती है उसी भाँति उनके घाती कर्म क्षय हो गए । चैत्र मास की पूर्णिमा को चन्द्र ने जब चित्रा नक्षत्र में प्रवेश किया तब भगवान् पद्मप्रभ ने निर्मल केवलज्ञान प्राप्त किया । (श्लोक ६४-६५)

देवेन्द्रों और असुरेन्द्रों ने उनके लिए समवसरण की रचना की । प्रभु उस समवसरण में पूर्वं द्वार से प्रविष्ट हुए । प्रवेश कर उन्होंने जिस प्रकार इन्द्र ने उन्हें प्रदक्षिणा दी थी उसी प्रकार डेढ़ कोश ऊँचे चैत्य वृक्ष की प्रदक्षिणा दी और तीर्थ को नमस्कार कर उसकी वन्दना की । फिर प्रभु पूर्वाभिमुख होकर सिंहासन पर बैठे । प्रभु की शक्ति से देवों ने उन्हीं के अनुरूप मूर्तियाँ निर्माण कर अन्य तीन दिशाओं में रखीं । चतुर्विध संघ भी समवसरण में यथायोग्य स्थानों में जाकर बैठ गए । मेघ को देखने के लिए जिस प्रकार मयूर मस्तक ऊँचा करता है उसी भाँति प्रभु को देखने के लिए वे मस्तक ऊँचा किए बैठे । तदुपरान्त सौधर्मेन्द्र प्रभु को वन्दना कर भक्ति सहित निम्नलिखित स्तुति करने लगे जो कि निःसन्देह सत्य ही थी । (श्लोक ६६-७१)

‘उपसर्गों को सहन कर, विविध आक्रमणों को व्यर्थ कर आपने प्रशान्ति के आनन्द को प्राप्त किया है । महान् व्यक्तियों का आचरण ऐसा ही होता है । आप लोभ-शून्य होकर राग-शून्य हो गए हैं । द्वेष-शून्य होकर क्रोध को जय किया है । आप में जो शक्ति है उसे साधारण मनुष्यों के लिए प्राप्त करना कठिन है । आपने सर्वदा आसक्तिहीन और पाप-भय से भीत होकर त्रिलोक को जय किया है । महान् व्यक्तियों की कुशलता ऐसी ही होती है । आप न कुछ ग्रहण करते हैं और न कुछ देते हैं । फिर भी आपने यह क्षमता प्राप्त की है । महान् व्यक्तियों के कार्य ऐसे ही होते हैं । हे भगवन्, जो ऐश्वर्य प्राणपात परिश्रम से भी प्राप्त नहीं किया जा सकता वही ऐश्वर्य आपके पद-प्रान्त पर पड़ा हुआ है । कारण आप राग के प्रति निष्ठुर और जीवों के प्रति करुणा-सम्पन्न हैं अतः भयंकर भी

हैं, परम सुन्दर भी हैं, आप महान् लोगों में भी महान् हैं, पूजनीयों में भी पूजनीय हैं। इसलिए मैं आपका गुणगान करता हूँ। सारे दोष सब में समाए हैं केवल गुण आप में है। मेरी यह स्तुति यदि अतिशयोक्ति लगे तो इसकी साक्षी यह परिषद् है। मैं अन्य कोई निधान नहीं चाहता, हे भगवन्, मैं बार-बार आपका दर्शन करना चाहता हूँ।' (श्लोक ७२-८०)

शक्र के इस भाँति स्तव कर निरस्त हो जाने पर भगवान् ने पैंतीस दिव्य गृह सम्पन्न कण्ठ-स्वर से यह देशना दी—

‘महासागर की तरह यह संसार भी अपार है। इस संसार रूपी महासमुद्र में जीव चौरासी लाख जीवयोनि में नित्य भ्रमण करता है और नाटक के पात्र की तरह विविध प्रकार के रूप धारण करता है। कभी वह श्रोत्रीय ब्राह्मणकुल में जन्म ग्रहण करता है तो कभी अन्त्यज चण्डाल के घर। कभी स्वामी बनता है कभी सेवक, कभी देव तो कभी क्षुद्रकीट। जिस प्रकार भाड़े के मकान में रहने वाले जीव विविध प्रकार के गृहों में वास करते हैं, कभी भव्य प्रासाद तो कभी जीर्ण कुटीर उसी भाँति जीव भी स्व शुभाशुभ कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनि में जन्म व मृत्यु प्राप्त होते हैं। ऐसी कौन योनि है जिसमें जीव उत्पन्न नहीं हुआ? लोकाकाश के समस्त प्रदेशों में एक भी प्रदेश ऐसा नहीं है जिसमें जीव ने कर्मों से प्रेरित होकर अनेक रूप धारण कर स्पर्श नहीं किया और इस पृथ्वी पर एक केश-सा अंश भी अवशेष नहीं जहाँ जीव ने जन्म-मृत्यु प्राप्त नहीं किया हो।’ (श्लोक ८१-८५)

‘संसार में मुख्यतः चार प्रकार के जीव हैं। यथा—(१) नारक, (२) तिर्यङ्क, (३) मनुष्य और (४) देवता। ये सभी कर्म द्वारा बाध्य होकर अनेक प्रकार के दुःखों को भोगते हैं। प्रथम तीन नरकों में ऊष्ण वेदना है और शेष के तीन नरकों में शीत वेदना है। चतुर्थ नरक में ऊष्ण और शीत दोनों ही प्रकार की वेदना है। प्रत्येक नरक में क्षेत्रानुसार वेदना होती है। उन नारक क्षेत्रों में ऊष्णता और शीतलता इतनी अधिक होती है कि वहाँ यदि लोहे के पर्वत को ले जाना हो तो वह क्षेत्र के स्पर्श करने के पूर्व ही गल जाएगा या टूटकर छिन्न-भिन्न हो जाएगा। इसके अतिरिक्त नारक जीवों के एक के द्वारा अन्य को और परमाधामी देवों द्वारा

दिए दुःख भी असह्य एवं भयङ्कर होते हैं। इस भांति नारक जीवों को क्षेत्र सम्बन्धी, परस्पर सम्बन्धी, परमाधामी देव सम्बन्धी विविध महादुःखकारी वेदना सहन करनी पड़ती है। (श्लोक ८६-८९)

‘नारक जीव संकीर्ण मुख की कुम्भी में उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार शीशा आदि धातु की मोटी शलाका को यंत्रों के मध्य से खींच-खींचकर पतला किया जाता है उसी प्रकार संकीर्ण मुख की कुम्भी से परमाधामी देवता नारक जीवों को खींचकर बाहर निकालते हैं। धोबी जिस प्रकार शिलापट्ट पर कपड़े पछाड़ता है उसी प्रकार परमाधामी देव नारक जीवों के हाथ या पांव पकड़कर पत्थरों पर पछाड़ते हैं। बढ़ई जिस प्रकार आरे से काष्ठ चीरता है उसी प्रकार परमाधामी देव उन्हें चीरकर या कोल्हू में फेंककर तेल निकालने के लिए जिस प्रकार तिलों को पीसा जाता है उसी प्रकार उन्हें पीसते हैं। तृष्णातुर होने पर उन्हें वैतरणी नदी में फेंक दिया जाता है जिसका जल तप्त लौह और शीशे के रस जैसा होता है। वही जल उन्हें पीना पड़ता है। छाया के लिए व्याकुल होने पर परमाधामी देव उन्हें अग्नि-पत्र वन में ले जाते हैं जिसके पत्र तलवार की धार-से तीक्ष्ण होते हैं। वे पत्र उनकी देह पर गिरते हैं और उनकी देह को भी छिन्न-भिन्न कर देते हैं। वज्र शूल-सा तीक्ष्ण कंटकयुक्त शाल्मली वृक्ष को या अत्यन्त तप्त वज्राङ्गना को आलिङ्गन करने को बाध्य कर परमाधामी देव उन्हें पर-स्त्री आलिङ्गन की पापवृत्ति को स्मरण करवाते हैं। मांसभक्षण लोलुपता की बात याद करवा कर उन्हीं के अङ्ग से मांस काट-काटकर उन्हें भक्षण करवाते हैं। मदिरापान स्मरण करवाकर तप्त लौह रस पान करवाते हैं। अत्यन्त पाप के उदय से भी उस वैक्रिय शरीर में भी कुष्ठ रोग, चर्म रोग, महाशूल, कुम्भीपाक आदि की भयंकर यातना निरन्तर अनुभव करते हैं। मांस की तरह ही उन्हें कड़ाह में भूना जाता है। उनके नेत्रों को कीए, बगुले आदि पक्षियों द्वारा उखाड़ा जाता है। इतने कष्टों को सहकर शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो जाने पर भी वे मरते नहीं हैं। उनके छिन्न-भिन्न अङ्ग पारे की भांति पुनः मिल जाते हैं। इस प्रकार दुःख भोगकर नारक जीव निज आयु के अनुसार कम से कम दस हजार वर्ष तक एवं अधिक से अधिक तैंतीस सागरोपम काल व्यतीत करते हैं। (श्लोक ९०-९९)

‘तिर्यङ्मुगति प्राप्त होने पर एकेन्द्रिय जीव रूप में उत्पन्न होकर वे पृथ्वीकायिक होकर हल आदि अस्त्रों द्वारा खोदित और विदारित होते हैं, हस्ती-अश्वादि द्वारा पीसे जाते हैं, जल प्रवाह में प्लावित होते हैं। और दावाग्नि द्वारा दग्ध होते हैं। कटु तीक्षादि रस और मूत्रादि द्वारा व्यथित होते हैं। यदि लवणत्व प्राप्त हो तो ऊष्ण जल में सिद्ध किए जाते हैं। कुम्हारादि द्वारा वे खोदित व पेणित होकर ईंट आदि में रूपान्तरित होते हैं। फिर उन्हें पकाने के लिए अग्नि को जलाया जाता है। कीचड़ में मिलाकर दीवारों पर चिपकाया जाता है। पत्थर की छेनी आदि अस्त्रों से तोड़ा जाता है। पहाड़ी नदियां भी पृथ्वीकायिक जीव का छेदन-भेदन करती हैं।’ (श्लोक १००-१०४)

‘यदि वे अपकायिक जीव में परिणत होते हैं तो सूर्य के प्रचण्ड ताप में उन्हें जलना पड़ता है, बरफ के रूप में घनीभूत बनना पड़ता है, रज द्वारा शोषित होना होता है। क्षारादि रस के सम्पर्क से मृत्यु को प्राप्त होना पड़ता है। पान्न में रखकर उन्हें दग्ध किया जाता है, पिपासु उन्हें पान करते हैं।’ (श्लोक १०५-१०६)

‘तेजकायिक रूप में उत्पन्न होने पर उन्हें जल में निर्वापित किया जाता है, हथौड़ी आदि से पीसा जाता है, ईन्धनादि से दग्ध किया जाता है।’ (श्लोक १०७)

‘वायुकायिक रूप में उत्पन्न होने पर पंखादि से आहत होना पड़ता है। ऊष्ण शीतल द्रव्यादि के सम्पर्क से मृत्यु को प्राप्त करना होता है और पूर्ववर्ती वायुकायिक जीवों द्वारा परवर्ती वायुकायिक जीवों को परस्पर के सम्पर्क से विनष्ट होना होता है। मुखादि द्वारा निर्गन्त वायु से बाधित होना पड़ता है और सर्पादि उसे पी जाते हैं।’ (श्लोक १०८-१०९)

‘कन्द आदि दस प्रकार के वनस्पतिकायिक जीवों के रूप में जब उत्पन्न होता है तब उन्हें तोड़ा, काटा और अग्नि में दग्ध किया जाता है। उन्हें सुखाया जाता है, कूटा जाता है, घिसा जाता है। लवणादि लगाकर उन्हें जलाया जाता है—हर अवस्था में ही उन्हें खाया जाता है। अन्धड़ से छिन्न होकर वे नष्ट हो जाते हैं, अग्नि में दग्ध होकर भष्म में परिणत हो जाते हैं, जल के प्रवाह में छिन्न-मूल होकर गिर जाते हैं। इसी प्रकार समस्त प्रकार की वनस्पतियां,

सभी जीवों का भक्ष्य होने के कारण हर प्रकार के शस्त्रों से छिन्न-भिन्न होकर दुःख प्राप्त करते हैं ।' (श्लोक ११०-११३)

'त्रेहन्द्रिय जीवों को जल के साथ उबाला जाता है और पान किया जाता है, पाँव तले कुचला जाता है, पक्षी उन्हें खा डालते हैं । शङ्ख-सीपादि को तोड़ा जाता है, जल से बाहर निकाला जाता है । कृमि आदि के रूप में पेट में उत्पन्न होने पर औषधि की सहायता से बाहर निकाला जाता है ।' (श्लोक ११४-११५)

'त्रेहन्द्रिय जीव जैसे जूँ, खटमल आदि को देह पर ही दबा कर पीस दिया जाता है । गर्म जल में डालकर मार दिया जाता है । चींटियाँ पैरों के नीचे दबकर पिस जाती हैं, झाड़ू-पोंछ में भी वे मर जाती हैं । कुंथु आदि सूक्ष्म जीव आसनादि द्वारा पिस जाते हैं ।' (श्लोक ११६-११७)

'चतुरेन्द्रिय जीव मधुमक्खी, भँवरे आदि मधुलोभियों द्वारा विनष्ट कर दिए जाते हैं । दंश मसकादि पंखे द्वारा या धुएँ के प्रयोग से विनष्ट कर दिए जाते हैं । मक्खी, मच्छरों को छिपकली आदि खा जाती है ।' (श्लोक ११८-११९)

'पंचेन्द्रिय जलचर जीवों में एक जीव अन्य जीवों को खा जाते हैं, घीवर द्वारा जल में पकड़ लिए जाते हैं, सारस उन्हें निगल जाता है, उनके आँश उतारकर उन्हें आग में झूना जाता है, मत्स्यभोजी उन्हें पकाते हैं । चर्वी प्राप्त करने के लिए भी उनकी हत्या की जाती है ।' (श्लोक १२०-१२१)

'पंचेन्द्रिय स्थलचर जीवों में मृगादि दुर्बल जीव सिंहादि बलिष्ठ जीवों द्वारा मार दिए जाते हैं, भक्षण कर लिए जाते हैं । शिकारी लोग व्यसन और मांस के लिए निरपराध जीवों की नाना प्रकार से हत्या कर देते हैं । बहुत से जीव क्षुधा, तृष्णा, शीत, ऊष्णता और अतिभारवहन के दुःखों को भोगते हैं, चाबुक से उन्हें शासित किया जाता है, अंकुश और शूल से प्रताड़ित किया जाता है ।' (श्लोक १२२-१२४)

'पंचेन्द्रिय खेचर जीवों में कपोत आदि पक्षी मांस-लोलुप बाज, गिड़ों द्वारा भक्षित होते हैं । मांसभक्षी मनुष्य विभिन्न किस्म के जालों में उन्हें आवद्ध कर शस्त्रादि से विनष्ट करते हैं । अग्नि,

जल और अस्त्र से उत्पन्न उनके भव का वर्णन करना दुःसाध्य है ।'

(श्लोक १२५-१२७)

‘मनुष्य जन्म में भी जो अनाय देश में उत्पन्न होते हैं वे इतना पाप करते हैं कि कहा नहीं जा सकता । आर्य देश में जन्म लेने पर भी चण्डालादि जाति अनायों की तरह ही पाप कर शीघ्र कष्ट पाते हैं । आर्य देश में जन्म लेकर कुछ व्यक्ति अनायों की तरह आचरण करते हैं और परिणामस्वरूप दारिद्र्य और दुर्भाग्यादि द्वारा पीड़ित होकर निरन्तर दुःख-भोग करते हैं । कितने ही मनुष्य अन्य को वैभवशाली और स्वयं को दरिद्र देखकर दुःख और सन्तापपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं । कितने ही मनुष्य रोग, जरा व मरणासन्न होकर अशांता-वेदनीय कर्म के उदय से इस प्रकार विडम्बना भोगते हैं कि उन्हें देखकर भी दया आती है ।’ (श्लोक १२८-१३२)

‘मनुष्य गर्भावास में जो दुःख अनुभव करता है वह घोर नरक के दुःख के अनुरूप है । गर्भावास में इस प्रकार कष्ट होता है जैसा रोग, वृद्धावस्था, दासत्व या मृत्यु से भी नहीं होता । अग्नि में तप्त सूइयों को यदि मनुष्य शरीर के प्रत्येक रोम में एक साथ बीध दिया जाए उससे जो दुःख होता है गर्भावास का दुःख उससे भी अनन्त गुना अधिक है ।’ (श्लोक १३३-१३५)

‘बाल्यावस्था मल-मूल में, यौवन रति-विलास में और वृद्धावस्था में श्वास-खांसी आदि व्याधि से पीड़ित होकर व्यतीत होता है, फिर भी वे लज्जाहीन-सा व्यवहार करते हैं । अशुचित्व के कारण बाल्यकाल सुख के जीवन-सा, काम-भोग के कारण यौवन गर्दभ के जीवन-सा और असमर्थ हो जाने से वृद्धावस्था बूढ़े बलद के जीवन-सा यापन करते हैं; किन्तु कभी मानव बनने की चेष्टा नहीं करते । शिशुकाल में वह मातृ-मुखी, यौवन में पत्नी-मुखी और वृद्धावस्था में पुत्र-मुखी हो जाता है; किन्तु कभी भी स्व अर्थात् आत्म-मुखी नहीं होता । धनार्जन की इच्छा से विह्वल होकर मनुष्य नौकरी, कृषि, व्यवसाय, पशुपालन आदि कार्यों में रत होकर अपने जीवन को निष्फल व्यतीत करता है । कभी चोरी करता है, कभी जुआ खेलता है, कभी हीन कर्म कर वह संसार परिभ्रमण को बढ़ाता ही जाता है ।’ (श्लोक १३६-१४०)

सुखी मनुष्य मोहान्ध होकर काम-विलास में और दुःखी

मनुष्य क्रन्दन करने में मनुष्य-जन्म को नष्ट करता है; किन्तु धर्म-कार्य नहीं करता। जिस मनुष्य-जीवन द्वारा अनन्त कर्म-समूहों को नष्ट किया जा सकता है उस मनुष्य-जन्म में भी पापी मनुष्य पाप ही करता है। मनुष्य-जन्म ज्ञान, दर्शन और चरित्र इन तीन रत्नों का पात्र है, आधार है। ऐसे सर्वोत्तम जीवन में पाप कर्म करना तो स्वर्ण-पात्र में मदिरा-पान करने जैसा है। मनुष्य-जन्म की प्राप्ति जब कि शमिलायुग की तरह दुर्लभ है तब भी मूर्ख मनुष्य चितामणि रत्न के समान इस मनुष्य जीवन को पाप-कर्म में वृथा नष्ट कर देते हैं। मनुष्य-जन्म स्वर्ग और मोक्ष प्राप्ति का कारण रूप है; किन्तु आश्चर्य है इसी मनुष्य जन्म को प्राप्त करके भी वह पाप कर्म करके नरक प्राप्ति का साधन बढा लेता है। अनुत्तर विमान के देव भी मनुष्य जन्म पाने की कामना करते हैं; किन्तु पापी मनुष्य उसी दुर्लभ मानव-जीवन को प्राप्त करके भी पाप कर्म में आसक्त रहते हैं। नरक का दुःख तो परोक्ष है; किन्तु मनुष्य-जन्म का दुःख तो प्रत्यक्ष ही देखा जाता है। अतः इसका विस्तृत विवरण देना अनावश्यक है। (श्लोक १४१-१४७)

देवगति में भी दुःख कम नहीं है। शोक अमर्ष, खेद, ईर्ष्या और हीनता से देवों की बुद्धि भी विकृत है। अन्य का विशेष वैभव और स्वयं की हीन दशा देखकर वे अपने पूर्व जन्म में शुभ कर्म उपाजन नहीं करने पर खेद करते हैं। अन्य बलवान और ऋद्धि सम्पन्न देवों द्वारा अपमानित और उनका प्रतिकार करने में असमर्थ होने के कारण अल्प ऋद्धि सम्पन्न देव भी चिन्ता करते हैं, शोकग्रस्त होते हैं। वे मन ही मन पश्चात्ताप करते हैं कि हमने पूर्व जन्म में कुछ भी सुकृत्य नहीं किया इसीलिए देवभव प्राप्त करके भी दास रूप में उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार चिन्ता करते हुए अधिक वैभव-शाली देवों के विमान, देवियाँ, रत्न और उपवनादि वैभव देखकर जीवन पर्यन्त ईर्ष्या की अग्नि में दग्ध होते रहते हैं। अधिक सत्त्व-सम्पन्न देव, कम-सत्त्व सम्पन्न देवताओं की ऋद्धि एवं देवांगनाओं का हरण कर लेते हैं। इससे निराश्रित होकर वे देव निरन्तर शोक करते रहते हैं। पुण्यकर्म से देवगति प्राप्त करके भी वे काम, क्रोध और भय से आतुर रहते हैं। फलतः वे स्वर्ग के आनन्द का पूर्ण अनुभव नहीं कर पाते। (श्लोक १४८-१५४)

‘जब देवों का आयुष्य छह महीने का रहता है तब अपनी देह में मृत्यु-चिह्न देखकर भयभीत हुए वे सोचते हैं उनका च्यवन कहाँ होगा ? जैसे-जैसे उनकी अम्लान पारिजात माला मलिन होती जाती है वैसे-वैसे उनका मुख-कमल भी मलिन होने लगता है । जिस कल्पवृक्ष को प्रबल भंझावात भी कम्पित नहीं कर सकता वही कल्पवृक्ष च्यवन समय जितना ही निकट होता है उतना ही शिथिल होता जाता है । उत्पत्ति के समय प्राप्त प्रियलक्ष्मी व लज्जा उनका परित्याग कर देती है मानो वे अपराधी हैं । निरन्तर निमल और सुशोभित रहने वाले उनके वस्त्र भी मलिन और अशोभनीय हो जाते हैं । मृत्यु-समय निकट आने पर चींटियों के जैसे पंख निकल आते हैं उसी भाँति देव अदीन होने पर भी दीन और बीतनिद्र होने पर भी निद्रा के वशीभूत हो जाते हैं । दुःखों से आकुल होकर जैसे मनुष्य मृत्यु की कामना करता है वैसे ही वे न्याय और धर्म परित्याग कर विषय के प्रति अनुरागी होते हैं । यद्यपि देवों को कोई रोग नहीं होता, फिर भी मृत्यु निकट आने पर उनका शरीर शिथिल हो जाता है और सन्धि स्थलों में वेदना अनुभूत होती है । उनके नेत्रों की दृष्टि सहसा धुँधली हो जाती है जैसे दूसरों के ऐश्वर्य को देखकर दृष्टि मन्दीभूत होती है । भविष्य में गर्भावास में रहना होगा यह सोचकर और उस घृणित दुःखमय स्थिति का अनुभव कर उनकी देह इस प्रकार काँपने लगती है कि दूसरे भी भयभीत हो जाते हैं । इस भाँति च्यवन चिह्न देखकर और अपना प्रयाणकाल निकट जानकर वे इस प्रकार व्याकुल हो जाते हैं जिस प्रकार अग्नि में दग्ध होकर मनुष्य व्याकुल हो जाता है । उस समय न विमान, न वापिका और न नन्दनवन ही उनको आनन्द दे पाता है । उस समय वे इस भाँति विलाप करते हैं—‘हे मेरी प्राण प्रिय देवांगना, हे मेरे विमान, हे मेरे कल्पवृक्ष और वापिका, मैं तुम सबसे कितना दूर चला जाऊँगा ? फिर कब तुम सबको देख पाऊँगा ? हे प्राण प्रिय तुम्हारी अमृत-सी हँसी, अमृत-से तुम्हारे रक्ताधर, असृत-सी तुम्हारी वाणी, तुम्हारा सौन्दर्य अब किसका होगा ? यह रत्न-जड़ित स्तम्भ-युक्त देव विमान, मणिमय भूमि और रत्नमय वेदिका को अब न जाने कौन व्यवहार करेगा ? हे रत्नमय सोपानयुक्त व रक्त और नील उत्पल शोभित वापिका, अब न जाने कौन तुम्हारा उपभोग

करेगा ? हे पारिजात, हे सन्तान, हे मन्दार, हे हरिचन्दन और कल्पवृक्ष, क्या तुम सब अपने स्वामी का परित्याग करोगे ? हमें क्या नरक तुल्य नारी के गर्भ में वास करना होगा और अशुचि रसों का आस्वादन कर देह का निर्माण करना होगा ? हाय ! कर्म द्वारा बाध्य होकर जठराग्नि रूप चूल्हे में पकने का दुःख फिर सहन करना होगा ? कहाँ रति-सुखों की आकर ये देवांगनाएँ और कहाँ अशुचि मानवी के साथ संभोग ?' इस भाँति स्वर्गीय सुखों का स्मरण कर विलाप करते-करते जैसे दीप निर्वपित हो जाता है उसी प्रकार वे स्वर्ग से च्युत हो जाते हैं । अतः इस संसार को असार समझकर बुद्धिमान मनुष्य का कर्तव्य है कि वह श्रामण्य ग्रहण कर संसार का अन्त करने वाली मुक्ति को प्राप्त करे । (श्लोक १५५-१७५)

भगवान् की यह देशना सुनकर एक हजार लोग श्रामण्य और अन्यो ने सम्यक्त्व ग्रहण कर लिया । भगवान् के सुव्रत आदि १०७ गणधर हुए । उन्होंने भगवान् से त्रिपदी धारण कर द्वादश अंगों की रचना की । भगवान् की देशना समाप्त होने पर गणधर सुव्रत ने देशना दी । कुण्ड का कार्य जैसे जल नाली करती है वैसे ही गुरु का कार्य शिष्य करता है : जब उन्होंने देशना शेष की तब त्रिलोकपति को प्रणाम कर देव स्व-स्व विमान को लौट गए । (श्लोक १७६-१७९)

भगवान् के तीर्थ में कृष्णवर्ण, हरिणवाहन कुसुम नामक यक्ष उत्पन्न हुआ जिसके दाहिनी ओर के एक हाथ में नींबू विजोरा था एवं अन्य हाथ अभय मुद्रा में था । बायीं ओर के एक हाथ में नकुल और अन्य में अक्षमाला थी । वे शासन देव बनकर भगवान् के निकट अवस्थित हुए । इसी प्रकार कृष्णवर्ण, मानववाहना अच्युता देवी यक्षिणी रूप में उत्पन्न हुई । उनके दाहिने हाथ के एक हाथ में पाश और अन्य हाथ वरद-मुद्रा में था । बायीं ओर के एक हाथ में धनुष था और अन्य हाथ अभय-मुद्रा में था । वे भगवान् पद्मप्रभ की शासन देवी बनीं । (श्लोक १८०-१८३)

भगवान् के तीर्थ में ३ लाख ३६ हजार साधु, ४ लाख २० हजार साध्वियाँ, २ हजार ३ सौ पूर्वधर, १० हजार अवधिज्ञानी, १० हजार ३ सौ मनः पर्यवज्ञानी, १२ हजार केवली, १६ हजार १ सौ ८ वैक्रिय लब्धिधारी, ९ हजार ६ सौ वादी, २ लाख ७६ हजार श्रावक और ५ लाख ५ हजार श्राविकाएँ थीं । भगवान् ने

केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् १६ पूर्वाङ्ग ६ मास कम एक लाख पूर्व तक संयम का पालन किया। (श्लोक १८४-१९१)

निर्वाण समय निकट जानकर भगवान् सम्भेत-शिखर पर्वत पर गए और एक मास का उपवास किया। अग्रहण कृष्णा एकादशी को चन्द्र जब चित्रा नक्षत्र में था तब अपने चार अघाती कर्मों को क्षयकर सिद्धों के चार अग्रन्त प्राप्त किए। चतुर्थ अग्रन्त में मनुष्य की चतुर्थ स्थिति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त किया। उनके साथ अनशन लेने वाले ८०३ साधु भी मोक्ष को प्राप्त हुए। (श्लोक १९२-१९३)

साढ़े सात लाख पूर्व और सोलह पूर्वाङ्ग राजकुमार रूप में साढ़े इक्कीस लाख पूर्व राज्य की रक्षा करते हुए और एक लक्ष पूर्व कम सोलह पूर्वाङ्ग व्रत ग्रहण कर इस पृथ्वी पर उन्होंने विचरण किया। इस प्रकार भगवान् पद्मप्रभ की सर्वायु ३० लाख पूर्व की थी। सुमतिनाथ के निर्वाण के ९ हजार कोटि सागर के पश्चात् भगवान् पद्मप्रभ का निर्वाण हुआ। (श्लोक १९४-१९६)

भगवान् के निर्वाण के पश्चात् ६४ इन्द्र वहां आए और भगवान् एवं मुनियों की देह का भक्ति भाव से संस्कार कर निर्वाण कल्याणक उत्सव किया। (श्लोक १९७)

चतुर्थ सर्ग समाप्त

पंचम सर्ग

तट को प्लावित करने वाली केवल-समुद्र की तरंगों की तरह श्री सुपार्श्व जिन की वाणी तुम्हारी रक्षा करे। जीवों के मिथ्यात्वरूप अन्धकार के लिए सूर्य-किरणों की तरह उज्ज्वल सप्तम तीर्थङ्कर श्री सुपार्श्वनाथ जिन के जीवनवृत्त का मैं अब वर्णन करूँगा। (श्लोक १-२)

घातकी खण्ड द्वीप के पूर्व विदेह में रमणीय नामक विजयमें क्षेमपुरी नामक एक नगरी थी। वहां पृथ्वी को आनन्दप्रदानकारी सूर्य की भांति भास्वर समृद्धि के निवासरूप नन्दीसेन नामक एक राजा राज्य करते थे। धर्म ही मानो उनका मन्त्री और दाहिना हाथ था, ऐसे वे राज्य कार्य में सदैव जागरूक रहते थे। प्रजा के सुख में कंटक रूप व्यक्तियों का जब वे विनाश करते तो उनका वह

क्रोध भी धर्म के लिए हो होता था। और उनका कार्य ? उनकी यह विशेषता थी कि अर्हत् और सिद्ध जो उनके मस्तिष्क में रहते हैं वे मानो उनके हृदय में विराजते थे। वे दुःख से पीड़ितों के आश्रय-रूप थे; किन्तु विरह-पीड़ितों के लिए कभी भी किसी भी प्रकार से नहीं। जैसे-जैसे दिन व्यतीत होते गए वैसे-वैसे वे संसार से विरक्त होते हुए अन्ततः आचार्य अरिदमन से दीक्षित हो गए। निष्ठा सहित व्रतों का पालन करते हुए कई एक स्थानकों की उपासना कर उन महामुनि ने तीर्थङ्कर गोत्र कर्म उपाज्जन किया। योग्य समय में अनशन ग्रहण कर उन्होंने देह का त्याग किया और पष्ठ ऋषेयक में ऋद्धि सम्पन्न देव के रूप में उत्पन्न हुए।

(श्लोक ३-११)

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में काशी देश की अलङ्कार तुल्य वाराणसी नामक एक नगरी थी। वहां के गृहों की प्राचीरें मणि-जड़ित थीं इसलिए वहां प्रदीप केवल भगवान् की पूजा के समय ही जलता था। वहां के मन्दिरों के उच्च सुवर्ण-दण्डों में संलग्न चन्द्र मात्र धर्म-छत्र के रूप में ही शोभित होता था। जम्बूद्वीप के चारों ओर की जगती के वातायनों को भूलकर विद्याधरियां नगरी के प्राकारों के सुरक्षा-स्तम्भों पर बैठकर विश्राम-मुख उपभोग करती थीं। इस नगरी के प्रत्येक गृह में रति-पति को कल्याण-मार्ग की शिक्षा देने के लिए ही जैसे रात में कपोत-कपोती कूजन करते थे।

(श्लोक १२-१६)

वहां के राजा का नाम था प्रतिष्ठ। वे धर्मानुरागी थे, भव्य-जनों के लिए ख्याति की कल्पवृक्ष तुल्य और इन्द्र की तरह ख्याति सम्पन्न थे। समस्त पृथ्वी उनके चरणाश्रित थी। कारण, वे मेरु की तरह सामर्थ्य में अनन्त थे। वे जब दिग्विजय के लिए निकलते थे तब आकाश श्वेतछत्र में सारस-मय और मयूर पुच्छ के छत्र में मेघमय हो जाता था। युद्ध क्षेत्र में वीरव्रत से अलंकृत होकर शत्रुओं से अपना मुँह कभी नहीं फिराते थे मानो वे उनके याचक हों। जन्म से ही किसी सहायता के बिना उन दीर्घबाहु ने कमल क्रीड़नक की तरह पृथ्वी को धारण कर रखा था। (श्लोक १७-२१)

पृथ्वी की भांति ही क्षमा, धृति आदि गुणों से सम्पन्न पृथ्वी नामक उनकी एक रानी थी। उनके सहज गुण और सौन्दर्य अलंकार

तुल्य थे अतः उनके बाहरी अलंकार तो मात्र अलंकृत ही होते थे । ताम्रपर्णी नदी में जिस प्रकार मुक्ता शोभा पाते हैं निष्कलंक उनमें उसी प्रकार विभिन्न गुण शोभा पाते थे । पद्म-मुख, पद्म-लोचन, पद्म-हस्त, पद्म-चरण युक्त उनकी देह मानो श्री देवी का लावण्य तरंग युक्त अन्य पद्म-सरोवर था । वे तीर्थङ्कर की माँ बनेंगी इस भावना से और उनके रूप के कारण देवियाँ आकर उनकी सेवा करतीं । (श्लोक २२-२६)

षष्ठ ग्रैवेयक विमान से नन्दीसेन के जीव ने अपनी अट्टाईस सागरोपम की आयुष्य पूर्ण की । भाद्र कृष्णा अष्टमी को चन्द्र जब राधा नक्षत्र में था तब नन्दीसेन के जीव ने च्युत होकर पृथ्वी देवी के गर्भ में प्रवेश किया । मुख-शय्या पर सोई पृथ्वी देवी ने रात्रि के शेष भाग में तीर्थङ्कर के जन्म-सूचक चौदह महास्वप्न देखे । गर्भ के बढ़ने के समय उन्होंने स्वयं को एक, पाँच और नौ फणों से युक्त सर्प की शय्या पर सोते हुए देखा । ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी को चन्द्र जब विशाखा नक्षत्र में था तब उन्होंने बिना किसी कष्ट के स्वर्ण-वर्ण, स्वस्तिक चिह्नयुक्त एक पुत्र को जन्म दिया ।

(श्लोक २७-३१)

छप्पन दिक्कुमारियाँ अवधिज्ञान से तीर्थंकर का जन्म अवगत कर तीव्रगति से वहाँ आईं और जन्म समय की क्रियाएँ सम्पन्न कीं ।

इस भाँति शक्र भी वहाँ आए और जगत्पति को मेरु-शिखर स्थित अतिपाण्डुकवला नामक शिला पर ले गए । धात्री की भाँति जगन्नाथ को गोद में लेकर वे रत्नजडित सिंहासन पर बैठे । तैसठ इन्द्रों ने पर्याय-क्रम से तट-स्थित पहाड़ को समुद्र तरंग जैसे अभिषिक्त करती है उसी प्रकार तीर्थंजल से तीर्थपति को अभिषिक्त किया । भगवान् को ईशानेन्द्र की गोद में देकर शक्र ने फुहारें निकलते जल की तरह स्फटिक वृषों के सींगों से निकलते जल से उनको अभिषिक्त किया । भगवान् की देह पर गो-शीर्ष चन्दनादि विलेपन कर वस्त्राभूषणों से उनकी उपासना कर सौधमैन्द्र ने इस प्रकार स्तुति की :

(श्लोक ३२-३७)

‘अगम्य स्वभाव सम्पन्न आपकी स्तुति करने का प्रयास मेरे लिए बन्दर का छलांग लगाकर सूर्य को पकड़ने जैसा है । फिर भी भगवन्, आपकी शक्ति से मैं आपकी स्तुति करूँगा । कारण,

चन्द्र-किरणों से ही चन्द्रकान्त मणि उत्पन्न होती है । अपने समस्त कल्याणकों में आप जब नारक जीवों को भी आनन्दित करते हैं तब तिर्यंच, मनुष्य और देवों को क्यों आनन्दित नहीं करेंगे ? आपके जन्म-कल्याणक के समय जो आलोक त्रिलोक में व्याप्त हुआ था आपके केवल ज्ञान रूपी सूर्य के प्रकाश में वह रक्तवर्ण धारण करेगा । हे प्रभो, आपकी अनुकूलता से ही मानो समस्त दिशाएँ अनुकूल हुई हैं । यह सुखप्रद वायु कल्याण के लिए ही प्रवाहित हो । हे भगवन्, आप जब जगत को आनन्द दान करते हैं तब उसे निरानन्द कौन कर सकता है ? मुझ अविवेकी को धिक्कार है ! हे प्रभो, हमारे आसन ही धन्य हैं जो कम्पित होकर आपके जन्म को तुरन्त घोषित कर देते हैं । यद्यपि निदान करना निषिद्ध है फिर भी मैं यह निदान करता हूँ कि हे प्रभो, आपके दर्शनों के फलस्वरूप आपमें मेरी भक्ति अविचल रहे ।’ (श्लोक ३८-४५)

इस प्रकार स्तुति कर इन्द्र भगवान् को लेकर त्वरित गति से लौट गए और नहीं जान सके इस प्रकार रानी पृथ्वी देवी के पार्श्व में शिशु को सुला दिया । वन्दियों की मुक्ति आदि महत् कार्यों द्वारा राजा ने प्रजा को आनन्दित कर आनन्द वृक्ष की तरह पुत्र-जन्म का महा-महोत्सव किया । जब प्रभु गर्भ में थे उनकी माँ का पार्श्व अत्यन्त सुन्दर दिखाई पड़ता था । इसीलिए राजा प्रतिष्ठ ने पुत्र का नाम सुपार्श्व रखा । शक्र द्वारा रक्षित अंगुष्ठ का अमृत-पान कर वे क्रमशः बड़े होने लगे । मातृ-स्तन पान नहीं करने के कारण अर्हत् देवों के लिए भी पूज्य होते हैं । बाल-चञ्चलता के कारण वे बार-बार धात्रियों की गोद से उतरकर यहां-वहां खेलने लगे । जो देव मनुष्य रूप धारण कर बाजी लगाकर उनके साथ खेलते उन्हें वे सहज ही पराजित कर देते थे । क्रीड़ा में भी अर्हत्तों के तुल्य कौन हो सकता है ? कामी जिस प्रकार क्रीड़ा कर रात्रि व्यतीत करता है उसी प्रकार नानाविध क्रीड़ा कर उन्होंने बाल्यकाल बिताया । (श्लोक ४६-५२)

दो सौ धनुष दीर्घ और सर्व सुलक्षण युक्त प्रभु ने सौन्दर्य के अलंकार तुल्य जीवन को प्राप्त किया । पिता-माता के प्रति आदर रखने के कारण उन्होंने विवाह किया । पिता-माता की आज्ञा तो त्रिजगत्पति के लिए भी पालनीय है । फिर अपने भोग-कर्मों को भी

तो क्षय करना था। कारण वे तो कर्म-क्षय में ही निरत रहते थे। युवराज रूप में पाँच लाख पूर्व व्यतीत होने पर पिता की आज्ञा से पिता द्वारा प्रदत्त पृथ्वी का भार उन्होंने ग्रहण किया। पृथ्वी का शासन करते हुए प्रभु ने चौदह लाख पूर्व और बीस पूर्वांग व्यतीत किए।

(श्लोक ५३-५७)

संसार से उनकी विरक्ति को देखकर ब्रह्मलोक से लोकान्तिक देव आए और उन्हें उद्बुद्ध करते हुए बोले— 'जो स्वयंसंबुद्ध होते हैं वे हमारे द्वारा प्रतिबोधित नहीं होते, हम तो उन्हें स्मरण करवाते हैं। प्रभो आप तीर्थ की प्रतिष्ठा करिए।' ऐसा कहकर वे स्वर्ग लौट गए।

(श्लोक ५८-५९)

दीक्षा समारोह के लिए सुपाश्र्व स्वामी ने दक्षिणा के कल्परत्न हों इस प्रकार एक वर्ष तक दान दिया। एक वर्ष पश्चात् आसन कम्पायमान होने से इन्द्र ने आकर उनका दीक्षा समारोह सम्पन्न किया। मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त करने के अभिलाषी जगत्पति ने रत्न-जड़ित मनोहरा नामक शिविका में आरोहण किया। देव, असुर और राजन्यकों द्वारा परिवृत्त होकर वे सहस्राश्र्वन नामक सुन्दर उद्यान में गए। तीनों जगत् के अलंकार रूप प्रभु ने अपने अलंकारों को खोल दिया और शक्र प्रदत्त देवदूष्य स्कन्ध पर रखा। ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी के दिन चन्द्र जब राधा नक्षत्र में था तब दो दिनों के उपवास के पश्चात् प्रभु ने सहस्र राजाओं सहित दीक्षा ग्रहण की। उन्हें तभी चतुर्थ मनःपर्यव ज्ञान उत्पन्न हुआ। मुहूर्त भर के लिए नारकी जीवों को भी सुखानुभव हुआ।

(श्लोक ६०-६६)

दूसरे दिन पाटलीखण्ड नगरी में राजा महेन्द्र के प्रासाद में खीरान्न ग्रहण कर प्रभु ने दो दिनों के उपवास का पारणा किया। देवताओं ने रत्न वर्षा आदि पाँच दिव्य प्रकटित किए। राजा महेन्द्र ने जहाँ प्रभु खड़े थे वहाँ रत्न-भण्डित पाद-पीठ का निर्माण करवाया।

(श्लोक ६७-६८)

जिस प्रकार पर्वत उत्ताप को विनष्ट करता है उसी प्रकार त्रिजगत्पति उपसर्ग रूप बाहिनी को पराजित कर देह की कामना से भी शून्य स्वर्ण और कुक्ष में समभाव सम्पन्न हुए। त्रिजगत्पति ने छद्मस्थ रूप में एकाकी, मीनावलम्बी, नासाग्रदृष्टि सम्पन्न, विविध संकल्पों में संलीन, नियत श्रमशील, निर्भय, हृद, विविध प्रतिमाओं

को धारण कर ध्यान में लीन रहते हुए नौ मास पर्यन्त समस्त पृथ्वी पर विचरण किया । (श्लोक ६९-७१)

विचरण करते हुए वे पुनः सहस्राश्वन उद्यान में लौट आए एवं शिरीष वृक्ष तले दो दिनों के उपवासी प्रतिमा धारण कर अवस्थित हो गए । प्रभु ने शुक्ल ध्यान के द्वितीय पाद के अन्त में संसार-वृद्धि के कारण रूप घाती कर्मों को विनष्ट किया । फाल्गुन कृष्णा अष्टमी को जबकि चन्द्र विशाखा नक्षत्र में था भगवान् सुपाश्वर्नाथ को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ । (श्लोक ७२-७४)

भृत्य की भाँति देवेन्द्र और असुरेन्द्र मुहूर्तमात्र में वहाँ उपस्थित हुए और प्रभु की देशना के लिए समवसरण का निर्माण करवाया । तब त्रिजगत्पति मानो मोक्ष के द्वार में प्रवेश कर रहे हैं इस प्रकार पूर्व द्वार से उसमें प्रविष्ट हुए । पृथ्वी के कल्पवृक्ष रूप भगवान् ने चैत्य वृक्ष को तीन प्रदक्षिणा दी । वह चैत्यवृक्ष एक कोस और ४०० धनुष दीर्घ था । तदुपरान्त 'नमो तित्थाय' कहकर दिव्य अतिशयों से युक्त भगवान् श्रेष्ठ सिंहासन पर उपवेशित हुए । माँ पृथ्वी ने स्वप्न में जैसा सर्प देखा था इन्द्र ने वैसा ही एक सर्प प्रभु के मस्तक पर निर्मित किया । यह द्वितीय छत्र-सा लगता था । उसी समय से प्रभु के अन्य समवसरणों में एक फण, पाँच फण और नौ फणों से युक्त सर्प स्थापित होने लगे । उन्हीं की शक्ति से देवों ने उनके अनुरूप तीन प्रतिविम्बों का निर्माण कर उन्हें अन्य तीनों ओर रखा । इस प्रकार यथास्थान समवसरण नियोजित हुआ । साधारण मनुष्य भी भीड़ न कर यथास्थान अवस्थित हो गए । (श्लोक ७५-८२)

तदुपरान्त सौधर्म कल्प के इन्द्र ने दोनों हाथ ललाट पर लगाकर वन्दना कर निम्नलिखित स्तुति की :

'हे सप्तम तीर्थंकर, पृथ्वी रूप कमल के लिए सूर्य रूप भगवान् आपको नमस्कार है । हे भगवन्, सभी के दुःखों का अवसान हो गया और आनन्द लौट आया है । संघ की प्रतिष्ठा में मानो सब कुछ प्रतिष्ठित हो गया है । हे धर्मचक्रवर्ती, आपकी वाणी के दिव्य दण्ड रत्न से आज वैताड्य पर्वत के द्वार की भाँति मोक्ष द्वार खुल जाएगा । मेघोदय जैसे उत्ताप को विनष्ट कर आनन्द का संचार करता है उसी प्रकार आपका अभ्युदय वेदना को नाश कर समस्त जीव-जगत् में आनन्द का संचार करता है । दरिद्र को धन

प्राप्ति की भाँति दीर्घ काल के पश्चात् हे भगवन् आपकी अनन्त ज्ञान सम्पन्न वाणी को हम सुनेंगे। आपका दर्शन कर और विशेष रूप से आपकी मोक्ष द्वार उन्मुक्तकारी देशना सुनकर आज हम चरितार्थ होंगे। अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति और अनन्त सुख युक्त जिनकी आत्मा है ऐसे आपको मैं नमस्कार करता हूँ। आप समस्त दिव्य गुणों से सम्पन्न और आत्मलीन हैं। इन्द्र पद प्राप्ति का तो मूल्य ही क्या है जबकि हे लोकनाथ, आपकी सेवा कर ही लोक आप जैसा हो सकता है।' (श्लोक ८३-९१)

इन्द्र के इस प्रकार स्तुति कर चुकने के पश्चात् भगवान् ने अपनी देशना प्रारम्भ की :

‘यहाँ जो कुछ भी है सब कुछ आत्मा से भिन्न है। फिर भी मूर्ख मनुष्य सांसारिक वस्तुओं के लिए कर्म कदाचिदसाधन में लूबे रहे रहते हैं। जबकि देह जीव से भिन्न है। तब एकदम भिन्न अर्थ परिजन बन्धु-बान्धुओं की भिन्नता के विषय में तो कहना ही क्या है? जो स्व-आत्मा से देह, अर्थ, बन्धु-बान्धवों को भिन्न देखता है उन्हें दुःख रूपी शूल की वेदना क्यों होगी? जब आत्मा से ही पार्थक्य है तब देहादि जो कि स्वभाव से ही भिन्न है उनकी भिन्नता का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। (श्लोक ९२-९७)

‘देह को इन्द्रियों द्वारा जाना जाता है; किन्तु आत्मा को अनुभव द्वारा जाना जाता है। यदि ऐसा ही है तो उनकी अभिन्नता का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है? (प्रश्न) यदि कहा जाए शरीर और आत्मा भिन्न हैं तब शरीर पर हुए आघात से आत्मा क्यों दुःखी है? (उत्तर) जो आत्मा को देह से भिन्न अनुभव नहीं करते उन्हें देह पर हुए आघात का सचमुच ही अनुभव होगा; किन्तु जिन्हें देह और आत्मा भिन्न है यह ज्ञान हो गया है वे पितृ वियोग जैसे दुःख का भी अनुभव नहीं करते। जिन्हें इस भिन्नता का ज्ञान नहीं है उन्हें भूत्यादि सामान्य व्यक्ति के लिए भी दुःख होता है। अनात्मीय भावना से पुत्र भी पराया हो जाता है, जो भृत्य है वह भी आत्मीय भावना से अपना हो जाता है। संयोग सम्बन्ध को जो जितना आत्मीय समझकर स्नेह करता है वह अपने लिए उतना ही शोक रूपी शूल का सर्जन करता है। एतदर्थ जो ज्ञानी है वह समस्त वस्तुओं को आत्मा से भिन्न समझता है। इस भाँति जिसकी अन्यत्व

बुद्धि हो जाती है वह किसी वस्तु के वियोग होने पर मोह को प्राप्त नहीं होता । जिस प्रकार लौकी की खोल पर लगी मिट्टी धुल जाने पर वह जल पर तैरने लग जाती है उसी प्रकार अन्यत्व रूप भेद ज्ञान से जिसका मोह-मल विगलित हो गया है वह श्रामण्य ग्रहण कर अल्प समय में ही संसार-सागर को पार कर जाता है ।'

(श्लोक ९८-१०५)

इस देशना को सुनकर बहुत-से व्यक्तियों को सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई, कोई श्रमण बने, कोई श्रावक । विदर्भ आदि ९५ गणधर हुए और उन्होंने प्रभु की देशना से बारह अंगों की रचना की । प्रभु की देशना शेष होने पर गणधर-प्रमुख विदर्भ ने प्रभु के पाद-पीठ पर बैठकर देशना दी । जब गणधर-प्रवचन समाप्त हुआ तब देव और अन्यान्य जन भगवान् को वन्दना कर स्व-स्व स्थल को लौट गए ।

(श्लोक १०६-१०९)

सुपाश्वनाथ के तीर्थ में कृष्णवर्ण हस्तीवाहन मातंग नामक यक्ष उत्पन्न हुए जिनके दाहिनी ओर के दोनों हाथों में विल्व और पाश थे और बायीं ओर के दोनों हाथों में नकुल और गदा थी । ये सुपाश्व स्वामी के शासन देव हुए । इसी प्रकार उनके तीर्थ में कनकवर्णा हस्ती-वाहना शान्ता नामक देवी उत्पन्न हुई जिनके दाहिनी ओर के दोनों हाथों में एक हाथ वरद मुद्रा में था और अन्य हाथ में अक्षमाला थी । बायीं ओर के दोनों हाथों में से एक अभय-मुद्रा में था दूसरे में त्रिशूल था ।

(श्लोक ११०-११३)

तदुपरान्त प्रभु सूर्य जैसे कमल को प्रस्फुटित करता है उसी प्रकार भव्य जीवों को प्रमुदित कर ग्राम-ग्राम, नगर-नगर में विचरने लगे । प्रभु के तीर्थ में तीन लाख साधु, चार लाख तीस हजार साध्वियाँ, दो हजार तीस चौदह पूर्वधर, नौ हजार अवधिज्ञानी, नौ हजार एक सौ पचास मनःपर्यव ज्ञानी, ग्यारह हजार केवली, पन्द्रह हजार तीन सौ वैक्रियलब्धिधारी, चौरासी सौ वादी, दो लाख सत्तावन हजार श्रावक एवं चार लाख तिरानवे हजार श्राविकाएँ थीं ।

(श्लोक ११४-११७)

भगवान् को केवलज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् बीस पूर्वांग और नौ महीने कम एक लाख पूर्व व्यतीत होने के पश्चात् वे सम्मेद शिखर पर्वत पर गए । वहाँ देवों एवं असुरों द्वारा सेवित होकर

पाँच सौ मुनियों सहित प्रभु ने सिद्ध गति प्राप्त की ।

(श्लोक ११८-१२२)

सुपाश्वं प्रभु ने पाँच लाख पूर्व तक युवराज रूप में, चौदह लाख पूर्व और बीस पूर्वाङ्ग तक राजा रूप में, बीस पूर्वाङ्ग कम एक लाख पूर्व तक व्रती रूप में व्यतीत किए । आपकी सम्पूर्ण आयु बीस लाख पूर्व की थी । सुपाश्वं स्वामी का निर्वाण पद्म-प्रभ स्वामी के निर्वाण के नौ हजार क्रोड़ सागरोपम के पश्चात् हुआ ।

(श्लोक १२३-१२५)

अच्युतेन्द्रादि ने प्रभु और मुनिवरों की दाह-क्रिया सम्पन्न कर निर्वाणकल्याणक उत्सव मनाया ।

(श्लोक १२६)

पंचम सर्ग समाप्त

षष्ठ सर्ग

ॐ । भगवान् चन्द्रप्रभ की चन्द्रिका-सी वाणी जयवंत हो जो कि तमः का नाश कर आनन्द देती है । मैं भगवान् चन्द्रप्रभ स्वामी का जीवन जो सूर्यातिथ की तरह भव्य जनों के अज्ञान अन्धकार को गलाने में समर्थ है उसका वर्णन करता हूँ ।

(श्लोक १-२)

धातकी खण्ड द्वीप के पूर्व विदेह के अलंकार-तुल्य मंगलावती विजय में रत्न-संचय नामक एक नगरी थी । उस नगरी के राजा का नाम था पद्म । वे पद्मा के पद्म-निकेतन तुल्य और सामर्थ्य में भोगवती के नागराज की तरह अत्यन्त शक्तिशाली थे । सदा दिव्य गीत परिवेशनकारी गन्धर्वों द्वारा सेवित वे अप्सराओं-सी गणिकाओं द्वारा परिवृत्त रहते थे । दिव्य गन्ध वस्त्र और अलंकारादि द्वारा उनका सुन्दर शरीर चर्चित और शोभित होता था । उनका आदेश राजाओं द्वारा दिन-रात पाला जाता था व कोशागार कभी शून्य नहीं होता । उनकी प्रजा सर्वतः समृद्धिशाली थी । उसे किसी प्रकार का अणु-मात्र भी दुःख नहीं था ।

(श्लोक ३-७)

उनके प्रमुख वे राजा तत्त्व ज्ञात कर संसार से विरक्त हो गए ।

(श्लोक ८)

इन्द्र जिस प्रकार पर्वत विनष्ट करने को वज्र ग्रहण करते हैं उसी प्रकार उन्होंने संसार विनष्ट करने को गुरु युगन्धर की दीक्षा

ग्रहण कर ली। बहुत प्रकार के संकल्प ग्रहण और इन्द्रिय दमन कर स्वदेह से भी विगत मोह उन राजा ने दीर्घ काल तक व्रतों का पालन किया। जिस तीर्थङ्कर गोत्र कर्म का उपाजन करना कठिन है उसी तीर्थङ्कर गोत्र कर्म को उन्होंने बहुत से अर्थ-व्यय से क्रय किए रत्नों की भाँति बहुत से स्थानों की उपासना द्वारा अर्जन किया। कालक्रम से आयुष्य शेष होने पर वे महामुनि व्रत रूपी वृक्ष के फलस्वरूप वैजयन्त विमान में उत्पन्न हुए। (श्लोक ९-१२)

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में पृथ्वी के आनन-तुल्य चन्द्रानन नामक एक नगर था। उस नगर में रत्नाकर में जैसे जहाज शोभित होता है उसी प्रकार बहुत प्रकार के रत्नों से विपणि श्रेणियाँ शोभित होती थीं। वहाँ कई आकारों के कई प्रकार के विविध वर्णों के गृह थे। देखकर लगता जैसे सान्ध्य-मेघ पृथ्वी पर उतर आए हैं। इसके उद्यान में प्रतिमाधारी निष्पन्द चारण मुनियों को देखकर भ्रम होता है कि मनुष्य के रूप में मानो पर्वत ही स्थित हो गए हैं। यहाँ की नारियाँ रत्न-प्राचीरों में अपने प्रतिविम्बों को देखकर उसे अन्य नायिका समझ अपने प्रेमियों पर क्रुद्ध हो जातीं।

(श्लोक १३-१७)

महासेन जिनके सैन्यदल से पृथ्वी आच्छादित हो जाती और जो अपराजेय मुकुटमणि से समुद्रतुल्य थे, उस नगरी के राजा थे। भृत्य की भाँति वैभव उनकी शक्ति से युक्त थे मानो उन्होंने पृथ्वी पर अधिकार प्राप्त कर लिया हो। जिनका आदेश कभी अमान्य नहीं होता ऐसे वे राजा जब राज्य कर रहे थे तब स्वतः ही एक-दूसरे के द्रव्य जन्म से ही ग्रहण नहीं करते थे। वे सर्वेश्वर थे, समुद्र-से अगाध, चन्द्र-से सुन्दर, कल्पतरु सम और दान में इन्द्र। द्वार-से विस्तृत उनके वक्ष पर रमा उनके प्रति अनन्य भक्ति परायणा होकर गंगा के सैकत पर हँसिनी जिस प्रकार क्रीड़ा करती है उसी प्रकार क्रीड़ा करती।

(श्लोक १८-२२)

उनकी लक्ष्मणा नामक सर्व-सुलक्षणा और मुख-सौन्दर्य से चन्द्र को भी परास्त करने वाली एक रानी थी। यद्यपि वह अतुलनीय लावण्ययुक्त (लवणयुक्त) थीं फिर भी उनकी दृष्टि और वाणी केवल अमृत ही बरसाती। प्रति कदम पर मानो कमल विकसित करती हुई वह धीर गति से चलतीं। उनकी भाँहे और भंगिमा वक्र

थी; किन्तु मन वक्र नहीं था। उनकी कटि क्षीण थी; किन्तु बुद्धि क्षीण नहीं थी। सैन्यवाहिनी जिस प्रकार सेनापति से सुशोभित होती है उसी प्रकार उनके समस्त गुण सद्-व्यवहार से शोभित होते थे।

मार्गचर्चक — आधावें भा (श्लोक २३-२७) महाराज

राजा पद्म के जीव ने वैजयन्त विमान की तैंतीस सागरोपम की आयु व्यतीत की। चैत्र मास की कृष्णा पंचमी को चन्द्र जब अनुराधा नक्षत्र में था तब पद्म का जीव विमान से च्युत होकर रानी लक्ष्मणा के गर्भ में अवतरित हुआ। उसी समय सुख-शय्या में सोई रानी लक्ष्मणा ने तीर्थंकर जन्म को सूचित करने वाले चौदह महा-स्वप्न देखे। पृथ्वी जिस भाँति अलक्षित रूप से रत्नभार वहन करती है उसी प्रकार उन्होंने स्वच्छन्दतापूर्वक अलक्षित रूप से गर्भ-भार वहन किया। पौष कृष्णा द्वादशी को जब चन्द्र अनुराधा नक्षत्र में अवस्थित था उन्होंने चन्द्र-से वर्ण और चन्द्रलाञ्छनयुक्त एक पुत्र-रत्न को प्रसव किया। (श्लोक २८-३२)

सिंहासन के कम्पित होने पर अष्टम तीर्थंकर का जन्म अवगत कर छप्पन दिक्कुमारियाँ उनके जन्म-कृत्य सम्पादन करने को आयीं। सौधर्म देवलोक के इन्द्र ने सानन्द प्रभु का जन्म-स्नान महोत्सव अनुष्ठित किया। देवों द्वारा परिवृत्त होकर वे प्रभु को मेरु पर्वत पर ले गए। इन्द्र अति पाण्डुकवला शिखर स्थित रत्न-जड़ित सिंहासन पर प्रभु को गोद में लेकर बैठ गए। अच्युतादि त्रेसठ इन्द्रों ने आनन्दमना होकर उन्हें स्नान करवाया—फिर दिव्य गन्ध अलंकार और वस्त्रों से उनकी वन्दना, उपासना कर भगवान् की इस प्रकार स्तुति की : (श्लोक ३३-३८)

‘अनन्तगुण सम्पन्न आपकी जो स्तुति करने को मैं प्रवृत्त हुआ हूँ यह वैसा ही हास्यास्पद है जैसे आकाश को धारण करने के लिए चातक अपने पाँवों को ऊपर कर सोता है। फिर भी मैं आपकी शक्ति से ही आपकी स्तुति करता हूँ। सामान्य-सा मेघ भी पूर्वी हवा से क्या आकाश को आच्छादित नहीं कर देता? मनुष्यों द्वारा आप दृष्ट और श्रुत हैं इसीलिए आप कर्म पुञ्ज का विनाश करने के लिए एक अद्वितीय अस्त्र हैं। आज पृथ्वी पर शुभ कर्म का उदय हुआ है। जिस प्रकार सूर्य कमल के अन्धकार को दूर करने के लिए उदित होता है उसी प्रकार सबके अज्ञानान्धकार को दूर करने के

लिए आपका उदय हुआ है। अपवित्रता फल प्रसव न कर चन्द्रकिरण द्वारा आहत शेफालिका की तरह मुझसे शीघ्र ही झर जाएगी। आपका इस देह को धारण करना ही समस्त जीवों का दुःख भार हर लेता है, आपके श्रमण शरीर की तो बात ही क्या जो कि सबको निर्भय कर देता है। मदस्त्रावी हस्ती जैसे अरण्य वृक्ष को उत्पादित करता है वैसे ही आपने भी संसार के मूल कर्म को उखाड़ने के लिए जन्म ग्रहण किया है। जैसे अलंकार मुक्ताहार मेरे हृदय के बाहर शोभा पाता है उसी प्रकार आप हे त्रिलोकपति, मेरे हृदय के भीतर अवस्थान कर। (श्लोक ३९-४६)

यह स्तुति कर सौधमेंद्र ने ईशानेन्द्र की गोद से प्रभु को लेकर यथाविधि रानी लक्ष्मणा के पास ले जाकर सुला दिया। राजा महासेन ने पुत्र-जन्मोत्सव मनाया। अर्हत् का जन्म जब अन्यत्र उत्सव का कारणभूत होता है तो जहाँ अर्हत् जन्म लेते हैं उस गृह का तो कहना ही क्या? जब जातक गर्भ में था तब माँ को चन्द्रपान करने का दोहद उत्पन्न हुआ था और जातक का वर्ण भी चन्द्र-सा उज्ज्वल था अतः पिता ने नाम रखा चन्द्रप्रभ। (श्लोक ४७-४९)

शैशव में प्रभु का शरीर इस प्रकार दीप्तिमान था कि वे चन्द्र-किरण-से एक सुन्दर आलोक से शोभित होकर मानो तब भी वैजयन्त विमान में ही हैं ऐसा प्रतीत होता। हस्ति-शावक जिस प्रकार लता-वृन्त को पकड़कर बड़ा होता है वे भी उसी प्रकार धात्रियों का हाथ पकड़कर बड़े होने लगे। भगवान् जन्म से ही तीन ज्ञान सम्पन्न थे फिर भी उन्होंने अपना बाल्यकाल एक अबोध बालक की तरह ही व्यतीत किया। पथिक जिस प्रकार मनोहर कहानी की सहायता से दीर्घपथ का अतिक्रम करता है उसी प्रकार उन्होंने नानाविध क्रीड़ाएँ कर बाल्यकाल व्यतीत किया। (श्लोक ५०-५३)

एक सौ पचास धनुष ऊँचे प्रभु ने शैशव रूप नदी के दूसरे छोर और नारियों को वशीभूत करने के लिए इन्द्रजाल रूप यौवन को प्राप्त किया। अपने भोग कर्मों को अवशेष समझकर पिता की आज्ञा से उन्होंने योग्य राजकन्याओं का पाणि-ग्रहण किया। अपने जन्म के ढाई लाख पूर्व के पश्चात् स्वाध्याय सम्पन्न दीक्षा ग्रहण को उत्सुक प्रभु ने पिता द्वारा आदेश पाकर साढ़े छह लाख पूर्व और

चौबीस पूर्वांग आनन्द से राज्य-शासन कर व्यतीत किए ।

(श्लोक ५४-५७)

यद्यपि प्रभु अपने दीक्षा ग्रहण का योग्य समय जानते थे फिर भी नियोजित ज्योतिषियों की तरह लोकान्तिक देवों द्वारा उद्बुद्ध हुए । विदेश जाने के पूर्व अपनी व्यक्ति जिस प्रकार दान देते हैं उसी प्रकार दीक्षा ग्रहण के अभिलाषी होकर उन्होंने एक वर्ष तक दान दिया । एक वर्ष के पश्चात् सिंहासन कम्पित होने पर इन्द्र भृत्य की तरह वहाँ आए और प्रभु का दीक्षा महोत्सव मनाया । तदुपरांत प्रभु देवेन्द्र, असुरेन्द्र और राजाओं से परिवृत्त होकर सौन्दर्य से मनोमुग्धकारी मनोरमा नामक शिविका में बैठे । सबके द्वारा प्रशंसित, स्तुत और दृष्ट होते हुए भगवान् सहस्राम्रवन नामक उद्यान में पहुँचे । वहाँ शिविका से उतरकर प्रभु ने त्रिरत्न प्राप्त करने के लिए समस्त रत्नादि और अलंकारों को शरीर से उतार दिया । पौष कृष्णा त्रयोदशी को चन्द्र जब मैत्रेय नक्षत्र में था प्रभु ने तब अपराह्न समय दो दिनों के उपवास के बाद एक हजार राजाओं सहित श्रमण दीक्षा ग्रहण की । प्रभु को तभी मनःपर्यव नामक चौथा ज्ञान उत्पन्न हुआ जिससे लोक के समस्त जीवों के हृदयगत भावों को जाना जाता है । दूसरे दिन सुबह पद्मखण्डपुर के राजा सोमदत्त के घर खीरान्न ग्रहण कर प्रभु ने पारणा किया । देवों ने रत्नवर्षादि पाँच दिव्य प्रकट किए और राजा सोमदत्त ने जहाँ प्रभु खड़े थे एक रत्न-वेदिका निर्मित करवाई ।

(श्लोक ५८-६७)

जो तुषारपात सूर्यताप को परास्त कर देता है उस तुषारपात से भी अपराजित शीलवृष्टि सह प्रबल तूफान व कठोर आबहवा में भी अचंचल शीत की रात्रि में, जबकि नदियों का जल जमकर बरफ हो जाता है, वे अविचलित होकर ध्यान करते । सिंह, व्याघ्रादि हिंस्र वन्य-पशुओं से अद्युषित अरण्य में वे जिस प्रकार जाते थे वैसे ही जनपूर्ण नगर में भी अवस्थान करते । निःसंग, मुक्त, राग-रहित, मौन और अपरिग्रही होकर भगवान् ने इस पृथ्वी पर छद्मस्थ अवस्था में अधिकांश समय ध्यान निमग्न होकर व्यतीत किया ।

(श्लोक ६८-७१)

प्रव्रजन करते हुए वे पुनः सहस्राम्रवन उद्यान में लौट आए ।

वहाँ पुन्नाग वृक्ष के नीचे प्रतिमा धारण कर अवस्थित हो गए। शीत के अन्त में जिस प्रकार तुषार विगलित होता है उसी प्रकार द्वितीय शुक्ल ध्यान के बाद प्रभु के घाती कर्म विगलित हो गए। फाल्गुन कृष्ण सप्तमी को चन्द्र जब अनुराधा नक्षत्र में था तब दो दिनों के उपवास के पश्चात् उन्हें उज्ज्वल केवलज्ञान प्राप्त हो गया। (श्लोक ७२-७४)

भगवान् की देशना के लिए देवेन्द्र एवं असुरेन्द्रों ने एक योजन व्यापी समवसरण की रचना की। देवों द्वारा संचालित नौ स्वर्ण-कमलों पर पैर रखते हुए प्रभु पूर्व द्वार से समवसरण में प्रविष्ट हुए। रीति के अनुसार अठारह सौ धनुष ऊँचे चैत्य वृक्ष को प्रभु ने परिक्रमा दी। फिर 'नमो तित्थाय' कहकर पूर्वाभिमुख होकर रत्नमय सिंहासन पर बैठ गए। देव, असुर, मनुष्य आदि चतुर्विध दरवाजों से निर्दिष्ट स्व-स्व स्थानों पर जा बैठे। (श्लोक ७५-७९)

भगवान् को पंचांग प्रणिपात कर शक्र ने निम्नलिखित स्तोत्र पाठ किया—'हे भगवन्, त्रिभुवन चक्रवर्ती आपकी जिस वाणी को देव, असुर और मनुष्य मस्तक पर धारण करते हैं उसकी जय हो। भाग्योदय से ही मनुष्य आपको पहले तीन ज्ञान के धारी, तदुपरान्त उत्तरोत्तर श्रेष्ठ मनःपर्यव में और अब केवल-ज्ञान के धारक रूप में देख रहे हैं। आपका यह उज्ज्वल, पथ पार्श्वस्थ छायादानकारी वृक्ष की तरह सबके लिए शुभकारी केवलज्ञान चिरस्थायी हो। जब तक सूर्योदय नहीं होता तब तक ही अन्धकार रहता है। मद-मस्त हस्तियों का पराक्रम तभी तक है जब तक केशरी सिंह उपस्थित नहीं होता। दारिद्र्य तभी तक रहता है जब तक कल्पवृक्ष उत्पन्न नहीं होता। जलाभाव तभी तक है जब तक वर्षा के मेघ दिखलाई नहीं पड़ते। दिन की ऊष्णता तभी तक सताती है जब तक चन्द्र उदित नहीं होता। मिथ्यादृष्टि सम्पन्न तब तक ही रहते हैं जब तक आपका आविर्भाव नहीं होता। यद्यपि मैं प्रमादी हूँ फिर भी जो आपको देखते हैं, आपकी सेवा करते हैं उनका जयगान करता हूँ। आपकी अनुकम्पा से, आपके दर्शनों के फल रूप जैसे अब मैं अविचल सम्यक् दर्शन को प्राप्त करूँ।' (श्लोक ८०-८८)

यह स्तव पाठकर शक्र चुप हो गए तब त्रिलोकपति प्रभु ने अपने मेघ-गम्भीर स्वर में देशना देनी प्रारम्भ की—

‘अनन्त क्लेशरूपी तरंगों से भरा यह भव-सागर ऊर्ध्व, अधः और मध्यलोक के प्राणी को सर्वदा क्लिष्ट करता है। विष्ठादि अशुचि पदार्थ में जिस प्रकार कीटादि की प्रीति होती है उसी भांति देह-प्रीति ही इसका कारण है। रस, रक्त, मांस, चर्बी, अस्थि, मज्जा, वीर्य, आंत और विष्ठादि अपवित्र द्रव्यों से ही इस देह की रचना हुई है। इसमें पवित्रता कहां? नवद्वारों से निरन्तर झरती अशुचियों में पवित्रता की कल्पना करना ही बड़ा मोह है। वीर्य और रुधिर से उत्पन्न मलिन रस में वर्धित और जरायु आदि से आवृत्त इस देह में पवित्रता कैसे हो सकती है? माँ के द्वारा भक्षित अन्न-जल से उत्पन्न रस जो नाड़ियों से प्रवाहित होकर आया है उसे पान किए हुए शरीर में पवित्रता किस प्रकार रह सकती है? दोष, धातु और मलपूर्ण कृमि कीटादि का आवास रूप और व्याधिरूप रूप दंक्षित देह को कोई पवित्र नहीं कह सकता। स्वादिष्ट अन्न, जल, खीर, इक्षु और घृतादि इस देह में जाने के पश्चात् विष्ठादि घृण्य पदार्थों में रूपान्तरित हो जाता है ऐसे शरीर को कौन पवित्र कहेगा? यक्ष-कदमादि सुगन्धित द्रव्य इस शरीर पर लेपन करने से तत्क्षण ही वे मल रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। ऐसे शरीर में पवित्रता कहां? ताम्बूलादि सुगन्धित द्रव्य चर्वण कर सोया हुआ मनुष्य जब सुबह उठता है तब उसे अपने ही मुख की गन्ध से घृणा हो जाती है। ऐसी अवस्था में कौन शरीर को पवित्र कहेगा? सुगन्धित पुष्प, पुष्पमाला और धूपादि देह-सम्पर्क में आकर दुर्गन्ध-युक्त हो जाते हैं ऐसे शरीर को शुद्ध नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार मद्य का घड़ा दुर्गन्धयुक्त रहता है उसी प्रकार शरीर पर सुगन्धित तेल लेपन और उबटन द्वारा स्वच्छ किए व एकाधिक घड़ों के जल से धोत करने पर भी रस की अपवित्रता नहीं जाती। जो कहते हैं मृत्तिका जल, अग्नि, वायु और सूर्य-किरणों से स्नान करने पर शरीर पवित्र होता है वे वास्तविकता नहीं जानते। केवल शरीर को ऊपर से देखकर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। अतः तपस्या कर शरीर से मोक्ष रूपी फल उत्पन्न करना चाहिए। जैसे विजल वन समुद्र से रत्न बाहर निकलते हैं उसी प्रकार देह से भी सार निकालना उचित है।’

(श्लोक ८९-१०३)

इस देशना से प्रतिबोधित होकर हजारों लोगों ने श्रामण्य

ग्रहण किया। दत्त आदि भगवान् के तिरानवे गणधर हुए। उत्पाद आदि त्रिपदी द्वारा उन्होंने द्वादशाङ्गी की रचना की। भगवान् की देशना के पश्चात् प्रधान गणधर दत्त स्वामी ने भगवान् द्वारा शक्ति सम्पन्न होकर उनके पाद-पीठ पर बैठकर जन-साधारण के सम्मुख प्रवचन दिया। तरुण नागरिक गीत वाद्यादि समाप्त होने पर जिस प्रकार घर लौट जाते हैं उसी प्रकार उनके प्रवचन समाप्त होने पर देवादि स्व-स्व निवास को लौट गए। (श्लोक १०४-१०७)

भगवान् चन्द्रप्रभ के तीर्थ में हरित्वर्ण हंसवाहन विजय नामक यक्ष उत्पन्न हुए। उनके दाहिने हाथ में चक्र, बाएँ हाथ में गदा थी। इसी प्रकार पीतवर्ण मरालवाहना भृकुटि नामक यक्षी हुई। जिनकी दाहिनी ओर के दो हाथों में क्रमशः गदा व तलवार और बाई ओर के दो हाथों में मङ्गल खीर फुटार थी। वे तीर्थङ्कर के शासन देव-देवी बने। वे सदैव उनके साथ-साथ रहते थे। आकाश में जैसे चन्द्र उसी तरह पृथ्वी पर महाशक्ति सम्पन्न चन्द्रप्रभ प्रव्रजन करने लगे। (श्लोक १०८-१११)

भगवान् के तीर्थ में २,५०,००० साधु, ३, ८०,००० साध्वियाँ, २,००० चौदह पूर्व धारी, ८,००० अवधिज्ञानी, ८,००० मनःपर्याय ज्ञानी, १०,००० केवली, १४,००० वैक्रिय लब्धिधारी, ७,६०० वादी, २,५०,००० श्रावक और ४,९१,००० श्राविकाएँ थीं।

(श्लोक ११२-११५)

चौबीस पूर्वाङ्ग और छह मास कम एक लाख पूर्व तक प्रभु केवली रूप में विचरण कर सम्मत् शिखर पर्वत पर पधारे। एक हजार मुनियों सहित भगवान् देवता, असुर आदि द्वारा सेवित होकर एक मास का पादोपगमन व्रत ग्रहण किया। समस्त कर्म निरोध कर अविचल ध्यान में चार अधाती कर्म विनष्ट कर डाले। भाद्र कृष्ण सप्तमी को चन्द्र जब श्रवण नक्षत्र में था प्रभु ने एक हजार मुनियों सहित निर्वाण प्राप्त कर मोक्ष को गमन किया।

(श्लोक ११६-११९)

भगवान् अढ़ाई लाख पूर्व तक राजकुमार रूप में, साढ़े छह लाख पूर्व तक राजा रूप में और चौबीस पूर्वाङ्ग कम एक लाख पूर्व तक तीर्थङ्कर रूप में रहे। भगवान् की सर्वायु दस लाख पूर्व की थी। सुपार्श्व स्वामी के निर्वाण के नौ सौ करोड़ सागर के बाद

भगवान् चन्द्रप्रभ ने निर्वाण प्राप्त किया । (श्लोक १२०-१२२)

इन्द्रादि देवों ने आकर भगवान् और मुनिवरों की यथावर्णित अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न की और पुनः स्वर्ग को लौट गए ।

मार्गदर्शक - आचार्य (श्लोक १२३) गीता जी मू

षष्ठ सर्ग समाप्त

सप्तम सर्ग

अमङ्गल नाशकारी, पवित्र, त्रिलोक द्वारा माला की भांति मस्तक पर धारण करने योग्य भगवान् पुष्पदन्त की वाणी जयवन्त हो । उनकी शक्ति से शक्तिमान् होकर मैं नवम तीर्थङ्कर की जीवनी विवृत करता हूँ । (श्लोक १-२)

पुष्करार्द्ध द्वीप के पूर्व विदेह में पुष्कलावती विजय में पुण्डरिकिनी नामक एक नगर था । महा हिम पर्वत पर जिस प्रकार हृद महापद्म है उसी प्रकार पुण्डरिकिनी नगर के राजा थे महापद्म । धर्म को तो उन्होंने जन्म से ही ग्रहण कर लिया था जो कि शैशव से यौवन तक शारीरिक सौन्दर्य की तरह ही वर्द्धित हो रहा था । व्याज का व्यवसायी जिस प्रकार प्रतिदिन व्याज न मिलने पर दुःखी हो जाता है उसी प्रकार यदि एक मुहूर्त्त भी संयमहीन व्यतीत होता तो वे दुःखी हो जाते । रास्ते में नदी पार करते समय जिस प्रकार पथिक जलपान करता है उसी प्रकार वे धर्मकृत्य सम्पन्न कर राज-कार्य परिचालन करते । विज्ञ अप्रमादी वे अपने वंश की तरह कलङ्कहीन श्रावक जीवन व्यतीत करते थे । यद्यपि वे सदा संतोषी थे; किन्तु धर्म में संतोषी नहीं थे । अल्प परिमाण धर्म सम्पन्न अन्य को भी वे अपने से अधिक धार्मिक समझते थे । भवसागर पार करने के लिए उन्होंने जिस प्रकार रण-समुद्र उत्तीर्ण करने के लिए दिव्य अस्त्र ग्रहण करने पड़ते हैं उसी प्रकार जगनन्द मुनि से श्रामण्य दीक्षा ग्रहण कर ली । श्रावक धर्म में प्रवीण संलेखना ग्रहणकारी जिस प्रकार मृत्यु पर्यन्त उपवास का संरक्षण करता है उसी प्रकार वे धमण व्रतों का निष्ठापूर्वक पालन करते थे । एकावली आदि कठिन तपश्चर्या और अहंत् भक्ति से उन्होंने तीर्थङ्कर गोत्र कर्म उपाज्जन किया । इस भांति धर्म कार्य में निरत

वे आयुष्य-काल पूर्ण होने पर वैजयन्त विमान में महाशक्तिधर देवरूप में उत्पन्न हुए । (श्लोक ३-१३)

जम्बू द्वीप के भरत क्षेत्र के दक्षिणार्ध में वैभव के लिए प्रसिद्ध काकन्दी नामक एक नगर था । इसके प्रतिगृह में प्रलम्बित मुक्ता-माला पतिव्रताओं के लिए मदन को दमनकारी अक्षमाला के रूप में सुशोभित थीं । मन्दिर से निकलता चतुर्विध संगीत विद्याधरियों को स्तब्ध करने के लिए मन्त्र रूप था । यहाँ के सरोवर निर्मलजल और श्वेतकमल से शरद्कालीन मेघमुक्त और नक्षत्र खचित आकाश के प्रतिबिम्ब की रचना करते । यहाँ के भिक्षुक भी गुरु की तरह पाद्य और अर्घ से सम्मान सहित पूजे जाते । (श्लोक १४-१८)

सौन्दर्य में पृथ्वी के कण्ठहार की तरह या प्रवेयक विमान के देव की तरह सुग्रीव नामक एक राजा यहाँ राज्य करते थे । मन्त्रपूत तलवार की तरह उनका आदेश क्या नगर क्या अरण्य क्या पर्वत क्या समुद्र सर्वत्र मान्य था । न्यायशासन की धारा और यश रूप तरंग पर्वत से समुद्र की ओर प्रवाहित होने वाली नदी की तरह उनसे उत्थित होकर प्रवाहित होती थी । राजाओं के मुकुटमणि स्वरूप उन राजा का यश रूप महासमुद्र विभिन्न राजाओं की यश-रूपी स्रोतस्वनियों को ग्रस लेती थी । (श्लोक १९-२२)

उनकी पत्नी का नाम था रामा । वे दोष रहित, निर्मल गुण सम्पन्न और सुन्दरियों की मुकुटमणि तुल्या थीं । प्रकृतिदत्त सौन्दर्य से विभूषित, नयनों को आह्लादकारी वे आकाश की चन्द्रकला की तरह ही पृथ्वी पर अनन्य थीं । कलकण्ठी श्वेतवस्त्रा (मानो श्वेत पंखयुक्त) वे राजहंसिनी की तरह सर्वदा पति के मानस में निवास करती थीं । उनके अतुलनीय सौन्दर्य से अभिभूत होकर रति भी आनन्द और प्रीतिवान नहीं रहती अर्थात् उनके प्रति ईर्ष्यान्विता थी । राजा सुग्रीव के साथ मानो वे एक दूसरे के लिए ही निर्मित हों इस प्रकार चन्द्र और रोहिणी जैसे क्रीड़ा कर समय व्यतीत करते हैं उसी प्रकार समय व्यतीत करते । (श्लोक २३-२७)

महापद्म के जीव ने वैजयन्त विमान की ३३ सागरोपम की आयु पूर्ण की । फाल्गुन कृष्ण नवमी को चन्द्र जब मूला नक्षत्र में था तब वहाँ से च्युत होकर रानी रामा के गर्भ में प्रवेश किया । तब रानी ने तीर्थङ्कर के जन्म-सूचक हस्ती आदि चौदह महास्वप्न

देखे । हिमाद्रिजाता गंगा जैसे क्रीडारत करि शिशु को धारण करती है उसी प्रकार रानी ने त्रिभुवन के आश्रय उनके भ्रूण को धारण किया । अग्रहण महीने की कृष्ण पंचमी को चन्द्र जब मूला नक्षत्र में था तब उन्होंने श्वेतवर्ण मकर लांछनयुक्त एक पुत्र-रत्न को जन्म दिया । (श्लोक ३८-३९)

भोगंकरा आदि छप्पन दिक्कुमारियों ने भगवान् और उनकी माँ के जन्म कृत्य सम्पन्न किए । तब सौधमेंद्र आभियोगिक देवों की तरह भक्ति सहित प्रभु को मेरु पर्वत पर ले गए और उसके दक्षिण में स्थित अतिपाण्डुकवला शिला पर प्रभु को गोद में लेकर सिंहासन पर बैठ गए । अच्युतादि त्रैसठ इन्द्रों ने तीर्थ से लाए जल से प्रभु का भक्तिपूर्वक स्नान करवाया । प्रहरी जिस प्रकार अपने पहरे के अन्त में रक्षित वस्तु दूसरे प्रहरी को अर्पण करता है उसी प्रकार सौधमेंद्र ने प्रभु को ईशानेन्द्र की गोद में बैठाकर वृषशृङ्गों से निकलती जलधारा से उन्हें स्नान करवाया । प्रभु की देह पर नवीन और दिव्य विलेपनादि कर एवं अलङ्कार पहनाकर उन्होंने प्रभु की निम्न प्रकार की स्तुति की—

‘धर्म के दृढ़ स्तम्भ स्वरूप, सम्यक् दर्शन के अमृत सरोवर तुल्य, विश्व को आनन्द दान करने में मेघरूप हे त्रिलोक नाथ ! आपकी जय हो । जबकि आपके गुणों और महानता के कारण त्रिलोक ने आपका दासत्व स्वीकार किया है तब आपकी अन्य किसी अलौकिक शक्ति के विषय में मैं क्या कहूँ ? आपकी सेवा में मैं जैसा शोभित होता हूँ स्वर्ग में भी वैसा शोभित नहीं होता । नूपुर में जिस प्रकार मणि शोभित होती है उस प्रकार पर्वत में नहीं होती । मोक्षकामी आप उस वैजयन्त से आए हैं जो कि मोक्ष ले जाता है तो निश्चित ही जो संसार में पथभ्रष्ट हो गए हैं उन्हें राह दिखाने आए हो । दीर्घकाल के पश्चात् भरत क्षेत्र रूपी गृह में आप अध्यात्म के आलोक रूप में आए हैं । अब श्रावक की भांति धर्म भी निर्भय व आनन्दित हो जाएगा । हे जगत्पति, आपके दिव्य-दीक्षा महोत्सव में यह देव-समूह भाग ले भाग्योदय से बहुत दिनों पश्चात् चन्द्रालोक-सा आपके दिव्य आलोक में संलीन होकर नेत्रों ने चकोरत्व प्राप्त किया है । मैं स्व-गृह में रहूँ या देव-सभा में सर्वार्थ-सिद्धि दानकारी आपका नाम कभी विस्मृत न होऊँ ।’ (श्लोक ३३-४७)

स्तुति के पश्चात् जिनेश्वर को ग्रहण कर शक्र ने विधि अनुसार उन्हें उनकी माँ के पास सुला दिया । (श्लोक ४८)

जिस कारण उनकी माँ ने गर्भ-धारण के समय धार्मिक क्रियाओं में प्रवीणत्व लाभ किया था, जिस कारण उन्हें पुष्प-दोहद उत्पन्न हुआ था उसी कारण को दृष्टिगत कर भगवान् के माता-पिता ने उनका नाम सुविधि और पुष्पदन्त रखा । जन्म से ही अनन्यधर्मा प्रभु सूर्य जब मेष राशि में प्रवेश करता है तो दिनों-दिन दिन जैसे बढ़ता जाता है उसी प्रकार बढ़ने लगे । स्वभाव से ही पवित्र क्रमशः उन्होंने यौवन को प्राप्त किया । प्रभु की लम्बाई थी एक सौ धनुष और उनकी देह का रंग था क्षीर-समुद्र-सा श्वेत । यद्यपि प्रभु संसार से पूर्ण विरक्त थे फिर भी माता-पिता की इच्छा से श्री से भी अधिक सुन्दर राजकुमारियों से आपने विवाह किया । जन्म से पचास हजार पूर्व व्यतीत हो जाने के बाद पिता के प्रति श्रद्धा सम्पन्न प्रभु ने राज्य-भार ग्रहण किया । पचास हजार पूर्व और अट्ठाईस पूर्वाब्द तक उन्होंने नीतिपूर्वक राज्य-शासन किया ।

(श्लोक ४९-५५)

प्रभु के व्रत ग्रहण करने की इच्छा करने पर चाटुकारों की भाँति लौकान्तिक देवों ने आकर उन्हें व्रत ग्रहण करने को प्रेरित किया । आसक्तिहीन पृथ्वीपति दरिद्र के लिए कल्पवृक्ष सम होकर एक वर्ष तक ईप्सित दान दिया । दान देना समाप्त होने पर जन्म-महोत्सव की भाँति ही देवों ने उनका दीक्षा-महोत्सव सम्पन्न किया । तदुपरान्त प्रभु सुरप्रभा नामक पालकी पर आरोहित होकर देवता, असुर और मनुष्यों से परिवृत्त हुए सहस्राम्रवन उद्यान में आए । अग्रहण कृष्ण अष्टमी को चन्द्र जब मूला नक्षत्र में था तब प्रभु ने दो दिनों के उपवास सह एक सहस्र राजाओं के साथ दीक्षा ग्रहण की ।

(श्लोक ५६-६०)

दूसरे दिन सुबह श्वेतपुर नगरी के राजा पुष्प के गृह में भगवान् ने खीरान्न से पारणा किया । देवों ने रत्नवर्षादि पञ्च दिव्य प्रकट किए । जहाँ वे खड़े थे वहाँ राजा पुष्प ने रत्न-जड़ित वेदी बनवाई । आसक्तिहीन प्रभु ने संसार से विरक्त होकर छद्मस्थ अवस्था में चार मास तक प्रव्रजन किया । (श्लोक ६१-६३)

चार मास के पश्चात् वे सहस्राम्रवन उद्यान में लौट आए व

मूलारु वृक्ष के नीचे प्रतिमा धारण की। कार्तिक शुक्ला तृतीया को चन्द्र जब मूल नक्षत्र में था प्रभु ने अपूर्वकरण द्वारा क्षपक श्रेणी में आरोहण कर केवलज्ञान प्राप्त किया। (श्लोक ६४-६५)

तदुपरान्त देव और असुरों द्वारा निर्मित समवसरण में प्रभु पूर्व द्वार से प्रविष्ट हुए। सर्व अतिशय सम्पन्न प्रभु बारह सौ धनुष दीर्घ चैत्यवृक्ष की प्रदक्षिणा देकर तीर्थ को नमस्कार कर पूर्वाभिमुख होकर रत्न-सिंहासन पर विराज गए। अन्य तीन दिशाओं में देवों ने उनका विम्ब प्रतिष्ठित किया। देव एवं अन्यो के यथास्थान बैठ जाने पर शक्र ने प्रभु की प्रशंसासूचक स्तुति की—

‘यद्यपि आप रागमुक्त हैं फिर भी आपके पद और करतल आरक्त क्यों हैं? यदि आपने वक्रता परित्याग की है तो आपके केश वक्र (घुंघराले) क्यों हैं? यदि आप संघ के संघपति हैं तब आपके हाथ में दण्ड क्यों नहीं हैं? यदि आप वीतराग हैं तो सबके प्रति यह अनुकम्पा क्यों? यदि आपने समस्त अलङ्कारों का परित्याग किया है तो आपका त्रिरत्न के प्रति भुकाव क्यों? यदि आप सबके प्रति समभावी हैं तो मिथ्यात्वियों के शत्रु क्यों हैं? यदि आप स्वभाव से ही सरल हैं तो छद्मस्थ क्यों? यदि आप दयावान हैं तो राग का दमन क्यों? यदि आप निर्भय हैं तो संसार-भीरु क्यों? यदि आप सबके प्रति मध्यस्थ हैं तो सबके मंगलकारी कैसे? यदि आप अदीप्त हैं तो आपके चारों ओर उज्ज्वल विभा क्यों? यदि स्वभाव से ही शान्त हैं तो दीर्घकाल तक तप क्यों किया? यदि आप क्रोध विमुख हैं तो कर्म के प्रति क्रोध क्यों? हे भगवन्, चार अनन्तगुणयुक्त महत्त्व से भी अधिक महीयान आपके स्वभाव को जानना असम्भव है। नमस्कार आपको।’ (श्लोक ६६-७७)

इस प्रकार स्तुति कर इन्द्र के चुप हो जाने पर भगवान् सुविधि स्वामी ने अपना उपदेश दिया—

‘सचमुच ही यह संसार अनन्त दुःखों का भण्डार है। सर्प जिस प्रकार विष की उत्पत्ति का कारण है उसी प्रकार आश्रव अनन्त दुःखों का कारण है। मन वचन और काया द्वारा जीव जो क्रिया करता है जिसे योग कहा जाता है वह आत्मा में शुभाशुभ कर्म आकृष्ट कर लाता है (आश्रवसे) इसीलिए इसे आश्रव कहा गया है। मैत्री आदि शुभ भावना से शुभ कर्म का बन्ध होता है; किन्तु, विषय

कषाय से आक्रान्त होने पर अशुभ कर्म का बन्ध होता है। श्रुतज्ञान के आधार पर कहे गए सत्य वचनों से शुभ कर्म का बन्ध होता है; किन्तु इसके विपरीत वचन से अशुभ कर्म का। सुसंयमित शरीर से कृत काम से शुभ कर्म का बन्ध होता है; किन्तु आरम्भ और हिंसादि सावध्य कर्म में नियोजित शरीर से अशुभ कर्म का बन्ध होता है। विषय, कषाय, योग, प्रमाद, अविरति मिथ्यात्व और आत्त एवं रौद्र ध्यान अशुभ कर्म के बन्ध का कारण है। (श्लोक ७८-८४)

‘जिस भी प्रकार से आश्रयित क्यों न हो आत्मा में प्रवेश-कारी कर्म ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के हैं।’ (श्लोक ८५)

‘ज्ञान और दर्शन का विषय, ज्ञानी और दर्शनकारी के प्रति व ज्ञान और दर्शन उत्पन्न करने के कारणों में विघ्न डालना, निह्वन करना, गर्हा करना, अशातना करना, घात करना, ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म-बन्ध का कारण है।’ (श्लोक ८६)

‘सम्यक् ज्ञान हीन देवों की आराधना, गुरु की सेवा, सुपात्र दान, दया, क्षमा, सराग संयम, देश विरति, अकाम निर्जरा, शीघ्र शाता वेदनीय कर्म-बन्ध का कारण है। स्वयं के लिए दूसरे के लिए या उभय के लिए शोक, वध, ताप और पश्चात्ताप उत्पन्न करना-कराना अशाता वेदनीय कर्म-बन्ध का कारण है।’ (श्लोक ८७-८९)

‘मुनि, शास्त्र, संघ, धर्म और समस्त देवों का अवर्णवाद करना अर्थात् निन्दा करना, मिथ्यात्व का तीव्र परिणाम करना, केवली और सिद्धों का निह्वन करना (उनका देवत्व स्वीकार नहीं करना, विपरीत बोलना और उनके गुणों का अपलाप करना) धार्मिक मनुष्य को दोषी करना, उनकी निन्दा करना, उन्मार्ग का उपदेश देना, अनर्थ का आग्रह करना, असंयमी का आदर, सत्कार और पूजा करना, बिना विचारे काम करना, गुरु आदि की अवज्ञा करना इत्यादि कार्य से दर्शन मोहनीय कर्म का आश्रय होता है।’

‘कषायों के उदय से आत्मा में तीव्र परिणाम होना चारित्र्य मोहनीय कर्मबन्ध का कारण होता है।’ (श्लोक ९०-९३)

‘किसी का मजाक करना, सकाम उपहास, कारण-अकारण हास्य, वाचालता व दीनता व्यक्त करने की प्रवृत्ति हास्य मोहनीय कर्मबन्ध का कारण होता है।’ (श्लोक ९४)

‘देश-विदेश में भ्रमण कर नए-नए दृश्यों को देखने की इच्छा,

विभिन्न प्रकार कीड़ा-कौतुक व दूसरे के मन को अपनी ओर आकृष्ट और वशीभूत करने की इच्छा अरति मोहनीय कर्म बन्ध का कारण है ।' (श्लोक ९५)

‘असूया (गुण को दोष रूप में देखना), पाप करने की प्रवृत्ति, अन्य की मुख-शान्ति को नष्ट होते देख खुश होना अरति मोहनीय कर्म बन्ध का कारण है ।’ (श्लोक ९६)

‘मन में भय को स्थान देना, दूसरों को भयभीत करना, त्रासित करना, निर्दय करना भय मोहनीय कर्म के बन्ध का कारण है ।’ (श्लोक ९७)

‘मन में शोक उत्पन्न करना, अन्य को शोकान्वित करना, रुदन में अति आसक्ति शोक मोहनीय कर्म बन्ध का कारण है ।’ (श्लोक ९८)

‘चतुर्विध संघ की निन्दा करना, तिरस्कार करना और सदाचारी की कुत्सा प्रचार करना, जुगुप्सा मोहनीय कर्म बन्ध का कारण है ।’ (श्लोक ९९)

‘ईर्ष्या, विषय-लोलुपता, मृषावाद, अतिवक्रता और पर-स्त्री गमन में आसक्ति स्त्रीवेद कर्म बन्ध का कारण है ।’ (श्लोक १००)

‘स्व-स्त्री में सन्तोष, ईर्ष्याहीनता, मृदु स्वभाव, कषायों की मन्दता, प्रकृति की सरलता और सदाचार पालन पुरुष-वेद कर्म बन्ध का कारण है ।’ (श्लोक १०१)

‘स्त्री और पुरुष दोनों के चुम्बनादि अनंग सेवन, उग्र कषाय, तीव्र कामेच्छा, भण्डामि और स्त्रीव्रत को भंग करना नपुंसक वेद कर्म बन्ध का कारण है ।’ (श्लोक १०२)

‘साधुओं की निन्दा करना, धर्म-कार्य में बाधा देना, मद्य-मांस भक्षणकारियों के सम्मुख मद्य-मांस भक्षण की प्रशंसा करना, देश-विरत श्रावकों के लिए बार-बार अन्तराय उत्पन्न करना, अविरति के गुणों का व्याख्यान करना एवं विरति के दोषों का, अन्यो का कषाय और लोकक्षय की उदीरणा करना चारित्र्य मोहनीय कर्म बन्ध का कारण है ।’ (श्लोक १०३-१०५)

‘पंचेन्द्रिय जीवों का वध समारम्भ और महापरिग्रह, अनुकम्पाहीनता, मांस-भक्षण, स्थायी वैरभाव, रौद्र ध्यान, मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी कषाय, कृष्णनील और कापोत लेश्या, असत्य भाषण,

पर द्रव्य हरण, बार-बार मैथुन सेवन एवं इन्द्रियो के वशीभूत होना नरकगति के आयुष्य कर्म बन्ध का कारण बनता है ।'

(श्लोक १०६-१०८)

‘उन्मार्ग उपदेश, सन्मार्ग नाश, गुप्त भाव से धन का संरक्षण, आर्त्त ध्यान, शल्ययुक्त हृदय, माया, आरम्भ परिग्रह, नील और कपोत लेश्या, शील एवं व्रत को दूषित करना, अप्रत्याख्यान, कषाय, तीर्यं च गति के आयुष्य कर्म बन्ध का कारण बनता है ।’

(श्लोक १०९-११०)

‘अल्प परिग्रह और अल्प आरम्भ, स्वाभाविक कोमलता और सरलता, कापोत और पीत लेश्या, धर्म ध्यान में अनुराग, प्रत्याख्यानी कषाय, मध्यम परिणाम, दान देने में रुचि, देव और गुरु की सेवा, पूर्वालाप (स्वागत संभाषण), प्रियालाप (प्रेम पूर्वक समझाना), सांसारिक कार्य में मध्यस्थता मनुष्यगति के आयुष्य कर्म बन्ध का कारण है ।’

(श्लोक १११-११३)

‘सराग संयम, देश संयम, अकाम निर्जरा, सुगुरु से सम्बन्ध, धर्म श्रवण में रुचि, सुपात्रदान, तप, श्रद्धा, ज्ञान दर्शन व चारित्र रूप त्रिरत्न की आराधना, मृत्यु के समय तेज एवं पद्म लेश्या के परिणाम, बाल तप, अग्नि जलादि साधन से मृत्यु और अव्यक्त समभाव देवगति के आयुष्य कर्म बन्ध का कारण है ।’

(श्लोक ११४-११६)

‘मन वचन काया की वक्रता, दूसरों को ठगना, कपट करना, मिथ्यात्व, पैशुन्य, मानसिक चंचलता, नकल, चांदी-सोना आदि से प्रवंचित करना, मिथ्या साक्षी देना, वस्तु का वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श बदलकर छल करना, किसी जीव के अंग-उपांगों को काटना-कटवाना, यन्त्रादि या पींजरा बनाना, वजन कम करना, आत्म प्रशंसा, पर निन्दा करना, हिंसा, असत्य, अनृत, अब्रह्मचर्य, महारम्भ, महापरिग्रह सेवन, कठोर और तुच्छ भाषण करना, उज्ज्वल वस्त्रादि का अभिमान करना, वाचालता, आक्रोश करना, किसी का सुख-सौभाग्य नष्ट करना, किसी का अनिष्ट करने के लिए मन्त्र-तन्त्रादि का प्रयोग करना, त्यागी होने का दम्भ कर उन्मार्ग में गमन करना, साधु बनकर दूसरों के मन में कौतुक उत्पन्न करना, वैश्यादि को अलंकार देना, वन में आग लगाना, चोरी करना, तीव्र कषाय,

अंगारादि १५ कर्मादान का कार्य करना, अशुभ नाम कर्म बन्ध का कारण है। इसके विपरीत संसार भय, प्रमाद त्याग, चारित्र्य धारण, क्षान्ति आदि गुण धार्मिक व्यक्ति का दर्शन और उनका सेवा-सत्कार शुभनाम कर्म यहाँ तक कि तीर्थकर नाम कर्म बन्ध का कारण है।'

मार्गदर्शक : आचार्य श्री तुमिकिसागर जी महाराज

(श्लोक ११७-१२५)

‘अर्हत्, सिद्ध, गुरु, स्थविर, बहुश्रुत, संघ, श्रुतज्ञान, साधु भक्ति, आवश्यकदि क्रिया, चारित्र्य, ब्रह्मचर्य पालन में अप्रमाद, विनय, ज्ञानाभ्यास, तप, त्याग (दान), शुभ ध्यान, प्रवचन प्रभावना, चतुर्विध संघ में शान्ति रखना, साधु सेवा, अपूर्वज्ञान ग्रहण और सम्यक् दर्शन में शुद्धता इन बीस स्थानकों को प्रथम और अन्तिम तीर्थकर स्पर्श करते हैं। अन्य तीर्थकर एक दो या तीन स्थानकों का स्पर्श करते हैं।

(श्लोक १२६-१२९)

‘परनिन्दा, अवज्ञा, उपवास, सद्गुणों का लोप अथवा असद् दोषों की प्रतिष्ठा, आरोहण, आत्म-प्रशंसा, जो गुण स्वयं में है या नहीं उसका प्रचार, स्वयं के दोषों का वर्णन और जाति मद (अभिमान) नीच गोत्र कर्म-बन्ध का कारण है। इसके विपरीत अ-मान, मन, वचन और काया द्वारा विनय उच्च गोत्र कर्म-बन्ध का कारण है।

(श्लोक १३०-१३१)

‘दान, लाभ, वीर्य भोग और उपभोग में सकारण या अकारण विघ्न डालना, बाधक बनना अन्तराय कर्म बन्ध का कारण है।’

(श्लोक १३२)

‘इस भांति आश्रय से उत्पन्न इस अपार संसार रूपी समुद्र को बुद्धिमान व्यक्तियों को दीक्षा रूपी जहाज के द्वारा अतिक्रम करना उचित है।’

(श्लोक १३३)

‘चन्द्र किरणों से जिस प्रकार रात में विकसित होने वाली वाली कुमुदिनी विकसित होती है उसी प्रकार प्रभु की देशना से अनेक प्रबुद्ध हुए और हजारों लोग दीक्षित हो गए। भगवान् के वराहादि ८८ गणधर हुए। भगवान् की देशना के पश्चात् प्रथम गणधर ने अपनी देशना दी। गणधर की देशना के पश्चात् देव और असुर नन्दीश्वर द्वीप में अट्टाईस महोत्सव मनाकर स्व-स्व निवास को लौट गए।

(श्लोक १३४-१३७)

भगवान् के तीर्थ में कूर्मवाहन, श्वेतवर्ण, अजित नामक यक्ष

उत्पन्न हुए। उनके दाहिनी ओर के दोनों हाथों में विजोरा और अक्षमाला थी। बाईं ओर के दोनों हाथों में नकुल और वल्ली थी। वे शासन देव बनकर भगवान् के निकट अवस्थित हुए। इसी प्रकार वृषभवाहना, श्वेतवर्णा सुतारा यक्षिणी उत्पन्न हुई। उनके दाहिने दोनों हाथों में क्रमशः एक में अक्षमाला थी, दूसरा वरयमुद्रा में था। बायीं ओर के दोनों हाथों में क्रमशः कुम्भ और अंकुश था। वे भगवान् की सेवा में सर्वदा निरत रहकर उनको शासन देवी बनीं। वे सर्वदा उनके पास रहतीं। अनुकम्पा के सागर प्रभु पृथ्वी पर मनुष्यों को प्रतिबोध देते हुए भ्रमण करते रहे।

(श्लोक १३८-१४२)

भगवान् के तीर्थ में वराहादि ८८ गणधर थे, २,००,००० साधु एवं १,२०,००० साध्वियां थीं, ८,४०० अवधिज्ञानी, १,५०० चौदह पूर्वधर, ७,५०० मनःपर्यव ज्ञानी, ७,५०० केवली, १३,३०० वैक्रिय लब्धि सम्पन्न, ६,००० वादी, २,२९,००० श्रावक और ४,७२,००० श्रविकाएँ थीं। २८ पूर्वाङ्ग और चार मास कम अर्द्धलक्ष पूर्व प्रभु केवली अवस्था में प्रव्रजन करते रहे।

(श्लोक १४३-१४७)

आयुष्य पूर्ण होने का समय जानकर प्रभु एक हजार मुनियों सहित सम्मेत-शिखर पर गए। वहां अनशन में एक मास व्यतीत किया। कार्तिक कृष्ण नवमी को चन्द्र जब मूल नक्षत्र में था प्रभु ने शैलेशीकरण ध्यान में एक हजार मुनियों सहित अक्षय सिद्धलोक में गमन किया। प्रभु अर्द्धलक्ष पूर्व युवराज रूप में रहे। अर्द्धलक्ष पूर्व और २८ पूर्वाङ्ग राजा रूप में रहे। अर्द्धलक्ष पूर्व कम २८ पूर्वाङ्ग व्रती रूप में रहे। भगवान् की सर्वायु २ लाख पूर्व की थी। श्री चन्द्रप्रभ स्वामी के निर्वाण के नौ करोड़ सागरोपम के पश्चात् सुविधिनाथ स्वामी निर्वाण को प्राप्त हुए।

(श्लोक १४८-१५२)

सुविधिनाथ स्वामी के निर्वाण के कुछ काल पश्चात् हुण्डा अवसर्पिणी काल के दोष से श्रमण धर्म का विच्छेद हो गया अर्थात् एक भी साधु नहीं रहा। धर्म क्या है जो नहीं जानते थे वे पथ-भ्रान्त पथिक जैसे अन्य पथिक को पथ पूछता है उसी प्रकार बृद्ध श्रावकों को धर्मकथा जिज्ञासा करने लगे। बृद्ध श्रावक अपने-अपने मत से उन्हें धर्म बताने लगे व लोग उनको अर्थादि देकर पूजने

लगे । ये बृद्ध श्रावक अर्थ पूजा के लोभी बनकर नए-नए शास्त्रों की रचना करने लगे और दान का महत्त्व बढ़ा-चढ़ाकर कहने लगे । तदुपरान्त वे आचार्य होकर कन्यादान, भूमिदान, लौहदान, वस्त्र-दान, गोदान, स्वर्ण-रौप्यदान, आसन, शय्या, अश्व, हस्ती एवं अन्य नानाविध दानों की व्याख्या की और प्रत्येक दान इहलोक और परलोक में महाफलदायी होगा, कहने लगे । मन्द बुद्धि और महा-लोभी बनकर वे बोले कि दान ग्रहण के केवल वे ही अधिकारी हैं अन्य कोई नहीं है । मायावादी वे लोगों के गुरु बन गए । जहां वृक्ष नहीं वहां लोग तिल के पौधे के ही चारों ओर वेदी निर्मित करते हैं ।

(श्लोक १५३-१६२)

इस प्रकार भरत क्षेत्र में शीतलनाथ स्वामी के संघ स्थापन के पूर्व संघ विच्छेद हो गया । रात्रि में उल्लू के राजत्व की तरह उस समय ब्राह्मणों का एकच्छत्र राज्य स्थापित हो गया । इस प्रकार शान्तिनाथ भगवान् के पूर्व अन्य छह बार श्रमण धर्म का विच्छेद हुआ । इससे असंयत अविरतों की पूजा होने लगी ।

(श्लोक १६३-१६४)

सप्तम सर्ग समाप्त

अष्टम सर्ग

चन्द्र किरण जिस प्रकार कुमुदिनी को विकसित करती है उसी प्रकार जिन भगवान् शीतलनाथ के चरणयुग्म तुम्हें मोक्षमार्ग के लिए उद्बोधित करें । त्रिलोक के कषाय को शीतल करने वाले भगवान् शीतलनाथ स्वामी का जीवन मैं विवृत करूँगा ।

(श्लोक १-२)

पुष्करवर द्वीपार्द्ध के पूर्व विदेह में वत्स नामक देश की अलंकार तुल्या सुसीमा नामक एक नगरी थी । राजा का नाम था पद्मोत्तर । अनुत्तर विमान के देवों की तरह वे नृपोत्तम थे । उनका आदेश कभी अमान्य नहीं होता था । वे समस्त जीवों के प्रति करुणा-सम्पन्न थे । उनमें दो भाव विराजते थे—वीरत्व और शान्त रस । राजा जिस प्रकार क्रोध के प्रति जागरूक रहता है और नाना प्रकार से उसे वर्द्धित करता रहता है उसी भांति वे धर्म के प्रति

सदैव जागरूक रहते थे । आज नहीं तो कल इस राज्य का परित्याग करूँगा ऐसा चिन्तन करते हुए वे मानो विदेश में रह रहे हों इस प्रकार संसार में अनासक्त होकर रहने लगे । (श्लोक ३-७)

एक दिन तृणवत् उन्होंने उस राज्य का परित्याग कर त्रिस्ताव नामक आचार्य से दीक्षा ग्रहण कर ली और अतिचारहीन चारित्र्य पालन और शास्त्रोक्त बीस स्थानकों में कई की आराधना कर उन्होंने तीर्थंकर गोत्र कर्म उपार्जन किया । आयुष्य पूर्ण होने पर विशेष व्रत पालन और कठोर तपश्चर्या के कारण वे प्राणत नामक दसवें देवलोक में उत्पन्न हुए । (श्लोक ८-१०)

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में भद्रिलपुर नामक सुन्दर और वैभवशाली नगर था । परिखा से परिवृत और स्वर्ण प्राचीरों से वेष्टित इस नगरी की लवण समुद्र परिवृत और जगती वेष्टित जम्बूद्वीप की तुलना की जाती है । सान्ध्य वला में इसका विपणियों में प्रज्वलित आलोकमाला नगरश्री के कण्ठ में रत्नमाला-सी सुशोभित होती थी । भोगवती और अमरावती के समस्त वैभव का सार यहीं रहने से यह नगरी देव और नागदेवों की क्रीड़ा-भूमि में परिवर्तित हो गई थी । (श्लोक ११-१४)

उत्सव में जिस प्रकार आत्मीय परिजनों को खिलाया जाता है उसी प्रकार यहां विभिन्न प्रकार के आहार प्रार्थियों को दानशाला में खिलाया जाता था । (श्लोक १५)

इस नगरी के राजा का नाम था दृढरथ । शत्रु मेखला को नष्ट करने में वे समुद्र की तरह पृथ्वी की मेखला रूप थे । किन्तु उनके गुणों की जो प्रशंसा करते उस विषय में वे इतने विनयी थे कि उन्हें वे अगुण ही लगते । वे शत्रुओं से बरबस जो धन ग्रहण करते उसे दरिद्रों में वितरण कर देते मानो अपहरण रूप पाप का प्रायश्चित्त कर रहे हों । राजन्य वर्ग भूलुण्ठित होकर उन्हें प्रणाम कर राज्य प्राप्त करते । एक बिन्दु तेल जैसे जल में फैल जाता है उसी प्रकार गुरु प्रदत्त एक पंक्ति उपदेश भी उनमें व्याप्त हो जाता । (श्लोक १६-२०)

चित्त को आनन्ददायिनी नदियों में जैसे मन्दाकिनी है वैसे ही साध्वियों में अग्रगण्या उनकी रानी का नाम नन्दा था । वे मंथर गति से चलतीं जिसे देखकर लगता मानो राजहंसनियों ने मंथर

गति से चलने की शिक्षा उन्हीं से ली थी। जब वे बोलतीं तब उनके मुख सौरभ से आकृष्ट होकर भ्रमर आने लगते। विस्तार में जिस प्रकार आकाश अनन्य है एक शब्द में वे भी वंसी ही अनन्य थीं। अपने गुणों के कारण राजा दृढरत्न के हृदय में वे इस प्रकार बस गई थीं—मानो वहां उत्कीर्णित हो गई हों। (श्लोक २१-२५)

उधर प्राणत नामक स्वर्ग में पद्मोत्तर के जीव ने बीस सागरोपम की आयुष्य पूर्ण की। वैशाख कृष्ण छठ को चन्द्र जब पूर्वाषाढा नक्षत्र में था तब पद्मोत्तर का जीव वहां से च्युत होकर नन्दा देवी के गर्भ में उत्पन्न हुआ। सुख-शय्या पर सोई रानी नन्दा देवी ने तीर्थकर जन्मसूचक चौदह महास्वप्न देखे। माघ कृष्ण द्वादशी को चन्द्र जल पूर्वाषाढा नक्षत्र में था तब नन्दादेवी ने एक पुत्र को जन्म दिया। जातक की देह का रंग था तप्त सुवर्ण सा और वह स्वस्तिक लांछनयुक्त था। (श्लोक २६-२९)

तब छप्पन दिक्कुमारियों से आठ अधोलोक से, आठ उर्ध्वलोक से, आठ-आठ रुचक पर्वत की चारों दिशाओं से, चार मध्यवर्ती स्थान से, चार रुचक द्वीप के केन्द्र से सिंहासन कम्पित होने पर वहां आई और जन्म-कल्याणक उत्सव सम्पादित किया। शक्र भी तीव्र गति से वहां पहुंचे और प्रभु को गोद में लेकर देवों से परिवृत हुए सुमेरु पर्वत पर गए। प्रभु को गोद में लेकर शक्र अति पाण्डुकवला पर रखे सिंहासन पर बैठ गए। तब अच्युतादि इन्द्रों ने समुद्र, नदी व सरोवर से लाए जल से प्रभु को स्नान करवाया। तदुपरान्त सौधर्मेन्द्र ने प्रभु को ईशानेन्द्र की गोद में देकर स्फटिक वृष के शृङ्ग से निकलते जल से प्रभु का अभिषेक किया। तदुपरान्त त्रिलोकेश्वर की देह में अङ्गरागादि लेपन व अलंकारादि से पूजन कर निम्नलिखित स्तव पाठ किया—

‘हे इक्ष्वाकु वंश रूप क्षीर समुद्र के लिए चन्द्र तुल्य, आपकी जय हो ! पृथ्वी की अज्ञानान्धकार रूपी निद्रा को दूर करने में सूर्य रूप, आपकी जय हो ! आपको देखने के लिए, आपका गुणगान करने के लिए, आपकी पूजा करने के लिए मेरे नेत्र, मेरी जिह्वा और हस्त को अनन्तता प्राप्त हो। हे भगवान्, हे दशम तीर्थाधिपति, यह श्रद्धा-सुमन आपके चरण-प्रान्तों पर रखता हूं ताकि उसका फल प्राप्त होगा। दुःख-ताप-तप्त जीवन को आनन्द देने के लिए आप

नवमेघ रूप में उदित हुए हैं। वसन्त के आविर्भाव से वृक्ष जैसे समृद्ध हो उठता है वैसे ही आपके दर्शन से जीव नवीन समृद्धि प्राप्त करे। आपके दर्शनों से धन्य बना दिन ही मेरे निकट दिन है, अन्य दिन तो कृष्ण पक्ष की रात्रि की तरह है। मनुष्यों का मन्द कर्म सतत जीव द्वारा गुम्फित होता रहता है। अयस्कान्त मणि के स्पर्श से जंस लौहत्व विदूरित होता है वैसे ही वह कर्म आपके दर्शन से विदूरित हो। मैं यहाँ, स्वर्ग में या अन्य किसी भी स्थान में रहूँ, हृदय में अनन्य आपको धारण कर मानो आपका वाहन बन जाऊँ।'

(श्लोक ३०-४४)

इस प्रकार दशम तीर्थंकर की स्तुति कर सौधर्मेन्द्र ने यथारीति जातक को ग्रहण और वहन कर ले जाकर देवी नन्दा के पास सुला दिया।

(श्लोक ४५)

पृथ्वी को मुक्त करने के लिए जिनका जन्म हुआ है ऐसे तीर्थंकर के जन्म को पवित्र करने के लिए राजा दृढरथ ने बन्दी आदि को मुक्त कर पुत्र जन्मोत्सव किया। जब जातक गर्भ में था तो उसके शीतल स्पर्श से नन्दा की तप्त देह शीतल हो गई थी अतः जातक का नाम रखा गया शीतल।

(श्लोक ४६-५७)

बालक वेशी देवों द्वारा सेवित होकर त्रिलोकपति बेलाधारी इन्द्र द्वारा सेवित समुद्र की तरह दिन प्रतिदिन वद्धित होने लगे। पथिक जैसे गाँव से होता हुआ शहर पहुँचता है वैसे ही प्रभु बाल्यकाल अतिक्रम कर यौवन को प्राप्त हुए।

(श्लोक ४८-४९)

नब्बे धनुष दीर्घ प्रभु जानु पर्यन्त लम्बे हस्तों के कारण लता-वेष्टित महीरूह से लगते थे। यद्यपि वे इन्द्रियों के विषय में अनासक्त थे तब भी—हस्ती जैसे खाद्यपिण्ड को ग्रहण करता है वैसे ही प्रभु ने पिता-माता द्वारा अनुबन्धित होकर पत्नी को ग्रहण किया। पच्चीस हजार पूर्व व्यतीत होने पर शीतलनाथ स्वामी ने पिता द्वारा आदिष्ट होकर राज्यभार ग्रहण किया। अमित बाहुबल से उन्होंने पैतृक राज्य पर पचास हजार पूर्व तक शासन किया।

(श्लोक ५०-५३)

जब प्रभु के मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ तो लोकान्तिक देवों का सिंहासन कम्पित हुआ। अवधिज्ञान से वे जान गए कि जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के दक्षिणाङ्ग में दशम तीर्थंकर दीक्षा ग्रहण के अभि-

लापी हुए हैं। हम अपने कर्तव्य के रूप में उन्हें दीक्षा ग्रहण को प्रेरित करें, ऐसा सोचकर सारस्वत आदि देव ब्रह्मलोक से वहाँ आकर प्रभु को प्रणाम कर बोले—‘हे भगवन्, घाट को छोड़कर जिस प्रकार पार्वत्य नदी को पार नहीं किया जा सकता उसी प्रकार दुस्तर संसार-समुद्र को पार करने वालों के प्रति कृपा कर धर्म तीर्थ की प्रतिष्ठा करें।’ (श्लोक ५४-५८)

ऐसा कहकर लोकान्तिक देव ब्रह्मलोक को चले गए और शीतलनाथ स्वामी ने एक वर्ष तक वर्षादान दिया। (श्लोक ५९)

वर्षादान समाप्त होने पर सिंहासन कम्पित होने से इन्द्रगण वहाँ आए और शीतलनाथ स्वामी का स्नानाभिवेक किया। तदुपरांत त्रिलोक के अलंकार स्वरूप भगवान् वस्त्र और अलंकार धारण कर सौधमेन्द्र के हाथ पर हाथ रखकर अन्य इन्द्रों द्वारा चंवर छत्र पकड़ने पर चन्द्रप्रभा नामक श्रेष्ठ शिविका में आरोहित हुए, हजारों देव, असुर और राजान्यों से परिवृत होकर वे अपनी राजधानी के निकटस्थ सहस्राम्रवन नामक उद्यान में गए। संसार-सागर को अतिक्रम कर मोक्ष लाभ के इच्छुक भगवान् ने वहाँ पहुँचते ही मानो बोझ हो इस प्रकार अलंकार को उतार दिया। शक्र द्वारा प्रदत्त देवदूष्य वस्त्र स्कन्ध पर रख कर उन्होंने पंच मुष्टिक लोच किया। उन केशों को इन्द्र ने क्षीर-समुद्र में फेंक दिया। फिर कोलाहल शान्तकर द्वारपाल की तरह खड़े हो गए। दो दिनों के उपवासी प्रभु ने एक हजार राजाओं सहित देव, असुर और मनुष्यों के सम्मुख सब प्रकार के आरम्भ-समारम्भ का परित्याग किया। उस दिन माघ कृष्ण द्वादशी थी। चन्द्र पूर्वाषाढा नक्षत्र में था। प्रभु को अतिदिव्य मनःपर्याय ज्ञान उत्पन्न हुआ। देवादि सभी उन्हें प्रणाम कर, स्व-स्व स्थान को लौट गए। (श्लोक ६०-६९)

रिष्टपुर नगर के राजा पुनर्वसु के आवास पर खीरान्न ग्रहण कर भगवान् ने पारणा किया। देवों ने रत्न वर्षादि पंच दिव्य प्रकट किए। जहाँ खड़े होकर भगवान् ने पारणा किया था वहाँ राजा पुनर्वसु ने रत्न-जड़ित पाद-पीठ का निर्माण करवाया। विभिन्न व्रतों का पालन करते हुए परिषद् सहते हुए भगवान् शीतलनाथ ने तीन मास तक छद्मस्थ अवस्था में विचरण किया। (श्लोक ७०-७२)

तीन महीने के पश्चात् त्रिलोकनाथ पुनः सहस्राम्रवन में लौट

आए एवं वहाँ सप्तपर्ण वृक्ष के नीचे प्रतिमा धारण कर ली । योद्धा जिस प्रकार प्राकार पर चढ़ते हैं वैसे शुक्ल ध्यान के द्वितीय पाद पर आरोहण कर शत्रु-से चार घाती कर्मों को विनष्ट कर दिया । पौष कृष्णा चतुर्दशी को चन्द्र जब पूर्वाषाढा नक्षत्र में था भगवान् शीतल-नाथ स्वामी को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया । (श्लोक ७३-७४)

तब देव और असुरेन्द्रों ने चार द्वार विशिष्ट रत्न, स्वर्ण और रौप्य का चार प्राकारयुक्त समवसरण की रचना की । भगवान् ने पूर्व द्वार से प्रविष्ट होकर एक हजार अस्सी धनुष ऊँचे चैत्य वृक्ष की प्रदक्षिणा देकर 'नमो तित्थाय' कहकर तीर्थ को नमस्कार किया । तत्पश्चात् पूर्वाभिमुख होकर सिंहासन पर बैठ गए । देवों ने अन्य तीन ओर उनकी प्रतिकृति रखी । मेघ के शब्द सुनने के लिए मयूर जिस प्रकार उद्ग्रीव होता है उसी प्रकार देव और अन्य स्व-स्व स्थान पर खड़े होकर प्रभु की वाणी सुनने के लिए उद्ग्रीव हो गए । शक्र ने प्रभु को नमस्कार कर करबद्ध हो निम्नलिखित स्तुति की—

हे त्रिलोकनाथ आपके चरण-कमलों के नखों से निकलते आलोक रूप प्रवाह में बारम्बार मज्जन कर जो स्वयं को पवित्र करते हैं वे धन्य हैं । आकाश जैसे सूर्य द्वारा, सरोवर हंस द्वारा, नगरी राजा द्वारा अलंकृत होती है उसी प्रकार आपके द्वारा भारत-वर्ष अलंकृत हुआ है । सूर्यास्त और चन्द्रोदय के मध्यवर्ती समय का आलोक जिस प्रकार अन्धकार द्वारा आवृत होता है । उसी प्रकार दो तीर्थंकरों के मध्यवर्ती समय का धर्म मिथ्यात्व द्वारा आवृत होता है । यह पृथ्वी विवेक रूप नेत्रहीन होकर अन्धे की तरह दिशा-निर्णय न कर सकने के कारण इधर-उधर भटक कर विपथगामी हो गई है । ऐसे दिग्भ्रान्त मनुष्यों ने कुधर्म को धर्म, कुदेव को देव और कुगुरु को गुरु रूप में ग्रहण कर लिया है । संचित गुण रूप रत्न के कारण स्वभाव से ही हे करुणा के सागर, जो पृथ्वी नरक के गह्वर में पतित होने को उन्मुख है उसकी रक्षा के लिए आप अवतरित हुए हैं । मिथ्यात्व रूप सर्प पृथ्वी पर तब तक ही प्रबल है जब तक आपका वाणी रूपी अमृत प्रवाहित नहीं होता है । हे भगवन् ! आपने जिस प्रकार घाती कर्म को विनष्ट कर केवलज्ञान प्राप्त किया है उसी प्रकार यह पृथ्वी मिथ्यात्व को नष्ट कर सम्यक्त्व को प्राप्त करे । (श्लोक ७५-८८)

शक्र के स्तुति कर चुकने के पश्चात् भगवान् शतलताथ स्वामी ते अमृतं तुल्य वाणी में देशना दी—

‘इस संसार में सब कुछ क्षणिक और नानाविध दुःखों का कारण है। अतः मोक्ष के लिए प्रयत्न करना चाहिए। मोक्ष संवर द्वारा प्राप्त होता है। समस्त प्रकार के आश्रव का निरोध ही संवर है। संवर दो प्रकार के हैं : द्रव्य संवर और भाव संवर। कर्म पुद्गलों के आगमन निरोध द्रव्य संवर है। जिससे संसार का हेतु रूप परिणति और क्रिया का त्याग होता है वह भाव संवर है। जिस-जिस उपाय से जो-जो आश्रव का निरोध होता है उसी आश्रव को रोकने के लिए विज्ञों को वही वही उपाय ग्रहण करना उचित है। क्षमा से क्रोध, नम्रता से मान, सरलता से माया और निःस्पृहता से लोभ रूप आश्रव को रोको। बुद्धिमान मनुष्यों का यह कर्तव्य है कि वे अखण्ड संयम द्वारा इन्द्रियों के विषय को नष्ट करें जो कि विष के समान मनुष्य को असंयत और उन्मादी कर देता है। मन, वचन और काय योग के लिए आश्रव को तीन गुप्तियों रूपी अंकुश से वश में करें और प्रमाद को अप्रमत्त भाव से संवरण कर समस्त प्रकार के सावद्य योगों के त्याग द्वारा पूर्ण विरति रूप संवर की आराधना करें।

(श्लोक ८९-९६)

‘संवर की आराधना करने वाले को सर्वप्रथम सम्यग दर्शन द्वारा मिथ्यात्व और मन की पवित्रता एवं शुभ्र ध्यान द्वारा आर्त और रोद्र ध्यान पर विजय प्राप्त करना उचित है।

(श्लोक ९७)

‘अनेक द्वार विशिष्ट घर के लमस्त दरवाजे यदि खुले रहे और वह राह के किनारे अवस्थित हो तो राह की धूल उसमें अवश्य ही प्रविष्ट होगी एवं वह धूल तैलादि स्नेह पदार्थों के संयोग से उसमें संलग्न होकर उसे धूमिल कर देगी; किन्तु घर के समस्त दरवाजे यदि बन्द रहें तो धूल प्रवेश का और संलग्न होने का अवसर ही नहीं मिलेगा। अथवा सरोवर में जल प्रवेश की समस्त प्रणाली यदि खुली रहे तब उसमें सभी ओर से जल आकर प्रविष्ट होगा, यदि खुली नहीं रहेगी तो जल प्रविष्ट नहीं होगा। अथवा जहाज में यदि छिद्र रहेगा तो उस छिद्र से जल अवश्य ही प्रवेश करेगा, यदि इस छिद्र को बन्द कर दिया जाए तो प्रवेश नहीं करेगा। इसी प्रकार यदि आत्मा में कर्म पुद्गल प्रवेश के समस्त

दरवाजे, प्रणाली व छिद्रों को बन्द कर दिया जाए तो संवर द्वारा अलंकृत आत्मा में कर्म द्रव्य प्रविष्ट नहीं होंगे । (श्लोक ९८-१०२)

‘आश्रव निरोध का उपाय ही संवर है । संवर के आदि क्षमा अनेक भेद हैं । गुणस्थानों पर चढ़ते हुए—जो-जो आश्रव द्वार निरुद्ध होते हैं उसी-उसी नाम के संवर प्राप्त होते हैं । अविरत सम्यग् दृष्टि में मिथ्यात्व-निरोध से सम्यक्त्व रूप संवर और देश विरति आदि गुणस्थान में अविरति रूप संवर प्राप्त होता है । अप्रमत्तादि गुणस्थान में प्रमाद का संवरण होता है । उपशान्त मोह और क्षीण मोह गुणस्थान में कषायों का निवारण होता है और अयोगी केवली नामक चतुर्दश गुणस्थान में पूर्ण रूप से योग संवर होता है । जिस प्रकार समुद्रगामी वणिक छिद्र रहित जहाज से समुद्र अतिक्रम करता है उसी प्रकार बुद्धिमान व्यक्ति पूर्ण संवरवान होकर संसार-समुद्र को अतिक्रम कर सुखी होता है ।’ (श्लोक १०३-१०७)

भगवान् की उपरोक्त देशना सुनकर बहुत से व्यक्तियों ने सर्व विरति रूप श्रवण धर्म और अनेकों ने देश विरति रूप श्रावक धर्म ग्रहण कर लिया । प्रभु के आनन्द आदि ८१ गणधर हुए । भगवान् की देशना के पश्चात् आनन्द गणधर ने देशना दी । आनन्द स्वामी के प्रवचन के पश्चात् देवेन्द्र, असुरेन्द्र व नरेन्द्र त्रिलोकपति को नमस्कार कर स्व-स्व निवास स्थान को चले गए ।’

(श्लोक १०८-११०)

भगवान् के तीर्थ में त्रिनेत्र चतुर्मुख कमलासन श्वेतवर्ण ब्रह्म नामक यक्ष उत्पन्न हुए । उनके आठ हाथ थे । दाहिनी ओर के तीन हाथों में क्रमशः विजोरा, हथौड़ी, अंकुश था और चौथा अभयमुद्रा में था । बायीं ओर के चार हाथों में क्रमशः नकुल, गदा, अंकुश और अक्षमाला थी । इसी प्रकार श्यामवर्णा मेघवाहना अशोका नामक यक्षिणी उत्पन्न हुई । उनके दाहिनी ओर के एक हाथ में पाश और अन्य हाथ वरद्-मुद्रा में था । बायीं ओर के एक हाथ में फल और दूसरे में अंकुश था । ये दशम तीर्थंकर के शासन देव व देवी बने । इनके द्वारा सेवित प्रभु शीतलनाथ ने तीन मास कम पच्चीस हजार पूर्व तक प्रव्रजन किया । (श्लोक १११-११५)

भगवान् के तीर्थ में १००००० साधु, १००००६ साध्वियाँ, १४०० पूर्वधारी, ३२०० अवधिज्ञानी, ३५०० मनःपर्यवज्ञानी, ३०००

केवलज्ञानी, १२००० वैक्रियलब्धिधारी, ५८०० वादी, १८९००० श्रावक और ४५८००० श्राविकाएँ हूयीं । (श्लोक ११६-१२०)

मोक्ष समय निकट आने पर प्रभु सम्मेद शिखर गए और १००० मुनियों सहित अनशन ग्रहण कर लिया । एक मास पश्चात् वैशाख कृष्ण द्वितीय को चन्द्र जब पूर्वाषाढा नक्षत्र में था प्रभु १००० मुनियों सहित मोक्ष को प्राप्त हुए । पच्चीस हजार पूर्व युवराज रूप में पचास हजार पूर्व राजा रूप में पच्चीस हजार पूर्व व्रती रूप में प्रभु रहे । आपकी सम्भूण आयु एक लाख पूर्व की थी । सुविधि स्वामी के निर्वाण से शीतलनाथ स्वामी के निर्वाण पर्यन्त नौ करोड़ सागरोत्तम काल व्यतीत हुआ । प्रभु का मोक्ष गमन उत्सव यथारीति सम्पन्न कर शक्रादि देव स्व-स्व आवास को लौट गए ।

(श्लोक १२१-१२६)

अष्टदल कमल के अष्टदल पत्रों की तरह ध्यान योग्य तृतीय पर्व के आठ सर्गों में सम्भव स्वामी से आरम्भ कर आठ तीर्थंकरों का जीवन-चरित्र वर्णित हुआ है । इनका ध्यान करने पर मनुष्य निश्चित ही मोक्ष को प्राप्त करेगा । (श्लोक १२७)

अष्टम् सर्ग समाप्त

तृतीय पर्व समाप्त

चतुर्थ पर्व

प्रथम सर्ग

भगवान् श्रेयांसनाथ के चरण-नखों की दीप्ति मुक्ति-मार्ग को प्रकाशित करने वाले दीप की तरह है । वह दीप्ति तुम लोगों के लिए कल्याणकारी हो । त्रिलोक को पवित्र करने वाली और कर्म रूपी लता को उच्छेद करने वाले हँसिए की तरह भगवान् श्रेयांसनाथ का पवित्र जीवन-वृत्त अब मैं विवृत करूँगा । (श्लोक १-२)

पुष्कराद् द्वीप के पूर्व विदेह में कच्छ नामक विजय में क्षेमा नामक एक नगरी थी । वहाँ नलिनगुल्म नामक एक राजा राज्य करते थे । धार्मिक होने के कारण वे सर्वदा कलंकशून्य थे । उनके चरण-कमल राजाओं के मुकुटों द्वारा घषित होते थे । स्वर्ग के इन्द्र

की तरह पृथ्वी पर उनका एकछत्र राज्य था ताकि राज्य में कहीं कोई अपूर्णता न रहे। फलतः अमात्यों के सत्परामर्श से शत्रुओं की श्री को आकृष्ट कर उनके अधिगत कर दिया था। अतः उनका राज्य विरोधहीन स्वर्गराज की तरह प्रतीत होता था। उनका दुर्ग, प्राकार, बैताढ्य पर्वत स्थित विद्याधरों की आवास-श्रेणी को भी लज्जित करता था। उनका कोषागार कुबेर के धनागार से भी अधिक समृद्ध था। उनका सैन्यदल हस्ती, अश्व, रथ, पदातिक और मित्र-वाहिनी से पृथ्वी को आवृत्त करता था और शत्रुओं के हृदय को शष्प क्षेत्र की तरह कर्षित करता था। (श्लोक ३-७)

विवेक जात वैराग्य से वे यह अनुभव करने लगे यह शरीर, यौवन, ऐश्वर्य यहाँ तक कि जो कुछ भी प्रिय है उसका कोई मूल्य नहीं। सामान्य आहार ग्रहण कर, सामान्य शय्या पर सोकर जिस प्रकार जैसे-तैसे समय बिताया जाता है उसी प्रकार उन्होंने कुछ समय राज्य-भोग में व्यतीत किया। तत्त्वज्ञान रूपी औषध से जब वे राज्य-भोग रूपी व्याधि से मुक्त हुए तब धर्म प्राप्ति के लिए वज्रदन्त नामक मुनि से दीक्षा ग्रहण कर ली। सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर वे कठोर तपश्चर्या और परिषद्ओं को सहन कर शरीर और कर्म दोनों को शीर्ण करते हुए प्रव्रजन में निरत हो गए। शास्त्र वर्णित स्थानक, अर्हत् आदि की बहुविध उपासना कर उन्होंने तीर्थ-कर गोत्र कर्म उपार्जन किया। कठोर तपस्या व शुक्ल ध्यान में निरत रहकर चारों शरण ग्रहण कर यथा समय वे कालगत हुए और महाशुक विमान में उत्पन्न हुए। (श्लोक ८-१४)

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में पृथ्वी के रत्न-जड़ित नूपुर तुल्य सिंहपुर नामक एक नगरी थी। उस नगरी की अट्टालिकाओं की रत्नजड़ित छतें तारिकापुञ्ज प्रतिबिम्बित कर अक्ष-सज्जित अक्ष-स्थली का भ्रम उत्पन्न करते थे। नगर-प्राकारों के शिखर संलग्न मेघ ललाट पर लगे टीके से प्रतीत होते थे। सम्पन्न गृहों में सुन्दरियों के नूपुरों की रुनभुन से लगता मानो श्रीदेवी के सम्मानार्थ यहां संगीतानुष्ठान का आयोजन किया गया है। वर्षा के जल के साथ प्रवाहित छत की रत्न-कणिकाएँ सबके लिए सुलभ होकर साम्य-समुद्र में मिल जातीं। विष्णु-से प्रतापी बाहुबल सम्पन्न और कीर्तिमान विष्णु नामक एक राजा वहां राज्य करते थे। माटी में

बीज वपन करने पर जिस प्रकार उससे प्रचुर शण्य उत्पन्न होता है उसी भांति उनमें इन्द्रिय-संयम के कारण अनेकानेक गुण उत्पन्न हो गए थे। 'श्री' और 'भी' उनमें एक साथ रहती थी जो कि स्वयंवर माल्य की तरह जो शरणापन्न थे उनके लिए आनन्दकारी व जो शत्रु थे उनके लिए भीषण थी। दाक्षिण्य के साथ जैसे पात्रता, वाक्य के साथ जैसे सत्यता उसी प्रकार उनकी शक्ति के साथ कीर्ति मिली हुई थी। साहस, गरिमा, दृढ़ता आदि गुणों के वे प्रेक्षागृह या क्रीड़ा-स्थल थे। इन्द्र की शक्ति जैसी उनकी रानी थी विष्णु देवी। सौन्दर्य में तो मानो वे एक अन्य पृथ्वी थीं। तलवार की धार-सा था उनका सतीत्व। उनकी शरीर कोमल देह का वही अलङ्कार था। शक्ति में जिस प्रकार कोई राजा के समकक्ष नहीं था उसी प्रकार सौन्दर्य और श्री में कोई उनके समतुल्य नहीं थीं। गति में वे मन्थर थीं; किन्तु धर्म-कार्य में नहीं। उनकी कटि क्षीण थी; किन्तु हृदय नहीं। उनका और राजा का दोनों का हृदय एक सूत्र में ग्रथित था। अतः एक दूसरे को आनन्दित करते हुए वे सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे थे। (श्लोक १५-२९)

महाशुक्र विमान से नलिनीगुल्म का जीव अपनी आयुष्य पूर्ण कर ज्येष्ठ कृष्णा पष्ठी को चन्द्र जब श्रवणा नक्षत्र में था वहां से च्यव कर विष्णुदेवी के गर्भ में अवतरित हुआ। मुहूर्त भर के लिए नारकी जीवों को भी सुख का अनुभव हुआ। एक आलोक त्रिलोक में व्याप्त हो गया। क्योंकि अर्हंतों के कल्याणकों के समय ऐसा होता है। (श्लोक ३०-३३)

बैताड्य पर्वत का मानो छोटा संस्करण हो ऐसा एक श्वेत हस्ती, उच्च शृङ्ग-विशिष्ट शरदकालीन मेघ-सा एक श्वेत वृष, छत्र-सी आकाश में उत्क्षिप्त पूँछ वाला एक बलवान सिंह, मानो रानी का ही प्रतिरूप हो ऐसी अभिषिक्तमना महालक्ष्मी, मानो उनका यश-सौरभ हो ऐसी सुरभित पुष्प-माल्य, मानो अमृत रूप ज्योत्सना-सागर में स्नान कर उठा हो ऐसा पूर्ण चन्द्र, आकाश की चूड़ामणि-सा दीप्तिमान सूर्य, शाखा सहित वृक्ष-सा हवा में आन्दोलित मणिमय ध्वज-दण्ड, सौभाग्य का आधार रूप रत्न-जड़ित पूर्ण कलश, पद्महृद का मानो दूसरा प्रतिरूप हो ऐसा पद्म-सरोवर, आकाश को मानो छूना चाह रहा हो ऐसा उत्ताल

तरङ्गयुक्त समुद्र, पालक का ही मानो अनुज हो ऐसा एक दिव्य देव-विमान, समुद्र से मानो समस्त रत्नों को आहरित कर लिया हो ऐसा रत्न-पुञ्ज, शुक्र-सी उज्ज्वल धूमहीन अग्नि तीर्थङ्कर जन्म की सूचना देने वाले ये चौदह महास्वप्न विष्णुदेवी ने अपने मुख में प्रविष्ट होते देखे ।

भाद्रपद कृष्णा द्वादशी के दिन चन्द्र जब श्रवणा नक्षत्र में था विष्णुदेवी ने गंडे के लक्षण से युक्त स्वर्ण-वर्ण एक पुत्र को जन्म दिया । (श्लोक ४०-४१)

सिंहासन कांपने से तीर्थङ्कर जन्म अवगत कर अधोलोक से भोगङ्कुरा आदि आठ दिक्कुमारियाँ आईं । उन्होंने तीर्थङ्कर माता को नमस्कार कर अपना परिचय दिया और 'डरें नहीं' कहकर वायु सृष्टि की एवं सूतिका-गृह के चारों ओर एक योजन तक का स्थान परिष्कृत कर उनसे कुछ दूर खड़ी होकर गीत गाने लगीं । (श्लोक ४२-४४)

तदुपरान्त ऊर्ध्वलोक से नन्दनवन के शृंग पर अवस्थित मेघंकरा आदि आठ दिक्कुमारियाँ आयीं । उन्होंने तीर्थंकर माता को नमस्कार कर अपना परिचय दिया एवं मेघ-सृष्टि कर सूतिका घर के चारों ओर एक योजन परिमित स्थान पर सुगन्धित जल बरसाया । फिर पुष्पवर्षणकर धूप जलाया और विष्णुदेवी से थोड़ी दूर खड़ी होकर अर्हत् का गुणगान करने लगीं । (श्लोक ४५-४७)

रुचक पर्वत की पूर्व दिशा से नन्दोत्तरा आदि, दक्षिण दिशा से समाहारा आदि, पश्चिम दिशा से इला आदि, उत्तर दिशा से अलम्बुषा आदि आठ-आठ दिक्कुमारियाँ आयीं और अर्हत् माता को नमस्कार कर यथाविधि स्वयं का परिचय देकर पूर्वादि दिशा में अवस्थित होकर दर्पण, कलश, पंख और चँवर धारण कर प्रभु का गुणगान करने लगीं । चार विदिशाओं से चित्रादि दिक्कुमारियाँ आकर इसी प्रकार चारों विदिशाओं में हाथ में प्रदीप लेकर गीत गाने लगीं । (श्लोक ४८-५१)

रुचक पर्वत के आभ्यन्तर से रूपादि चार दिक्कुमारियों ने आकर अर्हत् माता को नमस्कार कर अपना परिचय दिया । तदुपरान्त चार अंगुल परिमाण प्रभु का नाभिनाल रखकर शेष अंश काट डाला । फिर जमीन में गड्ढा खोदकर उसे गाड़ दिया । उस

गर्त को हीरों से पूर्णकर उस पर पूर्वदिश की एक अपरूप वेदी का निर्माण किया। सूतिका गृह के तीन ओर उन्होंने चार कक्ष युक्त बदली गृह का निर्माण किया और वहाँ एक-एक रत्न-सिंहासन रखा। अर्हत् को गोद में लेकर अर्हत् माता का हाथ पकड़ कर उन्हें दक्षिण दिशा के कदली गृह के सिंहासन पर बैठाया। तदुपरान्त लक्षपाक तेल से उनकी देह को संवाहित कर सुगन्धित उबटन लगाया। फिर पूर्व दिशा के कदली गृह में ले जाकर सिंहासन पर बैठाकर सुगन्धित जल, पुष्प-जल और निर्मल जल से स्नान कराया। फिर उन्हें वस्त्राभूषणों से सुसज्जित कर उत्तर दिशा के कदली गृह के रत्न-सिंहासन पर बैठाया। वहाँ अरणि से अग्नि प्रज्ज्वलित कर गो-शीर्ष चन्दन-काष्ठ जलाया और भष्म को ताबीज की तरह दोनों के हाथों में बांध दिया। आप पर्वत तुल्य हो कहकर रत्न-जड़ित प्रस्तर गोलक ठोका। तदुपरान्त वे अर्हत् और अर्हत्-माता को सूतिका गृह में लाकर उनसे कुछ दूर खड़े होकर मांगलिक गीत गाने लगीं।

(श्लोक ५२-६२)

तत्पश्चात् शक्र प्रभु के सूतिका गृह तक आए और पालक विमान में बैठे हुए उस गृह की प्रदक्षिणा दी। ईशान कोण में उस विमान को रखकर उन्होंने सूतिका गृह में प्रवेश किया और अर्हत् एवं अर्हत् माता की वन्दना की। रानी को अवस्वापिनी निद्रा में निद्रित कर और उनके पास अर्हत् का बिम्ब रखकर इन्द्र ने पाँच रूप धारण किए। उन पाँच रूपों में एक रूप में प्रभु को गोद में लिया, दूसरे रूप में प्रभु के मस्तक पर छत्र धारण किया, तीसरे-चौथे रूप में चँवर लिया और पाँचवें रूप में एक हाथ में वज्र लेकर प्रभु के अग्रवर्ती होकर चलने लगे। मुहुर्त्तमात्र में शक्र अतिपाण्डु-कवला शिला पर उपस्थित हो गए और प्रभु को गोद से लिए वहाँ बैठ गए।

(श्लोक ६३-६८)

तदुपरान्त स्वर्ग के अच्युतादि नौ इन्द्र, भवनपतियों के चमरादि बीस इन्द्र और व्यन्तर देवों के काल आदि वत्तीस इन्द्र, ज्योतिष्कों के सूर्य-चन्द्र दो इन्द्र भगवान् के अभिषेक के लिए वहाँ आए। शक्र के आदेश से आभियोगिक देवों ने कुम्भादि निर्मित किए। तदुपरान्त अच्युत से प्रारम्भ कर समस्त इन्द्रों ने तीर्थ से लाए पवित्र जल से प्रभु को स्नान कराया। अन्त में शक्र ने प्रभु को

ईशानेन्द्र की गोद में बैठाकर स्फटिक के वृष निर्मित किए। उन वृषों के शृंगों से निःसृत जल जो ऊपर जाकर मिल जाता था प्रभु के मस्तक पर गिरने लगा—इस प्रकार शक्र ने प्रभु को स्नान कराया। स्नान हो जाने पर वृषों को नष्ट कर प्रभु की देह पर अंगराग लगाया। तदुपरान्त शक्र निम्नलिखित स्तुति करने लगा—

(श्लोक ६८-७४)

‘समस्त कल्याणकों में उत्कृष्ट आपका जन्म-कल्याणक मेरे मार्गके लिए शुभकारी हो। हे भगवन् मैं इसलिए आपको स्नान कराता हूँ, अंगराग करता हूँ, पूजा करता हूँ, स्तव-पाठ करता हूँ क्योंकि आपकी भक्ति से मैं कभी तृप्त नहीं होता। धर्म रूपी वृष मिथ्या धर्माश्रयी व्याघ्र द्वारा आक्रान्त हो गया है, आपके संरक्षण में अब वह वृष भरत क्षेत्र में जहाँ इच्छा हो वहीं विचरण करे : आज आपने मेरे हृदय में अपना मन्दिर निर्माण कर हे देवाधिदेव, मुझे शरण दी है। इन मुकुटादि को मैं अलंकार नहीं मानता। आपके चरणनखों की दीप्ति जो मेरे मस्तक को स्पर्श करती है वहीं मेरा अलंकार है। चारणादि जो मेरी स्तुति करते हैं उससे मुझे आनन्द नहीं मिलता। हे त्रिलोकपति, आपका गुणगान करने में ही मुझे आनन्द है : देव-सभा में सिंहासन पर बैठने में मुझे वह आनन्द नहीं मिलता जो आनन्द आपके सम्मुख धरती पर बैठकर मैं प्राप्त करता हूँ। मैं अपने स्वराज्य के स्वातंत्र्य की कामना नहीं करता। हे भगवन्, मैं चाहता हूँ मैं चिरकाल तक आपके अधीन रहकर ही वास करूँ।’

(श्लोक ७५-८२)

इस प्रकार स्तुति कर शक्र प्रभु को लेकर अर्हत् माता के निकट उपस्थित हुए और अवस्वापिनी निद्रा और अर्हत् प्रतिरूप को हटाकर प्रभु को माता के पास सुला दिया। शक्र प्रभु के सूतिकागृह से और अन्य इन्द्र मेरु पर्वत से तीर्थ स्थल पर उपस्थित यात्रियों की तरह यात्रा के अन्त में स्व-स्व गृह लौट गए। (श्लोक ८३-८४)

दूसरे दिन सुबह राजा विष्णु ने पुत्र-जन्मोत्सव मनाया। पृथ्वी पर आनन्द का एकछत्र आधिपत्य स्थापित हो गया। शुभदिन पर उत्सव सहित प्रभु के माता-पिता ने उनका नाम रखा श्रेयांस कुमार। शक्र द्वारा नियुक्त पाँच धात्रियों द्वारा पालित होकर एवं शक्र प्रदत्त अंगूठ का अमृत-पान कर प्रभु वर्द्धित होने लगे। यद्यपि

वे तीन ज्ञान के धारक थे फिर भी उन्होंने शिशु सुलभ सरलता धारण कर रखी थी कारण उषाकाल में सूर्य भी ताप-विकीर्ण नहीं करता । बालक रूपी देव, असुर और मनुष्यों के साथ क्रीड़ा कर रथ से हस्तीपृष्ठ पर आरोहण करने की भाँति यौवन को प्राप्त किया ।

(श्लोक ८५-८९)

अस्सी धनुष दीर्घ प्रभु यद्यपि वैरागी थे फिर भी पिता की इच्छा से विवाह किया । जन्म से इक्कीस लाख वर्ष अतिक्रान्त होने पर उन्होंने पिता के अनुरोध से राज्य-भार ग्रहण किया । मंगल-निधान श्रेयांसनाथ ने अधुण प्रताप से बयालास लाख वर्ष तक पृथ्वी पर शासन किया ।

(श्लोक ९०-९१)

संसार-विरक्त होकर जब उन्होंने दीक्षा लेने का विचार किया तो लौकान्तिक देव शुभ-शकुन की तरह प्रभु को दीक्षा के लिए उत्साहित करने आए । प्रभु ने एक वर्ष तक शक्र के आदेश से कुबेर द्वारा प्रेरित और जृम्भक देवों द्वारा लाए धन को दान किया । वर्ष के अन्त में इन्द्र आए और प्रभु को दीक्षा पूर्व का अभिषेक स्नान करवाया मानो वे कर्म रूपी शत्रु को जय करने के लिए यात्रा कर रहे हों । देवों ने उनकी देह पर दिव्य-सुगन्धित द्रव्य का विलेपन कर उन्हें रत्नालंकारों से भूषित किया । मंगल ही ने मानो रूप धारण किया है ऐसा शुभ्र देवदूष्य वस्त्र धारण कर वे भृत्यरूपी शक्र के कन्धों पर हाथ रखकर और छत्र-चामरधारी अन्यान्य इन्द्रों द्वारा परिवृत होकर रत्नखचित विमल-प्रभा शिविका में चढ़े । फिर देव और मनुष्यों से घिरे सहस्राम्रवन उद्यान पहुँचे । वहाँ शिविका से उतर कर समस्त अलंकारों को खोल डाला और स्कन्ध पर इन्द्र द्वारा प्रदत्त देवदूष्य वस्त्र रखकर फाल्गुन कृष्ण त्रयोदशी को चन्द्र के साथ श्रवणा नक्षत्र का योग आने पर दो दिनों के उपवास के पश्चात् प्रभु केश उत्पाटित कर दीक्षित हुए । शक्र उन्हीं केशों को अपने उत्तरीय के प्रान्त पर धारण कर हवा की भाँति तीव्र गति से मुहूर्त्त मात्र में क्षीर समुद्र में डालकर लौट आए । हस्त संचालन द्वारा इन्द्र ने जब कोलाहल शान्त कर दिया तब प्रभु ने जो सबको अभय दान करता है ऐसा सम्यक् चरित्र ग्रहण कर लिया । त्रिलोक-पति के साथ एक सहस्र राजा लोग स्व-राज्य का तृणवत परित्याग कर दीक्षित हो गए । देवेन्द्र और अमुरेन्द्र नंदीश्वर द्वीप में शाश्वत

अर्हतों का अष्टाह्निका महोत्सव कर अपने-अपने आवास को लौट गए । (श्लोक ९२-१०४)

दूसरे दिन सुबह सिद्धार्थ नगर के राजा नन्द के घर खीरान्न ग्रहण कर प्रभु ने पारणा किया । देवों ने रत्नादि पंच-दिव्य प्रकट किए और राजा नन्द ने प्रभु ने जहाँ खड़े होकर पारणा किया था वहाँ रत्नमय वेदी का निर्माण करवाया । वहाँ से प्रभु वायु की तरह ग्राम, खान, नगर आदि में प्रव्रजन करने लगे ।

(श्लोक १०५-१०७)

पूर्व विदेह की मुकुटमणि स्वरूप पुण्डरीकिनी नामक एक नगरी थी । उसका सुवल नामक राजा था । बहुत दिनों तक राज्य करने के पश्चात् यथा समय उन्होंने मुनि वृषभ से दीक्षा ग्रहण कर ली । अप्रमत्त भाव से दीर्घकाल तक संयम और तप की आराधना कर काल प्राप्त होने पर अनुत्तर विमान में वे देव-रूप में उत्पन्न हुए । (श्लोक १०८-१०९)

भरत क्षेत्र के राजगृह में विश्वनन्दी नामक एक राजा था । उसके प्रियंगु नामक रानी और विशाखनन्दी नामक पुत्र था । राजा विश्वनन्दी के विशाखभूति नामक एक छोटा भाई था । वह युवराज पद पर अधिष्ठित था । वह बुद्धिमान, बलवा, विनीत और न्याय परायण था । विशाखभूति की रानी धारिणी के गर्भ से पूर्व जन्म के पुण्योदय से मरीचि का जोव पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ । माता-पिता ने उसका नाम रखा विश्वभूति । धात्रियों द्वारा पालित होकर विश्वभूति क्रमशः बड़ा होने लगा । वह समस्त कलाओं में पारंगत और समस्त गुणों से गुणान्वित था । क्रम से देह के अलंकार तुल्य यौवन को उसने प्राप्त किया । (श्लोक ११०-११४)

पृथ्वी पर मानो नन्दनवन अवतरित हुआ है ऐसे पुष्पकरण्डक नामक नगरी के सर्वोत्तम और रमणीय उद्यान में अन्तःपुरिकाओं के साथ वे विहार करते थे । उसी उद्यान में एक दिन राजपुत्र विशाखनन्दी को भी अन्तःपुरिकाओं के साथ विहार करने की इच्छा हुई । किन्तु विश्वभूति वहाँ पहले से ही था अतः उसकी इच्छा पूर्ण नहीं हुई । रानी प्रियंगु की दासियाँ उस उद्यान में फूल लेने जाती थीं । वहाँ उन्होंने विश्वभूति को अन्तःपुरिकाओं के साथ विहार करते और विशाखनन्दी को बाहर खड़े देखा । वे ईर्ष्याविश रानी प्रियंगु से

बोली—‘महारानी ! युवराज-पुत्र विश्वभूति ही यहाँ राजकुमार है और कोई नहीं है जिससे वह तो अन्तःपुरिकाओं के साथ पुष्पकरण्डक उद्यान में आनन्द उपभोग कर रहा है और आपके पुत्र वहाँ प्रवेश के अधिकार से वंचित बने बाहर खड़े हैं ।’ यह सुनकर रानी क्रोधान्वित होकर कोप भवन में जा लेटी । राजा को जब यह ज्ञात हुआ तब वे रानी के पास आए और कारण पूछा । रानी बोली, ‘आपके रहते हुए विश्वभूति पुष्पकरण्डक उद्यान का राजा की तरह उपभोग कर रहा है और मेरा पुत्र भिक्षु की तरह बाहर खड़ा है ।’ तब राजा ने रानी को समझाकर कहा—‘यह हमारा कुलधर्म है कि यदि एक राजपुत्र वहाँ अवस्थान करे तब दूसरा राजपुत्र उसमें प्रवेश नहीं कर सकता ।’ किन्तु रानी राजा की इस बात से संतुष्ट नहीं हुई ।

(श्लोक ११५-१२३)

तब राजा ने एक छलना का आश्रय लिया और युद्ध यात्रा की भेरी बजवाई । राजा ने घोषणा करवाई सामन्त पुरुषसिंह मेरा आदेश मान्य नहीं कर रहा है अतः हमें उससे युद्ध करना होगा । यह संवाद जब विश्वभूति के कानों में पहुँचा वह शीघ्र राजा के पास आया और बोला—‘मेरे रहते आप क्यों युद्ध में जाएँगे ?’ इस प्रकार राजा को रोककर विश्वभूति सैन्यवाहिनी लेकर युद्ध यात्रा पर निकला । राजपुत्र आ रहे हैं जानकर सामन्त पुरुषसिंह भृत्य की तरह उनके सम्मुख उपस्थित हुआ और सम्मान सहित अपने प्रासाद में ले गया । हस्ती-अश्वादि उपहार देकर वह करबद्ध बना उनके सम्मुख उपस्थित होकर बोला—‘कुमार, मैं आपकी और क्या सेवा करूँ ?’ विश्वभूति असमंजस में पड़ गया । अतः जिस राह से आया था उसी राह से लौट गया । भला निर्दोष पर कौन क्रुद्ध हो सकता है ?

(श्लोक १२३-१२८)

इस बीच विशाखनन्दी अन्तःपुरिकाओं को लेकर उद्यान में चला गया ।

विश्वभूति लौट आने पर पुष्पकरण्डक उद्यान में प्रवेश करने लगा । द्वाररक्षक ने उसे रोका । बोला—‘भीतर विशाखनन्दी हैं ।’ मर्यादा रूपी तट द्वारा रोका जाने पर शौर्य के समुद्र-सा विश्वभूति सोचने लगा अरण्य से हस्ती को बाहर करने के लिए जिस प्रकार छल का आश्रय लेना होता है उसी प्रकार मुझे भी उद्यान से बाहर

करने के लिए छलना का आश्रय लिया गया है। अब मैं क्या करूँ? क्रोध से अभिभूत कुमार ने हस्ती जैसे दन्त द्वारा आघात करता है उसी प्रकार निकटवर्ती फलभार से नत कपित्थ वृक्ष पर मुष्टि द्वारा आघात किया। आघात से गिरे कपित्थ वृक्ष के फलों से आवृत्त भूमि की ओर देखकर वे द्वार-रक्षक से बोले—‘यदि मेरे पिता के अग्रज के प्रति मेरे मन में सम्मान भावना नहीं रहती तो इन फलों की तरह तुम्हारे मुण्डों से पृथ्वी को आवृत्त कर देता। सर्प-वेष्टन जैसी इस भोग-वासना को धिक्कार है जिसके लिए ऐसी छलना का आश्रय लिया गया है।’ (श्लोक १३०-१३६)

ऐसा कहकर विश्वभूति ने तृण की भाँति प्रताद परित्याग कर मुनि सम्भूत से दीक्षा ग्रहण कर ली। (श्लोक १३७)

विश्वनन्दी को जब यह ज्ञात हुआ तब मुनिजाल परिवार और अन्तःपुरिकाओं को लेकर वहाँ उपस्थित हुआ और मुनि सम्भूत को वन्दना कर विश्वभूति के पास गए और दुःखार्त स्वर में अश्रु विसर्जन करते हुए बोले ‘पुत्र, तुम जब भी कुछ करते हो मुझसे पूछकर ही करते हो। मेरे दुर्भाग्य के कारण ही क्या तुम इस कार्य को सहसा कर बैठे? हे पुत्र, मुझे तुम पर ही आशा थी, भरोसा था। हे दुर्दिन के रक्षक, तुमने क्यों सहसा हमारी आशाओं को भंग कर डाला? पुत्र, तुम व्रत का परित्याग कर आनन्द उपभोग करो। पुष्पकरण्डक उद्यान पूर्व की भाँति ही सर्वदा तुम्हारे लिए खुला रहेगा।’ (श्लोक १३८-१४२)

विश्वभूति ने उत्तर दिया—‘सांसारिक उपभोग में अब मेरी रुचि नहीं रही। इन्द्रिय-सुख वास्तव में दुःख का कारण है। स्वजनों के प्रति स्नेह संसार-रूप कारागार की शृंखला जैसा है। मकड़े जिस प्रकार अपने ही जाल में आवद्ध हो जाते हैं उसी प्रकार मनुष्य भी मोहपाश में आवद्ध रहता है। मुझपर कोई शासन न करे इस-लिए अब मैं उत्तम तप और संयम की आराधना करूँगा। मेरे लिए परलोक में यही कल्याणकारी होगा।’ (श्लोक १४३-१४५)

यह सुनकर राजा दुःखित अन्तःकरण से प्रासाद को लौट आए। विश्वभूति गुरु सहित प्रव्रजन करने लगे। (श्लोक १४६)

एक बार मुनि विश्वभूति विविध प्रकार की तपःसाधना करते हुए मथुरा नगरी के निकट आए। उस समय विशाखानन्दी

अपनी बुआ की कन्या मथुरा की राजकन्या से विवाह करने के लिए अनुचरों सहित वहाँ अवस्थित था। विश्वभूति एक मास के उपवास के पश्चात् भिक्षा लेने के लिए विशाखनन्दी की छावनी के पास से गुजर रहे थे। विशाखनन्दी के अनुचर उन्हें देखकर पहचान गए। अतः कुमार विश्वभूति, कुमार विश्वभूति पुकारने लगे। उन्हें देखते ही विशाखनन्दी का क्रोध उद्दीप्त हो गया। ठीक उसी समय मुनि विश्वभूति एक गाय के धक्के से जमीन पर गिर गए। यह देखकर विशाखनन्दी अट्टहास कर उठा। बोला—‘कपित्थ वृक्ष के फलों को झार देने की तुम्हारी वह शक्ति कहाँ गई?’ विशाखनन्दी की बात सुनकर विश्वभूति भी क्रोधित हो उठे। उन्होंने उसी गाय को शृंग द्वारा उठाकर तृण की तरह चारों ओर घुमाकर अपनी शक्ति को प्रदर्शित किया। फिर गाय को नीचे उतारकर अपने गन्तव्यस्थल को जाते हुए सोचने लगे—यद्यपि मैंने संसार छोड़ दिया है फिर भी यह दुष्ट मेरे प्रति अब भी वैसा ही ईर्ष्यापरायण है। अतः उन्होंने मन ही मन यह निदान किया—अपनी तपस्या लब्ध पुण्य से मैं अगले जन्म में महाशक्तिशाली होकर जन्म ग्रहण करूँ। इस निदान की आलोचना किए बिना अपनी एक करोड़ वर्ष की आयु पूर्णकर वे महाशुक्र विमान में परिपूर्ण आयु वाले देव रूप में उत्पन्न हुए।

(श्लोक १४७-१५८)

दक्षिण भारताद्ध में पृथ्वी के मुकुट तुल्य उच्च प्राकार समन्वित पोतनपुर नामक एक नगर था। वहाँ सहस्रकिरण सूर्य-से सबंगुण-सम्पन्न रिपुप्रतिशत्रु नामक राजा राज्य करते थे। भरतक्षेत्र के छह भाग की तरह वे न्याय, नीति, बल, पराक्रम, रूप और ऐश्वर्ययुक्त थे और साम, दाम, दण्ड, भेद नीति से इन्द्र के चार दन्त युक्त ऐरावत की तरह प्रतिभासित होते थे। वे सिंह की भाँति शौर्य सम्पन्न, हस्ती की तरह बलशाली, कामदेव की तरह रूपवान और बृहस्पति की तरह बुद्धिसम्पन्न थे। पृथ्वी को अधिगत करने में उनका शौर्य, उनकी तीक्ष्ण बुद्धि, भुजाओं की तरह एक दूसरे को अलंकृत करते थे।

(श्लोक १५९-१६३)

उनकी प्रधान महिषी का नाम भद्रा था। वह सौभाग्य की आगार और पृथ्वी ने ही मानो रूप धारण कर लिया है, ऐसी थी। पति के प्रति भक्ति रूप अस्त्रधारिणी, नारी प्रहरी की तरह सर्वदा

जागरूक, संचित रत्न की तरह अपने चारित्र्य की रक्षा करती थी। नयन-कमल की तरह वह सदैव सुन्दर प्रतीत होती थी मानो राज्य की श्री ने रूप ग्रहण किया है, मानो परिवार के प्रति एकान्तिक निष्ठा ही मूर्तिमान हो उठी है। (श्लोक १६४-१६६)

एक दिन सुवल का जीव अनुत्तर विमान से च्यव कर महाराणी की कुक्षि में प्रविष्ट हुआ। रात्रि के शेष भाग में सुख-शय्या-शायीन उन्होंने बलदेव के जन्म की सूचना देने वाले चार महास्वप्न देखे। आनन्द के आधिक्य से नींद टूट जाने पर वे उसी समय उठकर राजा के पास जाकर बोलीं - 'रजत-पर्वत-से चार दाँत विशिष्ट हस्ती को मेघ में चन्द्रमा-प्रवेश की तरह मैंने मुख में प्रवेश करते देखा है। एक उच्च कुम्भ, विशिष्ट नादकारी खड़ी पूँछ युक्त निर्दोष मानो शरद-मेघ से रचित हुआ है ऐसा वृष देखा। पूर्णचन्द्र देखा जिसकी किरणें बहुत दूर तक विस्तृत होकर मानो दिक्समूह के कर्णाभरण प्रस्तुत कर रही हों। गुञ्जरित भ्रमर जिस पर बैठे हैं ऐसे प्रस्फुटित कमल सह एक पद्महृद देखा जो मानो शतमुख होकर गा रहा हो। प्रभु इस स्वप्न-दर्शन का फल मुझे बताएँ। कारण, मंगलकारी स्वप्नों के विषय में अनजान को पूछने से लाभ नहीं होता।' (श्लोक १६७-१७४)

राजा बोले, 'प्रिये ! इस स्वप्न-दर्शन के फलस्वरूप तुम्हारा पुत्र महाबलशाली और सौन्दर्य में देवोपम होगा।' (श्लोक १७५)

यथा समय रानी ने श्वेतवर्ण, दीर्घबाहु, अस्सी धनुष दीर्घ एक पुत्र को उसी प्रकार प्रसव किया जैसे पूर्व दिशा चन्द्र को प्रसव करती है। चक्रवर्ती जैसे चक्र उत्पन्न होने पर उत्सव करते हैं राजा ने भी उसी प्रकार पुत्र-रत्न के जन्म का महोत्सव किया। एक शुभ दिन शुभ नक्षत्र में उन्होंने साडम्बर पुत्र का नाम रखा अचल। नहर के जल से जैसे वृक्ष वद्धित होता है वैसे ही धातियों द्वारा लालित होकर देह-सौन्दर्य सम्पन्न वे दिन-दिन वद्धित होने लगे।

(श्लोक १७६-१७९)

अचल के जन्म के कुछ समय पश्चात् रानी भद्रा ने केतकी जैसे पुष्पभार धारण करती है उसी प्रकार पुनः गर्भ धारण किया। समय पूर्ण होने पर जाह्नवी जैसे कमल उत्पन्न करती है वैसे ही सर्व सुलक्षणा एक कन्या को उन्होंने जन्म दिया। उसका मुख चन्द्र-सा,

नेत्र हरिण-शिष्ट-से होने के कारण राजा ने उसका नाम रखा मृगावती । आश्रम-पालित मृग जैसे निर्बाध बढ़ता है उसी प्रकार एक गोद से दूसरी गोद में जाते हुए वह मृगनयना बड़ी होने लगी । उसे कन्धे पर लेकर जब घात्रियाँ आँगन में घूमने निकलतीं तो वे रत्न-पुत्तलिका युक्त स्तम्भ-सी लगतीं । क्रमशः शंशव अतिक्रम कर वह यौवन को प्राप्त हुई । उसने ऐसा शारीरिक सौन्दर्य पाया मानो संजीवनी-सुधा पान कर मदन पुनर्जीवित हो गया हो । वक्र भू-रेखाओं के नीचे उसका मुख चन्द्र के कर्णाभरण-सा और काली मणियों से युक्त नेत्र भ्रमर बैठे श्वेत पद्म-से प्रतीत होते । उसकी सुन्दर ग्रीवा ने पद्ममुख के नाल की शोभा धारण की । सीधी अँगुलियाँ युक्त हस्त की काम के तूणीर के साथ तुलना होती । उसका वक्ष देहरूपी लावण्य नदी के तट पर बैठे मानो दो चक्रवाक हों । उसकी कटि क्षीण थी मानो वक्ष देह का गुरु भार वहन कर वह क्षीण हो गई हो । उसकी नाभि मदन की क्रीड़ा वापी-सी गंभीर थी । उसके नितम्ब रत्नाचल पर्वत के गात्र की तरह विपुल और मनुष्य थे । उसकी जाँघें क्रमशः भोजनान्नति होने से कदली स्तम्भ-सी शोभित होतीं । उसकी पगलियाँ घुटनों के नीचे की पिंडलियों सहित नालयुक्त कमल-सी दिखती थीं । यौवन के नवीन सौन्दर्य से मुशोभित ऐसे अंगों वाली वह विद्याधर कन्या-सी प्रतीत होती थी ।

(श्लोक १८०-१९१)

मृगावती का देह-सौन्दर्य जैसे-जैसे बढ़ने लगा वैसे-वैसे भद्रा के मन में उसके योग्य पति की चिन्ता बढ़ने लगी । जिस प्रकार मैं चिन्ता करती हूँ उसी प्रकार राजा भी चिन्ता करें, सोचकर रानी भद्रा ने मृगावती को राजा के पास भेजा । यह उनकी लड़की है भूलकर रिपुप्रतिघ्न मन ही मन सोचने लगे - देह सौन्दर्य की परा-काष्ठा कंदर्प के शरतुल्य त्रिलोक सुन्दरी को परास्त करनेवाली यह कौन है ? स्वर्ग और मृत्यु का आधिपत्य प्राप्त करना सहज है; किन्तु ऐसी कन्या जिसने मेरे हृदय को जीत लिया है पाना कठिन है । मेरे पूर्व जन्म के सुकृत के फलस्वरूप देव, असुर और मानवेन्द्र की सुकृति से भी अधिक ऐसी कन्या मुझे मिली है ।

(श्लोक १९२-१९९)

ऐसा सोचकर राजा ने प्राणों से भी प्रिय उसे अपनी गोद में

बैठाकर स्पर्श, प्रिय सम्भाषण, आलिंगन, चुम्बनादि कर वृद्ध कंचुकी के साथ उसे पुनः अन्तःपुर में भेज दिया ।

लोकोपवाद दूर करने के लिए उन्होंने मन्त्री परिषद और नागरिकों की एक सभा बुलवाई । उस सभा में राजा ने यही प्रश्न रखा — 'मेरे राज्य में, नगर में या ग्राम में या अन्य किसी स्थान में कोई रत्न उत्पन्न हो तो उस पर किसका अधिकार होगा आप लोग बताएँ ?' (श्लोक २००-२०१)

प्रत्युत्तर में वे सभी बोले — 'महाराज आपके राज्य में यदि कोई रत्न उत्पन्न होता है तब उस पर आपका एकमात्र अधिकार है दूसरे किसी का नहीं ।' (श्लोक २०२)

इस प्रकार तीन बार उनकी स्वीकृति प्राप्त कर राजा ने अपनी कन्या मृगावती उन्हें दिखाई । तदुपरान्त वे बोले — 'यह कन्यारत्न मेरे घर में उत्पन्न हुआ है । आप सबकी सम्मति से मैं इसके साथ विवाह करता हूँ ।' नागरिक राजा की इस युक्ति से लज्जित होकर घर लौट गए । राजा ने उससे गान्धर्व विवाह किया । जिस कारण वे उनकी प्रजा — सन्तान के पति बने इसलिए उनका प्रजापति नाम संसार में प्रसिद्ध हुआ । (श्लोक २०३-२०६)

भद्रा ने जब राज-परिवार की यह कलङ्क-कथा सुनी जिसने उसके पति को लोक निन्दा का पात्र बना दिया था बहुत दुःखी हुई और पुत्र अचल को लेकर दक्षिण देश चली गई जहां वह लोकोपवाद नहीं पहुंच सकता था । नए विश्वकर्मा की तरह अचल ने वहां माँ के लिए माहेश्वरी नामक एक नगरी स्थापित की । कुबेर ने जैसे अयोध्या को स्वर्ण पूर्ण किया था वैसे ही अचल ने सब खानों से स्वर्ण संग्रह कर उस नगरी को स्वर्ण-पूरित किया । उसने वहां उच्चकुल जात मन्त्री, रक्षी और सेवक सहित माता को नगर-लक्ष्मी की तरह प्रतिष्ठित कर उस स्थान का परित्याग किया । स्त्रियों में चूड़ामणि स्वरूप साध्वी, सच्चरित्र की अलङ्कार-रूपा, देवोपासना आदि षड्विध आवश्यक कर्म में निरत भद्रा उस नगरी में रहने लगी और पितृ-भक्त अचल पुनः पोतनपुर लौट गया । पिता चाहे कैसा भी क्यों न हो आर्य के लिए सम्माननीय होता है । अचल पूर्व की भाँति ही पिता की आज्ञा का पालन करने लगा । जो सम्मान के योग्य हैं जानी उनकी आलोचना नहीं करते । चन्द्र ने जैसे

रोहिणी को प्रधान महिषी का पद प्रदान किया था उसी प्रकार प्रजापति ने मृगावती को प्रधान महिषी का पद दिया ।

(श्लोक २०७-२१५)

कुछ समय व्यतीत होने पर मुनि विश्वभूति का जीव महाशुक्र विमान से च्युत होकर मृगावती के गर्भ में प्राविष्ट हुआ । सुख-शय्या शायीन मृगावती ने रात्रि के शेष भाग में वासुदेव के जन्म-सूचक सात स्वप्न देखे—विश्वस्त केशरयुक्त सिंह जिसके नाखून चन्द्रकला-से और पुच्छ चँवर-सी थी । पद्मासीना श्री देवी जिसके दोनों ओर खड़े दो हाथी सूँड में क्षीर समुद्र के जल से भरे दो कुम्भ धारण कर उनका अभिषेक कर रहे थे । अन्धकार नाशकारी प्रचण्ड दीप्तिमान सूर्य जो रात्रि को भी दिवस-सा प्रकाशित कर रहा था । मधुर स्वच्छ जलपूर्ण कलश जिसका मुख पद्म द्वारा ढका था और ग्रीवा स्वर्ण घुंघरू युक्त माल्य से शोभित थी । बहुविध जलजन्तु पूर्ण समुद्र जो विविध रत्न-राशि से झलमलाता था व जिसकी तरंगें आकाश को स्पर्श कर रही थीं । रत्नस्तूप, पञ्चवर्णीय जिन रत्नों से विच्छुरित इन्द्र-धनुषी शोभा आकाश में बिखर गई थी । निर्धूम अग्नि-शिखा—नेत्रों को आनन्दमयी वह अग्निशिखा आकाश को प्रदीप्त कर रही थी । स्वप्न-दर्शन के पश्चात् जागृत मृगावती ने राजा से स्वप्न-फल बताने को कहने पर राजा बोले—‘देवी, तुम्हारा पुत्र भरतार्द्ध का अधीश्वर होगा ।’ नैमित्तिकों को पूछने पर उन्होंने भी स्वप्न का यही अर्थ बताया । कारण, ज्ञानियों में मतभेद नहीं होता । तदुपरान्त समय पूर्ण होने पर रानी ने सर्व लक्षणयुक्त अस्सी धनुष परिमित कृष्णवर्ण एक पुत्र को जन्म दिया । राजा के हृदय की तरह उस समय दिक् चक्रवाल प्रशान्त हो गए, पृथ्वी प्रसारित और लोकचित्त आनन्दपूरित हो गया । रिपुप्रतिशत्रु ने आनन्दित होकर गौशाला से गायों को जैसे मुक्त किया जाता है वैसे ही कारागार से शत्रु पर्यन्त को मुक्त कर दिया । अर्द्धचक्री की भविष्यत् श्री को स्थान देने के लिए उन्होंने कामधेनु की तरह प्रार्थियों को धन दान दिया । पुत्र-जन्म या विवाह के समय जैसे उत्सव होता है उसी प्रकार निरवच्छिन्न उत्सव नगरवासियों ने किया । मङ्गल द्रव्यवहनकारी स्त्रियों को प्रासाद में धारण ही नहीं किया जा सका, न ही प्रासाद के सम्मुख भाग में । कारण, ग्राम-नगर से नवागतों

के साथ वे भी मिल गयीं। प्रत्येक स्थानों में तौरण बने। प्रतिपद पर संगीत घर, नगर एवं प्रासाद में सर्वत्र आयोजित हुए।

(श्लोक २१६-२३३)

बालक की पीठ पर तीन हाड़ होने के कारण राजा ने उसका नाम रखा त्रिपृष्ठ। धातियों द्वारा लालित और अचल के साथ खेलकर त्रिपृष्ठ क्रमशः बड़े होने लगे। पांवों में नूपुर पहनकर बलभद्र अचल के साथ खेलते हुए वे उनके आगे चलते। लगता महावत सहित जैसे हस्ती चल रहा हो। प्रखर बुद्धि सम्पन्न होने के कारण उन्होंने समस्त विद्याओं को, दर्पण जैसे सहज ही प्रतिबिम्ब धारण करता है, उसी प्रकार धारण कर लिया। उनके शिक्षक उनके साक्षी रहते। कालक्रम से सामरिक शिक्षा प्राप्त करने लायक उनकी उम्र हो गई। दीर्घबाहु विस्तृत वक्ष के कारण अनुज होने पर भी वे बलभद्र के समवयस्क ही लगते थे। दोनों भाई जब निरवच्छिन्न रूप से एक साथ क्रीड़ा करते तब उन्हें देखकर लगता जैसे वे शुक्ल और कृष्ण दो पक्ष हैं। गाढ़ा नीला और पीत वस्त्र में ताल और गरुडध्वज वे सुवर्णशैल और अंजनशैल-से लगते। अचल और वासुदेव जब दोनों मिलकर खेलते तो उनके पदक्षेप से पृथ्वी कांपने लगती और वज्र-सा शब्द निकलता। शक्तिशाली हस्ती भी कुम्भ पर खेल-खेल में किया उनका मुष्ट्याघात सहन नहीं कर पाते थे। पर्वतशिखर को भी वे दीर्घबाहु बात ही बात में ब्रह्मीक की तरह ढहा देते। अन्य की तो बात ही क्या राक्षसों का भी भय न कर वे शरणागत को शरण देते थे। त्रिपृष्ठ कभी भी अचल के बिना नहीं रह सकते थे। वे दो देह एक मन की तरह एक साथ ही काम करते।

(श्लोक २३४-२४५)

रत्नपुर नगर में प्रतिवासुदेव अश्वग्रीव नामक एक राजा थे। वे दीर्घबाहु अस्सी धनुष परिमित देही, नवोदित मेघ वर्ण और चौरासी लाख पूर्व की आयुष्य युक्त थे। हस्तीकुम्भ को विदीर्ण करने में सिंह को जैसे निवृत्ति नहीं होती वैसे ही शत्रुओं को निर्जित किए बिना उनके हाथों की खाज शान्त नहीं होती। महाशक्तिशाली दीर्घबाहु वे सर्वदा युद्ध के लिए व्यग्र रहते। वे विनीत शत्रु या युद्धरत शत्रु के द्वारा कभी तृप्त नहीं होते। उनका शौर्य शत्रु-रमणियों के कमल-नयनों में सदा अश्रु प्रवाहित कराते। उनके लिए

वे करुण देव के अमृत रूप में परिगणित होते । चक्र जिससे उन्होंने दिक् चक्रवाल को अवदमित किया था वह उनके हाथ में शत्रु सैन्य के लिए द्वितीय मार्तण्ड-सा प्रतिभासित होता । हमारे हृदय में अवस्थान करने के कारण हमें विरोधी समझकर वे हत्या नहीं करेंगे इसलिए वे राजा लोग उनके प्रति भक्तिमान रहते । योगी जिस प्रकार परमात्मा को हृदय में धारण करते हैं उसी प्रकार वे उनको हृदय में धारण करते थे । (श्लोक २४६-२५३)

बाहुबल से उन्होंने भारतवर्ष के तीन खण्डों पर आधिपत्य विस्तार कर वैताढ्य पर्वत को सीमा निर्देशक प्रस्तर खण्ड में परिणत कर दिया था । बाहु और विद्या बल से वैताढ्य पर्वत की दोनों भुजाओं की तरह विद्याधर निवासों पर उन्होंने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था । वे मगध, प्रभास, वरदाम देव और राजाओं द्वारा उपहार-दान से पूजित होते थे । सोलह हजार मुकुट-धारी राजा उनके आदेश को मुकुट की तरह मस्तक पर धारण करते थे । दीर्घबाहु स्वयं एकछत्र राज्य का आनन्द उपभोग कर मृत्युलोक के इन्द्र की तरह समय व्यतीत करते थे । (श्लोक २५४-२५८)

एक बार अश्वघ्रीव जब आनन्द उपभोग कर रहे थे उसी समय आकाश में अशुभ मेघोदय का तरह उनके मन में यह विकल्प उदित हुआ :

भारतवर्ष के दक्षिण भाग में जितने भी राजा हैं, समुद्र जैसे पर्वत को निमज्जित कर देता है उसी प्रकार वे मेरे प्रताप से अवदमित हैं । हरिणयूथ के मध्य सिंह की तरह पृथ्वी पर मैं ही एकमात्र वीर हूँ । अतः मेरा घातक कौन हो सकता है ? यह जानना दुष्कर है; किन्तु मैं तो जानूँगा ही । (श्लोक २५९-२६१)

ऐसा सोचकर उन्होंने द्वार-रक्षक द्वारा नैमित्तिक अश्वविन्दु को बुलवाया । उनके द्वारा पूछे जाने पर नैमित्तिक बोला—‘राजन्, ऐसा अशुभ वाक्य उच्चारित न करें । समस्त पृथ्वी को जय करने वाले आपको यम भी क्षति नहीं पहुंचा सकता । सामान्य मनुष्य का तो कहना ही क्या ?’ (श्लोक २६२-२६४)

अश्वघ्रीव बोला—‘नैमित्तिक, विनय प्रकट न कर सत्य क्या है वह बताओ । डरो मत । कारण जिन पर विश्वास किया जाता है वे चाटुकार नहीं होते ।’ इस भाँति बार-बार पूछने पर नैमित्तिक

ने गणना कर बताया—‘देव, आपके दूत चण्डवेग पर जो आक्रमण करेगा और पश्चिम सीमान्त में रहने वाले सिंह को जो हत्या करेगा वह आपका घातक होगा। नैमित्तिक की यह बात सुनकर बज्राहत से मन-ही-मन वे क्षुब्ध हुए; किन्तु ऊपर से उसे सम्मानित कर वैर पक्ष के दूत की तरह विदा किया। (श्लोक २६५-२६८)

पश्चिम सीमान्त पर अश्वग्रीव का धान्य क्षेत्र था। वहाँ के कृषक एक सिंह द्वारा विनष्ट होते थे। उनकी रक्षा करने के लिए उनके अधीनस्थ सोलह हजार राजाओं को उन्होंने पर्यायक्रम से पहरा देने का भार सौंपा था। गायों से कृषक जैसे खेत की रक्षा करते हैं उसी प्रकार समस्त राजा कृषकों के खेत की रक्षा करते। इस प्रकार सभी राजाओं द्वारा वहाँ के कृषक रक्षित थे।

(श्लोक २६९-२७१)

अश्वग्रीव ने अब एक विशेष उद्देश्य को लेकर परिषद बुलाई। उस परिषद में उनके उपदेष्टा, मन्त्री, सेनापति, सामन्त आदियों को सम्बोधित कर वे बोले—‘साम्राज्य के सामन्त राजा, सेनापति और वीरों में ऐसा कोई राजकुमार आप लोगों ने देखा है जो असाधारण शक्तिशाली, पराक्रमी और दीर्घबाहु है?’ उन्होंने जवाब दिया—‘राजन्, सूर्य की उपस्थिति में कौन प्रतापशाली है? पवन के सम्मुख कौन पराक्रमी है? गरुड़ की तुलना में कौन तीव्र-गति है? मेरु की तुलना में कौन वन्दनीय है? समुद्र की तुलना में कौन गम्भीर है? आपकी तुलना में ऐसा शक्तिशाली कौन हो सकता है? कारण आपकी शक्ति से परम शक्तिशाली भी पराजित हुआ है।’

(श्लोक २७२-२७५)

अश्वग्रीव बोले—‘आप जो कुछ कह रहे हैं वह प्रिय भाषण है सत्य भाषण नहीं क्योंकि शक्तिशाली के ऊपर भी शक्तिशाली है। पृथ्वी बहुरत्ना है।’

(श्लोक २७६)

तब मन्त्रियों में चारुलोचन नामक एक मन्त्री वाचस्पति की तरह सहज बोध्य वाक्य में बोला—‘राजा प्रजापति के देवोपम दो पुत्र हैं जो मृत्युलोक के वीरों को तृणवत् समझते हैं।’

(श्लोक २७७-२७८)

यह सुनकर सभा विसर्जित कर अश्वग्रीव ने अपने दूत चण्डवेग को विशेष कार्य से प्रजापति के पास भेजा। दूत अपने प्रभु के वैभव

योग्य सुन्दर रथ और अश्वारोही सैन्य लेकर कुछ ही दिनों में पोतन-पुर पहुंच गया। राजा प्रजापति उस समय देवों की तरह सर्वालंकारों से विभूषित होकर सामन्त राजा, मन्त्री, अचल और त्रिपृष्ठकुमार, राजपुरोहित एवं अन्य सभासदों सहित वरुण जैसे सामुद्रिक जीवों से परिवृत होकर बैठता है उसी प्रकार राज-सभा में बैठे थे। राजा-सभा में उस समय अविच्छिन्न भाव से संगीत का कार्यक्रम चल रहा था। विभिन्न पदन्यास भाव-भंगिमा सहित नर्तकियाँ नृत्य कर रही थीं। वाद्यों के शब्दों से आकाश गूँज रहा था। जीवनदायिनी वेणुध्वनि सह सुन्दर मधुर तालानुग ग्राह्य और मूछना समान्वत संगीत हो रहा था। उसी समय चण्डवेग बिना कुछ सूचना दिए द्वार-रक्षकों की उपेक्षा कर विद्युत् प्रकाश की तरह सहसा सभा में प्रविष्ट हुआ। प्रभु के दूत को आकस्मिक भाव से आते देख प्रजापति सामन्त राजाओं सहित प्रभु की तरह उसकी अभ्यर्थना करने के लिए उठकर खड़े हो गए। उन्होंने दूत को समादर सहित उचित आसन पर बैठाया और प्रभु के संवाद पूछे। विद्युत्-झलक से जैसे शास्त्र-पाठ बन्द हो जाता है उसी प्रकार नृत्य-गीत बन्द हो गया। वादक, नर्तकी और गायिकाएँ अपने-अपने आवास को लौट गईं। जब प्रभु का मन अन्यत्र है तब कलाप्रदर्शन का समय कहाँ ?

(श्लोक २७९-२८०)

त्रिपृष्ठ कुमार ने जब देखा कि उस दूत के आने से संगीत का कार्यक्रम बन्द हो गया तब उसने पास खड़े भृत्य से पूछा—‘यह असभ्य कौन है जिसे समय-असमय का भी ज्ञान नहीं है, जो कि बिना सूचना दिए राजसभा में प्रविष्ट हो गया ? मेरे पिता क्यों उसका स्वागत करने के लिए उठ खड़े हुए ? द्वार-रक्षकों ने उसे भीतर आने ही क्यों दिया ?’

(श्लोक २९१-२९३)

भृत्य ने प्रत्युत्तर दिया—‘यह राजाधिराज अश्वघ्रीव का दूत है। दक्षिण भारत के समस्त राजा उनके दास हैं। इसीलिए आपके पिता प्रभु के दूत का प्रभु की तरह स्वागत करने को उठ खड़े हुए थे। इसीलिए द्वारपालों ने भी उसे नहीं रोका। वे जानते हैं कि उनका क्या कर्त्तव्य है। मनुष्य तो दूर प्रभु के कुत्ते की भी अवहेलना नहीं की जाती। यदि दूत खुश होगा तो अश्वघ्रीव खुश होंगे। उनकी प्रसन्नता ही राज्य की प्रसन्नता है। अवहेलना से यदि इसे आहत

किया गया तो अश्वघ्रीव भी आहत होंगे । क्योंकि राजा लोग दूत के अभिमतानुसार ही चलते हैं । प्रभु यदि क्षुब्ध हो गए तो कृतान्त की तरह राज्य-रक्षा तो दूर बचना ही मुश्किल है ।

(श्लोक २९४-२९९)

त्रिपृष्ठ बोला—‘जन्म से कोई किसी का दास या प्रभु नहीं होता । यह तो बल पर निर्भर करता है । अभी तो मैं इसे कुछ भी नहीं कहूँगा । स्वयं का गुणगान और दूसरों के दोष का वर्णन आयों के लिए अवमानना है । जिसने मेरे पिता के साथ अवमानकर व्यवहार किया है उसे मैं भू-पतित कर यथा समय अश्वघ्रीव को छिन्नघ्रीव करूँगा । जब पिताजी उसे विदा करें तब मुझे बताना, मैं देख लूँगा उसे । जो कुछ करणीय है वह तभी करूँगा ।’ राजा प्रजापति के लिए यह अनिष्टकर होगा, जानकर भी वह भृत्य उससे सम्मत हुआ कारण सेवकों के लिए राजकुमार का आदेश भी राजा की ही तरह पालनीय है ।

(श्लोक ३००-३०४)

चण्डवेग ने अश्वघ्रीव का आदेश प्रजापति को इस प्रकार बताया मानो वे उनके सेवक हों । प्रजापति ने उनके समस्त आदेश स्वीकार कर लिए और दूत को उपयुक्त उपहार देकर विदा किया । वह भी सन्तुष्ट होकर अपने अनुचरों सहित स्वदेश लौट जाने को पोतनपुर से रवाना हुआ । यह संवाद मिलते ही त्रिपृष्ठ अचल सहित उसके सम्मुख जाकर पवन सह दावानल जैसे पथिकों के पथ को अवरुद्ध करता है उसी प्रकार उसकी राह रोक ली । त्रिपृष्ठ उससे कहने लगा—‘अविवेकी, शठ, पशु, सामान्य दूत होकर तुम राजा-सा व्यवहार करते हो ? जिसको सामान्य-सी भी बुद्धि होती है, यहाँ तक कि पशु भी जो बचने की इच्छा रखता है वह भी तुमने जिस प्रकार संगीतानुष्ठान को भंग किया, नहीं करता । स्वयं राजा भी यदि किसी के घर में प्रवेश करते हैं तो सूचना देकर ही प्रवेश करते हैं । आयों की यह नीति है । तुम बिना कोई सूचना दिए जैसे भूमि फाड़कर निकले हो इस, प्रकार सहसा दरबार में उपस्थित हो गए । मेरे पिताजी सरल है इसलिए उन्होंने तुम्हारे प्रभु की तरह तुम्हारा स्वागत किया । जिस शक्ति में अन्धे होकर तुमने असम्मान दिखाया, अब उसी शक्ति से साक्षात्कार करो । दुर्व्यवहार का फल भोगो—ऐसे कहकर जैसे ही त्रिपृष्ठ ने हाथ उठाया वैसे ही

अचल ने उसे रोकते हुए कहा—‘इस नरक के कीट को मारने से क्या लाभ होगा ? शृगाल के चिल्लाने पर भी सिंह कभी उसके चपेट में आकर आघात नहीं करता । दूत होने के कारण यह अवध्य है यद्यपि उसने काम अविवेकी-सा किया है । जो-सो कह देने पर भी जैसे ब्राह्मण अवध्य है वैसे ही दूत भी अवध्य है । अतः इसके दुर्व्यवहार करने पर भी तुम क्रोध को संवरण करो । तिल का पौधा हस्तियों के आघात के योग्य नहीं होता ।’ (श्लोक ३०५-३१७)

अचल के ऐसा कहने पर हस्ती जैसे अपनी सूँड़ नीची कर लेता है उसी प्रकार त्रिपृष्ठ ने भी उठाई हुई अपनी मुष्ठी को संवरण कर लिया और सैनिकों से कहा—यही वह दुष्ट है जिसने संगीता-नुष्ठान में विघ्न डाला था—मैं इसे प्राणों की शिखा देता हूँ; किन्तु इसके पास अन्य जो कुछ भी है सब छीन लो । (श्लोक ३१८-३२१)

राजकुमार के आदेश से सैनिकगण घर में घुसे कुत्ते पर घर के लोग जिस प्रकार टूट पड़ते हैं उसी प्रकार उस पर टूट पड़े और मुष्ट्याघात करते हुए उसे जमीन पर गिरा दिया । प्राणदण्ड से दण्डित व्यक्ति को जब वक्ष्य भूमि में ले जाया जाता है तब रक्षकगण उससे जैसे सबकुछ छीन लेते हैं उसी प्रकार उन्होंने उससे अलंकार-उपहारादि सब कुछ छीन लिए । स्वयं के जीवन को बचाने के लिए आघात से बचने के लिए वह जमीन पर इस प्रकार लौटने लगा जो हस्तियों के लिए आनन्द का कारण होता है । आहार छोड़कर भाग जाने वाले काक की तरह उसके अनुचर मार से बचने के लिए चारों ओर भाग गए । गधे की तरह उसको पीटकर, पक्षी के पंखों को तोचने की तरह उसे नोचकर और दुष्ट की तरह उसका दमन कर राजपुत्र घर लौट गए । (श्लोक ३२२-३२४)

राजा प्रजापति ने जब यह सब सुना तो तीर से विधे हुए की भाँति मन ही मन चिन्ता करने लगे । मेरे पुत्रों का यह व्यवहार उचित नहीं है । किससे कहूँ यह बात कि मैं तो अपने अश्व द्वारा ही भू-पतित हुआ हूँ । यह आक्रमण चण्डवेग पर नहीं अश्वग्रीव पर ही हुआ है क्योंकि ये दूत राजा के प्रतीक होते हैं । अतः अश्वग्रीव के पास जाने के पूर्व उस दूत को किसी प्रकार प्रसन्न करना होगा । कहीं भी आग लगे उसे तत्काल बुझा देना ही उचित है ।

(श्लोक ३२५-३२८)

ऐसा सोचकर राजा ने मंत्रियों द्वारा दूत को पुनः राज प्रासाद में बुलवाया और स्नेहयुक्त मधुर वचनों से प्रसन्न किया। करबद्ध होकर उसे विशेष सम्मान दिया मानो राजपुत्रों द्वारा किए गए अपमान के कलंक को धो डालने के लिए वे जल-प्रवाह उन्मुक्त कर रहे हों। हस्ती को प्रसन्न करने के लिए जैसे शैत्य-प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार उसके क्रोध की शान्ति के लिए उसे चीगुना बहुमूल्य उपहार दिया और बोले—‘नव यौवन के उन्माद में आप तो जानते ही हैं राजपुत्र साधारण जनता एवं सम्मान्य व्यक्तियों से दुर्व्यवहार कर बैठते हैं। प्रभु का मेरे प्रति विशेष अनुग्रह होने के कारण मेरे पुत्र वश नहीं मानने वाले वृषभ की तरह उच्छृंखल हो गए हैं। बन्धु, यद्यपि उन्होंने आपके साथ अत्यन्त दुर्व्यवहार किया है फिर भी आप उसे एक दुःस्वप्न की भाँति भूल जाएँ। हम दोनों के मध्य सहोदर की तरह जो असीम बन्धुत्व है वह क्या एक मुहूर्त में टूट जाएगा? आप तो मेरे मनोभावों को भली-भाँति जानते ही हैं। हे महामना, कुमारी द्वारा कृत दुर्व्यवहार की बात आप महाराज अश्वग्रीव को मत कहिएगा। प्रेम सम्बन्ध को अक्षुण्ण रखने का यही तो परीक्षाकाल है।’

(श्लोक ३२९-३३६)

इस प्रकार मधुर व्यवहार की अमृत वर्षा से चण्डवेग के क्रोध की अग्नि शान्त हुई। वह भी स्नेह-सिक्त कण्ठ से बोला—‘आपके साथ चिरकाल से स्नेह-सम्बन्ध हैं इसलिए मैं क्रुद्ध नहीं हूँ। हे राजन्, क्षमा के लिए अब क्या है? आपके पुत्र मेरे पुत्र जैसे ही हैं। पुत्रकृत अपराध को उसके पालक को ही कहा जाता है राज-दरबार में नहीं। साधारणों का यही नियम है। आपके पुत्रों के इस व्यवहार की बात मैं राजा को नहीं कहूँगा। हाथी के मुँह में जल डाला ही जाता है, बाहर नहीं निकाला जाता। राजन्, आप निश्चिन्त हो जाइए। अब मैं जा रहा हूँ, विदा कीजिए। मेरे मन में आपके प्रति कोई दुरभिसन्धि नहीं है।’

(श्लोक ३३७-३४१)

दूत की यह बात सुनकर राजा ने सगे भाई की तरह उसे आलिङ्गन में ले लिया और हाथ जोड़कर विदा किया।

(श्लोक ३४२)

कुछ दिनों में ही दूत अश्वग्रीव के सम्मुख उपस्थित हुआ; किन्तु उस पर आक्रमण की बात कंचुकी की तरह पहले ही पहुँच

गई। आक्रमण के समय चण्डवेग के अनुचर डरकर भाग गए थे। उन्होंने ही त्रिपृष्ठ सम्बन्धी सारी कथा राजा को बता दी थी। उन्नत मस्तक, रक्त चक्षु राजा को वैवस्वत की तरह पृथ्वी को ग्रास करने को उद्यत देख वह समझ गया कि मुझ पर जो आक्रमण हुआ वह बात राजा तक पहुंच गई है। कारण, अनुचर लक्षणविद् होते हैं। राजा द्वारा पूछने पर उसने सारी बातें कह सुनाईं। कारण, प्रतापी प्रभु से झूठ नहीं कहा जा सकता; किन्तु अपनी प्रतिज्ञा को स्मरण कर वह बोला—‘महाराज, राजा प्रजापति मेरी तरह ही आपके अनुगत हैं। राजकुमारों ने जो कुछ किया वह ध्यान देने योग्य नहीं है। वह तो बाल-सुलभ चपलता थी। तदुपरान्त कुमारों के व्यवहार पर वे बहुत क्रुद्ध हुए थे। शक्ति में जिस प्रकार आप अग्रगण्य हैं उसी प्रकार आपकी भक्ति में राजा प्रजापति अग्रगण्य हैं। राजकुमारों के अपराध के लिए वे स्वयं दोषी हैं यह बात उन्होंने बार-बार कही है। उन्होंने आपकी आज्ञा शिरोधार्य की है और ये उपहार दिए हैं।’ ऐसा कहकर दूत चुप हो गया; किन्तु अश्वग्रीव दूसरी बात सोच रहे थे। नैमित्तिकों की भविष्यवाणी की एक बात तो सच निकली। सिंह-हत्या वाली द्वितीय बात यदि सच हो जाए तो भय का कारण होगा। (श्लोक ३४३-३४३)

ऐसा सोचकर उन्होंने अन्य दूत द्वारा प्रजापति को निर्देश दिया कि सिंह से शण्यक्षेत्र की रक्षा करो। (श्लोक ३४४)

यह आदेश प्राप्त होते ही राजा ने कुमारों को बुलवाया। बोले—‘तुम्हारे दुर्व्यवहार के कारण सिंह से शण्यक्षेत्र की रक्षा का अभावित आदेश मिला है। यदि आदेश पालन नहीं करता हूं तो अश्वग्रीव यम-सा व्यवहार करेगा और यदि पालन करता हूं तो सिंह वहां यम रूप में अवस्थित है। जो भी हो अब तो अनचाहो मृत्यु हमारे सम्मुख है। सिंह से शण्य क्षेत्र की रक्षा के लिए अब मैं रवाना होऊंगा।’ राजपुत्र बोले—‘अश्वग्रीव का पराक्रम तो इससे ही जाना जाता है कि वह एक पशु सिंह से भयभीत है। पिताजी, आप यहीं रहें, हम अभी रवाना होते हैं उस सिंह को निहत्त करने के लिए। हे नरसिंह, इसके लिए आप वहां क्यों जाएंगे?’

(श्लोक ३४५-३४९)

चिन्तित प्रजापति बोले—‘पुत्र, तुम लोग अभी बालक हो।

क्या करणीय है यह तुम नहीं जानते । एक अकृत्य तो तुम लोगों ने राज्य में दुष्ट हस्ती-सा व्यवहार किया है । अब उसी का फल सामने आ गया है । दूर विदेश में जाकर न जाने तुम लोग क्या कर बैठो और उसका परिणाम क्या हो, कौन जाने ? (श्लोक ३६०-३६२)

त्रिपृष्ठ बोला—‘पिताजी, अश्वग्रीव मूर्ख है इसीलिए हमें सिंह का भय दिखा रहा है । आप प्रसन्नतापूर्वक यहां रहें । हम लोग अश्वग्रीव के इच्छानुयायी सिंह की हत्या कर शीघ्र लौट आएंगे ।’ (श्लोक ३६३-३६४)

अन्ततः राजा को सम्मत कर वे चुनिंदा अनुचरों को लेकर सिंह वाले क्षेत्र में गए । वहां जाकर पहाड़ की तलहटी में सिंह के पराक्रम की परिचयक बहुत से सैनिकों की अस्थियां देखीं । कृषक जो कि पेड़ों की ऊपरी डालियों के मध्य बैठे थे उनसे उन्होंने पूछा—‘रक्षा के लिए आगत राजागण यहां किस प्रकार खेतों की रक्षा करते हैं ?’ कृषकों ने उत्तर दिया—‘वे अपने हस्तियों, अश्वों, रथों और पदातिक-वाहिनियों से जल में बांध की तरह या हस्ति के लिए परिखा की तरह व्यूह-रचना कर सिंह को घेरकर गुफा में रखते । प्राणों की आशंका से वे स्वयं व्यूह के पीछे रहते । फलतः सिंह द्वारा सैनिक ही निहित होते ।’ उनका यह प्रत्युत्तर सुनकर बलराम, अचल और वासुदेव त्रिपृष्ठ हँसने लगे और अपनी सेना को वहीं रखकर सिंह की गुफा की ओर चले । चारणों के गीत से जैसे राजा जागृत होते हैं उसी प्रकार उनके वज्र-से रथ के निर्घोष से सिंह जागृत हो गया । उसने सामान्य रूप से अपने नेत्र खोले जो कि यम की मशाल की तरह प्रतीत हो रहे थे । उसने अपने घुंघराले केशर को हिलाया जो कि यम के चँवर से लग रहे थे । उसने गर्दन उठाकर मुँह बाया जो कि नरक-द्वार-सा प्रतीत हो रहा था । फिर गर्दन संकुचित कर देखने लगा । रथ और मात्र दो मनुष्यों को देख कर उनकी उपेक्षा कर अवज्ञापूर्वक पुनः सोने की चेष्टा करने लगा । (श्लोक ३६५-३७९)

अचलकुमार बोले—‘सम्पूर्ण सैन्यवाहिनी लेकर शय्यक्षेत्र की रक्षा कर और सैनिकों का भोग देकर राजाओं ने सिंह को दाम्भिक बना दिया है ।’ (श्लोक ३७६)

यह सुनकर नरसिंह त्रिपृष्ठ आगे जाकर मल्ल जैसे मल्ल को

द्वन्द्व-युद्ध के लिए आह्वान करता है उसी प्रकार उसने श्रेष्ठ सिंह को युद्ध के लिए ललकारा। वासुदेव का मन्द्र स्वर सिंह ने कान खड़े कर सुना, आश्चर्यचकित हुआ और सोचने लगा—यह निश्चय ही साहसी वीर है। तब सिंह गुफा से बाहर निकला। उसके कान मालभूमि में प्रोथित स्तम्भ की भांति, नेत्र भयंकर लाल मशाल जैसे, मुख हड़, लटके और दाँत अस्त्रागार की तरह थे। उसकी जीभ पाताल से निकल आए तक्षक नाग सी, मुख के अद्धभाग के दाँत यम मन्दिर की पताकाओं से, केशर भीतरी क्रोधाग्नि-सी, नाखून देह से प्राण निकालने के अंकुश की तरह थे। उसकी पूँछ क्षुधातं सर्प-सी, बाया हुआ मुँह गर्जन के लिए भयंकर था मानो निष्ठुरता का भूर्त्त प्रतीक हो ऐसा प्रतिभासित हो रहा था। फिर उसने अपनी लम्बी पूँछ से इन्द्र जिस प्रकार पर्वत पर वज्राघात करते हैं उसी प्रकार जमीन पर फटकार मारी। पूँछ के उस 'फटकार' शब्द से जल-जन्तु जैसे भेरी घोष सुनकर जल की गहराई में चले जाते हैं वैसे ही निकटस्थ प्राणी भय से दूर भाग गए।

(श्लोक ३७७-३८५)

यह अवसर मुझे दीजिए, मेरे रहते आप क्यों युद्ध करेंगे कहते हुए त्रिपृष्ठकुमार अचलकुमार को निरस्त कर रथ से उतर पड़े और बोले—'पदातिक के साथ मैं रथ में बैठकर युद्ध करूँ यह सामरिक नियमों के अनुकूल नहीं है। फिर निरस्त्र के साथ मैं शस्त्र युद्ध करूँ यह भी उचित नहीं है।' ऐसा कहकर अस्त्र दूर फेंककर पुरन्दर से भी बलशाली त्रिपृष्ठ सिंह का आह्वान कर बोले—'वनराज, मेरे पास आ। मैं तेरे युद्ध की पिपासा मिटाता हूँ।' यह सुनकर क्रोधान्वित होकर सिंह ने भी मानो प्रत्युत्तर में प्रति-ध्वनि कर उसी की पुनरावृत्ति की। सिंह ने भी सोचा—यह छोकरा अबिवेकी की तरह काम कर रहा है। साथ में सेना लाया नहीं, रथ से उतर गया है और अस्त्र-शस्त्र दूर फेंक दिए हैं। ऊपर से मुझे युद्ध के लिए ललकार रहा है तो मण्डूक की तरह सर्प के सम्मुख आस्फालन करने वाला यह अपने दुस्साहस का फल भोगे।

(श्लोक ३८६-३९३)

ऐसा सोचकर सिंह अपनी पूँछ खड़ी कर आकाशगामी विद्याधर के रथ से पतित सिंह की तरह त्रिपृष्ठकुमार पर जा

गिरा। जैसे ही वह उस पर पड़ा वैसे ही वासुदेव ने उसके दोनों जबड़ों को दोनों हाथों से इस प्रकार पकड़ लिया जैसे सँडासी से साँप के जवड़े को पकड़ा जाता है। तदुपरान्त एक जबड़ा एक ओर और दूसरा जबड़ा दूसरी ओर खींचकर फटे कपड़े की तरह 'फड़फड़' शब्द करता हुआ चीर डाला। जन-साधारण ने चारण और भाटों की तरह 'जय-जय' ध्वनि से दिङ्मण्डल को गुञ्जित कर डाला। देव विद्याधर असुरों ने जो कि उत्सुकतावश आकाश में एकत्र हुए थे आकाश से उसी प्रकार पुष्प-वर्षा की जिस प्रकार मलयपर्वत से वायु प्रवाहित होती है। दो भाग की हुई सिंह की देह जिसे जमीन पर फेंक दिया गया था क्रोध से तब भी काँप रही थी मानो उसमें तब भी चेतना थी। (श्लोक ३९४-३९७)

दो भागों में विभाजित हो जाने पर भी सिंह मानो इस अपमानकर स्थिति से कांपते हुए सोच रहा था—शस्त्र और कवच-धारी और सैन्य परिवृत्त राजाओं द्वारा वज्रपात-सा उत्पतित मैं निहत नहीं हुआ—हाय, इस कोमल-हस्त निरस्त्र बालक द्वारा मैं निहित हुआ इसी का मुझे खेद है, मृत्यु का नहीं। सर्प की तरह लोट-पोट होते सिंह के इस मनोभाव को जानकर वासुदेव के सारथी उसे सान्त्वना भरी वाणी में बोले—'मदोन्मत्त शत-शत हस्तियों को विदीर्णकारी और सहस्र-सहस्र सैन्य-वाहिनियों को परास्त करने वाले हे वनराज, तुम शोक मत करो। बालक होने पर भी ये महा-वीर भरतक्षेत्र के त्रिपृष्ठ नामक प्रथम वासुदेव हैं। तुम पशुओं में सिंह हो, ये मनुष्यों में सिंह हैं। इनके द्वारा मृत्यु प्राप्त होने पर लज्जा कैसी? बल्कि उनके साथ युद्ध किया यह तुम्हारे लिए गौरव की बात है।' (श्लोक ४००-४०६)

अमृत-वर्षा-से सारथी के वाक्यों से सान्त्वना प्राप्त कर सिंह मृत्यु को प्राप्त हुआ और अपने कर्मों के कारण नरक में जाकर उत्पन्न हुआ। (श्लोक ४०७)

अश्वग्रीव का आदेश अवगत कर कुमार ने विद्याधरों को सिंह-चर्म सौंपते हुए कहा—'यह सिंह-चर्म भयभीत घोटक कण्ठ को सिंह की मृत्यु की सूचना रूप देना और उस भोजन-विलासी से कहना—चिन्ता का कोई कारण नहीं है, अब वह जी भरकर शालिधान खा सकेगा।' (श्लोक ४०८-४१०)

विद्याधरों के सम्मत होने पर अचल और त्रिपृष्ठ कुमार अपने नगर को लौट गए। दोनों भाइयों ने वहाँ जाकर पिता के चरणों में प्रणाम किया। बलभद्र ने समस्त कथा पिता को सुनाई। राजा को लगा जैसे उनके पुत्र का पुनर्जन्म हुआ है। साथ ही उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की इससे हर्ष भी हुआ। विद्याधरों ने जब अश्वमेध को सारी बात बताई तो उस पर मानो वज्रपात-सा हो गया।

(श्लोक ४११-४१४)

वैताढ्य पर्वत की दक्षिण श्रेणी के अलंकार तुल्य रथनुपुर चक्रवाल नामक एक नगर था। वहाँ ज्वलनजटी नामक एक विद्याधर राजा राज्य करते थे। उनका प्रताप था उज्ज्वल अग्नि-जिखा की तरह अतुलनीय। उनकी प्रधान महिषी का नाम था वायुवेगा। वह प्रीति की निलय थी और हँस की तरह मन्थरगामिनी। राजा को इस रानी से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। स्वप्न में मृत्यु देखने के कारण पुत्र का नाम रखा गया अर्ककीर्ति। यथा समय उनके एक कन्या हुई। स्वप्न में माता ने स्वप्नभा से आकाश आवृत करने वाली चन्द्रकला देखी। अतः कन्या का नाम रखा स्वयंप्रभा। वयः प्राप्त होने पर राजा ने हिम पर्वत की तरह दीर्घबाहु और गंगा की तरह ख्यातिसम्पन्न अर्ककीर्ति को युवराज पद पर अभिषिक्त किया।

(श्लोक ४१५-४२०)

उपवन में बसन्त के आविर्भाव की तरह स्वयंप्रभा भी काल-क्रम से यौवन को प्राप्त हुई। अपने चन्द्रानन के कारण वह पूर्णचंद्र-सी लगने लगी और कृष्णकेश संभार के कारण मूर्तिमती अमावस्या। उसके आकर्षण विस्तृत नेत्र उसके कर्णाभरण से लगते थे और कर्ण उसके विस्तृत नयन रूपी सरिता के दो तट। उसके आरक्त करतल चरण और ओष्ठों से वह पुष्पभार समन्विता लता-सी लगती थी। उसके पीन पयोधर श्री के क्रीड़ा शैल की तरह सुन्दर दीखते थे। उसकी नाभि सौन्दर्य रूपी सरिता के आवर्त्त की तरह और उसके गुरु नितम्ब अन्तर्द्वीप से थे। देव, असुर और विद्याधर अंगनाओं में उसके समतुल्य कोई नहीं थी। वह देह-सौन्दर्य का मानो आगार थी।

(श्लोक ४२१-४२९)

एक दिन अभिनन्दन और जगनन्दन नामक दो मुनि आकाश से उस नगर में आए। परिपूर्ण वैभव से मानो श्री देवी ने रूप

धारण कर लिया हो ऐसी स्वयंप्रभा उन मुनियों को वन्दन करने गई। कानों के लिए अमृत तुल्य उनका उपदेश सुनकर कपड़े में लगे नीले रंग की तरह उसने हृदभाव से सम्यक्त्व धारण किया। उनके समक्ष उसने श्रावक धर्म अंगीकार किया। ज्ञान से पवित्र हृदय व्यक्ति कभी प्रमाद नहीं करता। मुनि द्वय विहार कर अन्यत्र चले गए।

(श्लोक ४२७-४३१)

एक दिन उसके चतुर्दशी का उपवास था। दूसरे दिन पारणे के लिए अर्हत् भगवान की पूजा कर स्नात जल पिता के पास ले गई। विद्याधर राजा ने स्नेहवश उस स्नातजल को सिर पर लगाया और स्वयंप्रभा को गोद में बैठाया। उसे वयः प्राप्त हुई देखकर ऋणग्रस्त व्यक्ति की तरह उसके लिए उपयुक्त पात्र की चिन्ता करने लगे। उसे सम्बद्धित कर विदा करने के बाद उन्होंने सुश्रुतादि मन्त्रियों को बुलवाया और उसके लिए उपयुक्त वर सन्धान करने को कहा।

(श्लोक ४३२-४३५)

यह सुनकर सुश्रुत बोले—‘रत्नपुर नगर में मयूरग्रीव और नीलांजना के पुत्र अश्वग्रीव नामक एक राजा ने विद्यावल से भरत क्षेत्र के तीन खण्ड पर अधिकार कर लिया है। वह विद्याधरों के इन्द्र की तरह राज्य करता है। वही उसके उपयुक्त वर है।’

(श्लोक ४३६-४३७)

मन्त्री बहुश्रुत बोले—‘अश्वग्रीव तो स्वयंप्रभा के लिए बिल्कुल उपयुक्त नहीं है। कारण उसका यौवन बीत गया है। वैताड्य पर्वत की उत्तरी श्रेणी पर बहुत से दीर्घबाहु रूपवान युवा विद्याधर रहते हैं। राजन्, यदि आप योग्य सम्बन्ध चाहते हैं तो विवेचना कर उनमें से किसी के साथ राजकन्या का विवाह कर दें।’

(श्लोक ४३८-४४०)

तब सुमति बोला—‘राजन्, मन्त्रिवर ठीक कहते हैं। इस पर्वत की उत्तर श्रेणी के कण्ठहार की प्रथम मणि की तरह प्रभङ्गुरा नामक एक विचित्र नगरी है। वहां प्रभात के मेघ की तरह फल-दानकारी मधवा की तरह शक्ति सम्पन्न मधवन नामक एक राजा है। उसकी पत्नी का नाम मेघमालिनी है। वह चारित्ररूपी यूथी-माल्य की तरह सौरभ-सम्पन्न है। उसके विद्युत्प्रभ नामक एक पुत्र है जो कि शीघ्र में समस्त राजाओं में अग्रणी और रूप में कन्दर्प

की तरह है। उनके ज्योतिर्माला नामक एक देवोपम कन्या है जो कि सौन्दर्य और कमनीयता की मानो निधान है। मेघ के साथ विद्युत् की तरह जो आकाश को आलोकित करे ऐसी राजकन्या स्वयंप्रभा राजपुत्र विद्वत्प्रभ के लिए उपयुक्त है और ज्योतिर्माला युवराज अर्ककीर्ति के उपयुक्त है। दोनों राजकन्याओं के आदान-प्रदान का विवाहोत्सव अनुष्ठित होना चाहिए।' (श्लोक ४४१-४४८)

तब श्रुतसागर बोले—'आपकी यह कन्या रत्नतुल्य है। श्री की तरह इस रत्न को कौन प्राप्त करना नहीं चाहेगा? अतः विद्याधर राजकुमारों के साथ कोई पक्षपात न कर एक स्वयंवर का आयोजन करना उचित है। ऐसा नहीं होने पर यदि यह कन्या आप किसी को देना चाहेंगे तो विरोध हो सकता है। वैसा क्यों करें?' (श्लोक ४४९-४५१)

इस प्रकार सभी मन्त्रियों की बात सुनकर उनको विदा कर राजा ने सम्भ्रमस्रोत नामक एक नैमित्तिक को बुलवाया और कहा—'मैं अपनी कन्या अश्वघ्रीव को दूँ या किसी किसी विद्याधर कुमार को या इसके लिए स्वयंवर का आयोजन करूँ?' नैमित्तिक बोला—'मैंने मुनियों से सुना है कि भरत द्वारा पूछे जाने पर तीर्थंकर ऋषभदेव ने कहा था—इस भरत क्षेत्र में अवर्षापिणी काल में मेरी तरह तेइस और तीर्थंकर होंगे और तुम्हारी तरह और ग्यारह चक्रवर्ती होंगे। अर्द्ध भरत क्षेत्र के अधिपति नौ बलदेव और नौ वासुदेव एवं नौ प्रतिवासुदेव होंगे। इनमें त्रिपृष्ठ अश्वघ्रीव की हत्या कर विद्याधर नगरी सहित त्रिखण्ड भरत क्षेत्र पर आधिपत्य विस्तार करेगा, वही आपको विद्याधरों का इन्द्रत्व देगे। अतः राजकन्या उन्हीं को दें। उनके जैसा बलशाली अभी पृथ्वी पर और कोई नहीं है।' (श्लोक ४५२-४५८)

आनन्दित होकर राजा ने नैमित्तिक को धनदान से पुरस्कृत कर विदा किया और राजा प्रजापति के पास मरीचि नामक दूत को भेजा। दूत प्रजापति के पास गया और उन्हें नमस्कार कर स्व-परिचय देकर विनीत भाव से बोला—'विद्याधरराज, ज्वलनजटी के स्वयंप्रभा नामक एक अपूर्व सुन्दरी कन्या है। विशेष रुचि सम्पन्न कवि की तरह बहुत दिनों से वे कन्या के लिए उपयुक्त पात्र की चिन्ता में निमग्न थे। मन्त्रियों द्वारा निर्देशित होने पर उन्होंने

उनके बताए किसी भी पात्र को उपयुक्त नहीं समझा। तब उन्होंने नैमित्तिक को बुलवाया और उपयुक्त पात्र के विषय में पूछा। नैमित्तिक सम्भिन्नस्रोत ने उनसे कहा—राजा प्रजापति के पुत्र त्रिपृष्ठ आपकी कन्या के उपयुक्त वर हैं। वे प्रथम वासुदेव और भरतवर्ष के अर्द्धखण्ड के अधीश्वर होंगे व आपको विद्याधरों की उभय श्रेणी के ऊपर अधिपत्य देंगे। नैमित्तिक की बात से आनंदित होकर उन्होंने मुझे यहां भेजा है। देव, क्षिपृष्ठ के लिए आप उसे ग्रहण करें।’

(श्लोक ४५९-४६६)

बुद्धिमानों में अग्रगण्य राजा प्रजापति ने सहर्ष यह स्वीकार कर लिया और उपयुक्त उपहार देकर उसे विदा किया।

(श्लोक ४६७)

अश्वघ्नीव के भय से ज्वलनजटी कन्या के विवाह के लिए प्रजापति के नगर में आ गए। अपने विद्याधर सामन्त, मन्त्री, सैन्य और यान सहित वे बेला भूमि पर समुद्र-से नगर प्रान्त पर अवस्थित हो गए। मन्त्री और परिषद सहित प्रजापति उनसे मिलने आए। कारण, अतिथि सर्वमान्य होते हैं। मैत्री भावापन्न दोनों राजा सह दोनों सैन्यदलों का मिलन गङ्गा-यमुना के मिलन की तरह लग रहा था। समान मर्यादा सम्पन्न होने से हाथी पर चढ़कर सामानिक देवों की तरह दोनों ने एक दूसरे का आलिंगन किया। चन्द्र-सूर्य की तरह दोनों राजाओं के मिलन से वह दिन प्रतिपदा-सा लगने लगा। समुद्र ने जिस प्रकार मैनाक को स्थान दिया था उसी प्रकार राजा प्रजापति ने विद्याधरराज को स्थान दिया। वहां विद्याधरों ने विद्या के प्रभाव से विविध प्रासाद सहित जैसे मानो द्वितीय पोतनपुर हो ऐसी नगरी निर्मित की। ज्वलनजटी ने उस नगरी के प्रमुख प्रासाद में निवास किया। उस प्रासाद में मेरु के जैसे सूर्य है वैसे ही दिव्य केतन था। सामन्त, मन्त्री, सेनापति आदि जैसे देव-विमानों में निवास करते हैं उसी प्रकार योग्य प्रासादों में रहने लगे।

(श्लोक ४६८-४७७)

विद्याधरराज से विदा लेकर राजा प्रजापति समुद्र जैसे बेला भूमि से लौट जाता है वैसे ही अपने आवास को लौट गए। तदुपरान्त प्रजापति ने विद्याधरराज को खाद्य गन्ध द्रव्य एवं अलङ्कारादि उपहार भेजे। विवाह के लिए दोनों ने रत्नमय सुन्दर

सभागार का निर्माण करवाया । वह सभागृह देखने में चमर और बलि के सभागृह-सा सुन्दर बना था । अभिजात वंश की वृद्धा महिलाओं द्वारा निर्देशित होकर दोनों के ही गृहों में मांगलिक गीत होने लगे । (श्लोक ४७८-४८१)

सुरभित चन्दन चर्चित देह लिए त्रिपृष्ठकुमार मानो इन्द्रनील मणि की प्रतिमा हो इस प्रकार हस्तीपृष्ठ पर आरोहित हुए । अनुचर रूप में राजन्य मित्रों द्वारा परिवृत्त होकर वे स्वगृह से ज्वलन-जटी के घर की ओर चले । गृहद्वार पर लटकती पुष्प-मालाओं के नीचे सूर्य जैसे पूर्व दिशा में अवस्थित होता है वैसे ही वे प्रदत्त वस्तु ग्रहण के लिए अवस्थित हो गए । अभिजात वर्गीय महिलाओं द्वारा मंगल-गीत गाए जाने पर त्रिपृष्ठकुमार अग्निपात्र भंग कर अनुचरों सहित मातृगृह में गए । वहाँ उन्होंने ननों को आनन्द देने वाली श्वेत वस्त्र परिहित मूर्तिमती शशिकला-सी स्वयंप्रभा को पहली बार देखा । तत्पश्चात् वे दिव्य आसन पर चित्रा और चन्द्र की तरह बैठ गए । शुभ मुहूर्त उपस्थित होने पर शङ्ख ध्वनि के साथ पुरोहित ने उन दोनों के पद्महस्त चक्रवाल की तरह मिला दिए । तदुपरान्त दोनों का दृष्टि-विनिमय हुआ मानो सद्य उद्गत प्रेम को दोनों ने अभिसिंचित किया । स्वयंप्रभा और त्रिपृष्ठ लता और वृक्ष की तरह एक साथ होमगृह को गए । पिप्पलादि काष्ठ प्रज्ज्वलित कर ब्राह्मणों ने होमद्रव्य निक्षेप किए । अग्निशिखा प्रज्वलित होने पर उन्होंने उस पवित्र अग्नि की ब्राह्मणों द्वारा उच्चारित वेद मन्त्रों के साथ परिक्रमा दी । (श्लोक ४८२-४९२)

इस प्रकार स्वयंप्रभा से विवाह कर त्रिपृष्ठकुमार वधू सहित हस्ति पृष्ठ पर आरोहण कर स्वगृह को लौट आए । वाद्य-भाण्डों के उच्च शब्द और उसकी प्रतिध्वनि से सूर्याश्वों के भी कान खड़े हो गए । (श्लोक ४९३-४९४)

गुप्तचरों द्वारा अश्वग्रीव को यह घटना ज्ञात हुई । सिंह की हत्या से वह क्रुद्ध तो था ही, इस घटना से वह और भी क्रुद्ध हो उठा । उसने मन ही मन सोचा—मेरे वत्तमान रहते ज्वलनजटी ने स्त्री-रत्न को अन्य हाथों में क्यों सौंप दिया ? यह सत्य है कि सभी रत्न समुद्र के ही होते हैं । उस रत्न पर अधिकार जताकर दाता और ग्रहीता दोनों के पास दूत भेजूँगा । कारण, राज्य सम्बन्धी विषयों

में पहले दूत ही जाता है। ऐसा सोचकर उसने चुपचाप दो दूत पोतनपुर भेजे। वायु की भांति तीव्रगति से चलकर दूत ज्वलनजटी के घर में प्रवेश कर बोला—‘मैं भरतक्षेत्र के दक्षिणाद के अधीश्वर अर्द्धपृथ्वी के इन्द्र अश्वग्रीव का आदेश आपको सुनाता हूँ—आपके घर में स्वयंप्रभा नामक एक रत्न है उसे मेरा कहलू महाराज को समर्पित कीजिए। भरतक्षेत्र का रत्न और किसी के लिए प्राप्य नहीं है। अश्वग्रीव आप और आपके वंश के अधीश्वर हैं। अतः आप की कन्या उन्हें दान करें। नेत्रों के बिना मस्तक की शोभा नहीं हो सकती। अश्वग्रीव जो कि क्रुद्ध हो गए हैं उन्हें और क्रुद्ध कर नली द्वारा अनवरत फूँक मारकर गलते स्वर्ण को विनष्ट न करें।’

(श्लोक ४९५-५०३)

ज्वलनजटी ने उत्तर दिया—‘कन्या का विवाह मैंने त्रिपृष्ठ कुमार के साथ कर दिया है और वह उसी समय विधि अनुयायी उनके द्वारा स्वीकृत हो चुकी है। दूसरे की प्रदत्त वस्तु पर विशेषकर उच्च कुल जात कन्या पर दाता का कोई अधिकार नहीं रहता। वे इस पर सोचें।’

(श्लोक ५०४-५०५)

ज्वलनजटी द्वारा यह सुनकर दूत मन्द अभिप्राय लिए त्रिपृष्ठ कुमार के पास गया। कारण, वह उनके प्रभु का प्रतीक बनकर आया था। वह त्रिपृष्ठकुमार से बोला :

‘भरताद के अधिपति मर्त्य के इन्द्र अश्वग्रीव ने आपको यह आदेश दिया है कि जिस प्रकार पथिक अज्ञानतावश राजोद्यान से फल आहरण करता है उसी प्रकार यह कन्या जो कि उनके उपयुक्त थी आपने उसे अज्ञानतावश ग्रहण कर ली है। वे आप और आपके आत्मीयों के अधिपति हैं। दीर्घ दिनों से आप उनके द्वारा रक्षित हैं। अतः आप इस कन्या का परित्याग करें। भृत्य के लिए तो प्रभु का आदेश ही बलवान् है।

(श्लोक ५०६-५०९)

यह सुनकर त्रिपृष्ठ का ललाट भ्रू-कुञ्चन के कारण भयंकर हो उठा—कपोल और चक्षु रक्तवर्णा हो गए। वे बोले—‘तुम्हारे प्रभु तो इस प्रकार आदेश देते हैं जैसे वे पृथ्वी के अधीश्वर हैं। धिक्कार है उनकी कुल-मर्यादा को। मुझे लगता है इस प्रकार उन्होंने अपने राज्य की उच्च कुल जात कुमारियों को विनष्ट किया है। मार्जार के सम्मुख क्या दूध बचता है; किन्तु मैं पूछता हूँ मुझ पर उनका

अधिकार कैसे है ? अब तो अन्यत्र भी उनका आधिपत्य क्षणस्थायी होगा । यदि उनके जीवन की इच्छा और दान्य-भक्षण पूरा हो गया है तो वे स्वयं आएँ और स्वयंप्रभा को ले जाएँ । तुम दूत हो, तुम्हारी हत्या नहीं करूँगा । जाओ, यह स्थान तुरन्त परित्याग करो । यदि वे आएँगे तो मैं निश्चय ही उनकी हत्या करूँगा ।’

(श्लोक ५१०-५१५)

वासुदेव से यह सुनकर अंकुशाहत की तरह द्रुतगति से वह दूत स्वदेश लौट गया और अश्वघ्रीव को समस्त कथा कह सुनाई । यह सुनते ही अश्वघ्रीव के नेत्र लाल हो उठे । केश श्मश्रू कुञ्चित हो गए । भ्रू-कुञ्चन से उनका ललाट भयंकर लगने लगा । देह कांपने लगी । वे दाँतों से ओष्ठ काटते हुए बोले — ‘ज्वलनजटी को मतिभ्रम हो गया है । मेरे सम्मुख वह है सामान्य कीट, जैसे सूर्य के सम्मुख खद्योत होता है । यह क्या आभिजात्य है जो उसने मेरी अवहेलना कर अपनी कन्या को उसे दान की जो अपनी ही कन्या से उत्पन्न किया हुआ पुत्र है । ज्वलनजटी मूर्ख है, वह मृत्यु की कामना कर रहा है । दूसरा मूर्ख है प्रजापति और तीसरा मूर्ख है अपनी बहन के गर्भ से उत्पन्न हुआ । उसका पुत्र त्रिपृष्ठ । उसका भाई जो कि उसके पिता का पुत्र व साला है चतुर्थ मूर्ख है । क्या यह निर्लज्जता नहीं है कि शृगाल-सा वह सिंह से युद्ध करना चाहता है ? जाओ, हवा जिस प्रकार मेघ को उड़ा देती है, बाध जिस प्रकार हरिण मूथ को छिन्न-भिन्न करता है, सिंह जैसे हस्तियों को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है उसी प्रकार उसे विनष्ट कर दो ।’

(श्लोक ५१६-५२३)

जल देखकर प्यासा व्यक्ति जैसे आनन्दित हो जाता है उसी प्रकार विद्याधरगण जिनके हाथ खुजला रहे थे प्रभु के आदेश से आनन्दित हुए । बाहुबली वे भुजाएँ ठोककर आकाश को विदीर्ण कर डाले ऐसे शब्दों से युद्ध की प्रतिज्ञा करते हुए बोले — ‘आशा करता हूँ युद्धक्षेत्र में क्या शत्रु, क्या मित्र कोई मेरे सामने नहीं टिक सकेगा ।’ ऐसा कहकर वे एक दूसरे को अतिक्रम कर जाने लगे । कोई अश्व को कशाघात करने लगा, कोई अंकुश द्वारा हाथियों को आहत । कोई बलदों को पैर मारकर चलाने लगा, कोई ऊँट पर यष्टि से प्रहार करने लगा । कोई तलवार नचाने लगा, कोई ढाल,

कोई प्रत्यंचा पर तीर रखकर प्रत्यंचा को शब्दित करने लगा । कोई मुद्गर घुमाने लगा, कोई गदा, कोई त्रिशूल । इस प्रकार अश्वघ्रीव की सेना लौहयष्टि लेकर आक्रमण के लिए अति आग्रहपूर्वक कोई आकाश-पथ से कोई भू-पथ से पोतनपुर पहुंच गई ।

(श्लोक ५२४-५३०)

दुरागत कोलाहल सुनकर विमूढ़ प्रजापति ने पूछा—‘यह कैसा शब्द है ? प्रत्युत्तर में ज्वलनजटी ने कहा— ‘निश्चय ही अश्वघ्रीव प्रेरित सैन्यदल है । आएँ वे । मैं युद्ध के लिए उद्ग्रीव हूँ । मेरे पहले अचल और त्रिपृष्ठ युद्ध न करें ।’ उसने सैन्य सजाकर युद्ध के लिए यात्रा की । क्रुद्ध अश्वघ्रीव की सेना ने उस पर चारों ओर से आक्रमण किया । कारण, मित्र जब शत्रु बन जाते हैं तो उन पर अधिक क्रोध होता है । नियम को जैसे अपवाद द्वारा सहज किया जाता है उसी प्रकार ज्वलनजटी ने उनके अस्त्रों को अस्त्र द्वारा निर्विचार से हल्का कर डाला । हस्तियों पर जैसे अप्रत्याशित मेघ ओलों की वृष्टि द्वारा आक्रमण करता है वैसे ही उन्होंने उन्हें तीक्ष्ण वाण-वृष्टि द्वारा आक्रमण कर डाला । सपेरा जैसे सांप को दमित करता है वैसे ही ज्वलनजटी ने विद्या और अस्त्र बल से उनके दीर्घ-कालीन गर्व को चूर कर डाला ।

(श्लोक ५३१-५३७)

ज्वलनजटी ने उनसे कहा—‘दुर्वृत्त तुम लोग शीघ्र इस स्थान का परित्याग करो । ओ नगण्य कीट, प्रभुहीन तुम्हारी कौन हत्या करेगा ? तुम्हारे प्रभु अश्वघ्रीव को लेकर रथावर्त पर्वत पर आओ, वहीं फिर मिलेंगे ।’ इस प्रकार घृण्यभाव से सम्बोधित होकर अश्वघ्रीव की सेना त्रस्त बनी प्राण रक्षा के लिए काक की तरह अदृश्य हो गई । लज्जा से खिन्न मुख मानो दीपक की कालिमा उनके मुख में मसल दी हो इस प्रकार उन्होंने जाकर सारी बात अश्वघ्रीव से निवेदित कर दी । जैसे हवि निक्षेप से अग्नि प्रज्वलित हो उठती है उसी प्रकार महाबल सम्पन्न अश्वघ्रीव प्रज्वलित हो उठा । क्रोध से आयत और रक्तवर्ण नेत्रों से जैसे राक्षस की तरह भयानक बने अश्वघ्रीव ने अपने सामन्त, मन्त्री, सेनापति को आदेश दिया तुम सब अपनी समस्त सैन्यवाहिनी लेकर अग्रसर हो, धूम्र जैसे मशक को नष्ट कर देता है मैं भी उसी प्रकार प्रजापति को, त्रिपृष्ठ और अचल को एवं ज्वलनजटी को अभी जाकर युद्ध में नष्ट

वहूँगा ।

(श्लोक ५३८-५४५)

कुद्ध और उत्तेजित अश्वघ्रीव को बुद्धिसागर महामात्य बोले —‘आपने पहले सहज ही भरत क्षेत्र के तीन खण्डों को जय कर लिया था । अतः आप यश और ऐश्वर्य के अधिकारी होकर शक्तिमानों में सर्वशक्तिमान प्रतिपन्न हुए हैं । अब मात्र एक सामन्त को परास्त कर क्या ख्याति व ऐश्वर्य प्राप्त करेंगे ? तुच्छ व्यक्ति को परास्त करने से आपके प्रताप में और क्या विशेषता आएगी जो सिंह हस्तियों के कुम्भ को विदीर्ण करता है, उसके लिए हिरण की हत्या करना क्या गौरव का कारण बन सकेगा ? ईश्वर न करे यदि आप उस तुच्छ व्यक्ति से पराजित हो गए तब तो एक मुहूर्त्त में ही आपका यश, कीर्ति, गौरव सभी धूलिसात् हो जाएंगे । युद्ध का फलाफल विचित्र है । फिर भय का कारण भी है । चण्डवेग का अपमान और सिंह की हत्या ने नैमित्तिक के कथन को सत्य प्रमाणित कर दिया है । इस क्षेत्र में प्रभु को छह प्रकार की नीति में सहनशीलता रूप नीति ग्रहण करना ही समुचित है । कारण महाबली हस्ती भी यदि पथ देखे बगैर दौड़ता है तो कदम में धँस जाता है । इसके अतिरिक्त वह बालक दुस्साहसिक कार्य करेगा तो पतंग की तरह लपकेगा और पल भर में विनष्ट हो जाएगा और आप सहनशीलता से लाभान्वित होंगे । यदि एकदम ही उसे सहन न कर सकें तो सेना को युद्ध का आदेश दें । आपकी सेना को क्या वह प्रतिहत कर सकेगा ?’

(श्लोक ५४६-५५४)

महामात्य के इस सदुपदेश की अश्वघ्रीव ने धृणा भरी उपेक्षा की । सुरापान से जैसे बुद्धि विनष्ट हो जाती है । उसी प्रकार क्रोध में मनुष्य की साधारण बुद्धि भी नष्ट हो जाती है । उसने महामात्य को भीरु, कापुरुष कहकर अपमानित किया और अनुचरों को रणभेरी बजाने का आदेश दिया । भेरी शब्द को सुनकर समस्त सैन्य शीघ्र ही आकर एकत्र हो गई, यहाँ तक कि जो दूर थे वह भी इस प्रकार आ गए मानो समीप ही कहीं खड़े थे । अश्वघ्रीव अपने स्नानागार में गया और हंस जैसे निर्मल गंगाजल में स्नान करता है उसी प्रकार कुम्भ के जल से स्नान किया । सूक्ष्म वस्त्रों से देह पोछ कर दिव्य गन्ध का विलेपन किया । नन्दन वन से लाए गोशीर्ष चन्दन से अपनी देह को चर्चित किया । श्वेत वस्त्र और छुरिका

धारण करने पर पुरोहित ने उसके ललाट पर तिलक रचना की। राजाओं के तिलक स्वरूप चारणों द्वारा प्रशंसित होकर छत्र-चामर सहित उसने ऐसे हाथी पर आरोहण किया जिसके मद-जल से पृथ्वी सिंचित हो रही थी। (श्लोक ५५५-५६१)

अश्वग्रीव ने दुर्दम हस्ती, अश्व और रथों की अपरिमित सैन्य लेकर पर्वत को प्रकम्पित करते हुए युद्धयात्रा प्रारम्भ की। जाते-जाते सहसा उसका छत्रदण्ड तेज हवा से आंधी में गिरे वृक्ष की तरह टूट गया और छत्र मस्तक से उसी प्रकार जमीन पर गिर पड़ा जैसे वृक्ष से फूल और आकाश से नक्षत्र गिरता है। साथ ही साथ हस्ती का मद झरना भी बन्द हो गया। वापियाँ ज्येष्ठ मास की वापी की तरह सूख गईं और शरदकालीन कर्दम की तरह कीचड़मय हो गईं। हस्ती मानो मृत्यु को सम्मुख देख रहे हों इस प्रकार भय से पेशाब करते हुए चिग्घाड़ने लगे। वह अपना माथा सीधा रख नहीं पा रहा था। रजोवृष्टि, रक्तवृष्टि, दिन में तारा-दर्शन, उल्कापात, विद्युत-चमक आदि उत्पात होने लगे। कुत्ते मुँह ऊँचा कर रोने लगे और कछुए भयानक पर चढ़ाकार चल पड़ने लगे। कपोत छवजा पर आ बैठा। इस भाँति के अनेक अपशकुन होने लगे।

(श्लोक ५६२-५६९)

अश्वग्रीव इन सब अपशकुनों और प्राकृतिक संकेतों की उपेक्षा कर अग्रसर होने लगा मानो यमपाश में बँधा बढ़ रहा हो। उसके साथ जो विद्याधर थे वे साहस खोने लगे और राजागण भी युद्ध-विमुख होने लगे मानो स्वतन्त्र होने पर भी क्रीतदास की तरह उन्हें यहाँ लाया गया हो। कुछ दिनों की यात्रा के पश्चात् ही समग्र वाहिनी रथावर्त्त पर्वत के निकट आ पहुँची। अश्वग्रीव के आदेश से विद्याधर वाहिनी ने वैताढ्य पर्वत की अधित्यका की तरह रथावर्त्त पर्वत की अधित्यका में छावनी डाली। इधर पोतनपुर में विद्याधरराज ज्वलनजटी ने त्रिपृष्ठ और अचलकुमार से कहा— शारीरिक शक्ति में तो आपका प्रतिद्वन्द्वी कोई नहीं है। किन्तु स्नेह-जात भय से भयभीत हूँ। कारण स्नेह जहाँ भय नहीं वहाँ भी भय की संभावना से भीत हो जाता है। मैं भी उसी प्रकार स्नेह से भीत होकर बोल रहा हूँ। उद्ग्रीव अश्वग्रीव अपनी विद्या के कारण हठी दुर्द्वर्ष है और बहुत से युद्ध में जयलाभकारी हुआ है। उससे कौन

नहीं डरता ? विद्या के अतिरिक्त अश्वश्रीव से आपलोग किसी अंश में कम नहीं हैं । फिर भी आप उसका वध करने में समर्थ बनें मेरी यही कामना है । उसके विद्याजात अस्त्र-शस्त्रों को आप लोग व्यर्थ कर सकें इसके लिए आप लोगों को विद्या अधिगत करने की चेष्टा करनी चाहिए । वे दोनों इससे सम्मत हुए । (श्लोक ५७०-५७८)

ज्वलनजटी आनन्दित होकर श्वेत वस्त्र धारण कर ध्यान से उन्हें विद्याओं की शिक्षा देने लगा । सात रात तक एकाग्रचित्त होकर दोनों भाइयों ने मन्त्रोच्चार करते हुए मन्त्रों की साधना की । सातवें दिन नागराज का आसन कम्पित होने पर ध्यानमग्न अचल और त्रिपृष्ठ के निकट विद्याएँ उपस्थित हुईं । यथा—गारुड़ी, रोहिणी, भुवन-क्षोभिणी, कृपाणस्तम्भिनी, स्थामशुम्भनी, व्योमचारिणी, तमिस्र-कारिणी, वेगाभिगामिनी, वैरीमोहिनी, दिव्यकामिनी, रन्ध्रवासिनी, कृशानुवर्षिणी, नागवासिनी, वारिशोषणी, धरित्रीवारिणी, बन्धन-मोचिनी, विमुक्तकुन्तला, नानारूपिणी, लौहशृङ्खला, कालराक्षसी, छत्रदशदिका, तीक्ष्णशूलिणी, चन्द्रमौली, रक्षमालिनी, सिद्धताड़निका, पिङ्गनेत्रा, वचनपेशला, ध्वनिता, अहिफणा, घोषिणी और भीरु भीषणा । वे बोलीं—‘अब हम आपके वशीभूत हैं ।’ विद्या वशीभूत होने पर दोनों भाइयों ने ध्यान तोड़ा । गुण द्वारा सब कुछ आकर्षित होता है, महामनाओं को क्या प्राप्त नहीं होता ? (श्लोक ५७९-५८८)

तदुपरान्त अचलकुमार सहित त्रिपृष्ठकुमार एक शुभ दिन देखकर प्रजापति, ज्वलनजटी और बृहद् सैन्यदल को लेकर युद्ध के लिए रवाना हुए । उनके अश्व बाज की तरह तीव्र गति सम्पन्न थे, रथ शत्रुओं को दलन करने में विजयश्री के निवास रूप थे, हस्ती मदस्त्राव से उल्लसित मानो देव-हस्ती हों और श्रेष्ठ पदातिक व्याघ्र की भाँति लपकते थे । समस्त आकाश (विद्याधरों द्वारा) और पृथ्वी (मनुष्यों द्वारा) को आच्छन्न कर अपनी प्रजा और शुभ शकुनों से प्रोत्साहित होकर ह्रस्वा और बृंहतिनाद में बजाए वादित्रों से आकाश को विदीर्ण करते हुए, सैन्यवाहिनी के पदभार से पृथ्वी को कम्पित करते हुए वासुदेव त्रिपृष्ठ जिनके रथ-चक्र से पृथ्वी पिसी जा रही थी । अपने राज्य के सीमान्त स्तम्भ तुल्य रथावर्त्त पर्वत के निकट आकर उपस्थित हो गए ।

(श्लोक ५८९-५९४)

दोनों पक्षों के रणवाद्य बजने लगे मानो वे देवों को आह्वान करने के लिए बज रहे थे । कारण, युद्ध के विचारक भी तो चाहिए । त्रिपृष्ठ और अश्वघ्नीव के सैन्यदल ने देव और असुर सैन्य की तरह युद्ध के लिए उत्सुक होकर परस्पर आक्रमण किया योद्धाओं की चीत्कार, अश्व और पदातिकों के पैरों से उड़ती धूल से आकाश परिपूर्ण हो गया । रथों की पताकाओं में अकित सिंह, शरभ, व्याघ्र, हस्ती और कपि लंछन से आकाश ने अरण्य की तरह भयंकर रूप धारण कर लिया । नारद के कुटुम्ब की तरह कलह का आनन्द लेने के लिए भाट और चारण दल सैन्य का उत्साहवर्द्धन करने वहाँ आकर उपस्थित हो गए । तदुपरान्त दोनों सेनाओं के अग्रगामी दल द्वारा युद्ध प्रारम्भ हो गया । इतनी बाण वृष्टि हुई कि लगा आकाश मानो पक्षियों से आवृत हो गया है । परस्पर अस्त्रों के आघात से अग्नि स्फुलिंग निकलने लगे । लगा अरण्य में अग्रशाखाओं के परस्पर घर्षण से दावानल प्रज्ज्वलित हो गया है । अग्रभाग स्थित अमित बलशाली सैनिकों के अस्त्रों की टकराहट से उत्पन्न झनझनाहट को देखकर लगा मानो समुद्र के जीव-जन्तु कलह में प्रवृत्त हो गए हैं । देखते-देखते समुद्र तरंग जिस प्रकार नदी के प्रवाह को पीछे ठेल देती है उसी प्रकार त्रिपृष्ठ कुमार की सेना के अग्रभाग ने अश्वघ्नीव की सेना के अग्रभाग को पीछे हटने को बाध्य कर दिया । अँगुली कुचल जाने की तरह स्व-सेना के अग्रभाग को विनष्ट होते देखकर विधाधर सैन्य कुपित हो उठी और भयंकर रूप धारण कर युद्ध की उन्मादना में टूट पड़ी मानो यम द्वारा आदेश पाकर दानव-वाहिनी बाहर आ गई हो । किसी ने भूत-सा दीर्घ दन्त विशिष्ट, विशाल वक्ष, कृष्णवर्ण और भयंकर रूप धारण कर लिया । ऐसा लगा मानो अंजन पर्वत की वह चूड़ा हो । किसी ने केशरी रूप धारण कर लिया मानो हल रूपी दीर्घ पूँछ से वह पृथ्वी को विदीर्ण कर देगा और नाखूनों से चीर डालेगा । किसी ने पर्वताकार शरभ का रूप धारण कर लिया । हाथी जैसे सहज ही घास के पुलिते को सूँड़ से छितरा डालता है उसी प्रकार वे सहज ही हस्ती को उठाकर फेंक सकते थे । किसी ने बबालक (हस्ती और सिंह का मिश्रित रूप) का रूप धारण कर लिया जो कि पूँछ से पृथ्वी को विदीर्ण करने में और दाँतों से वृक्ष को विदारित करने में समर्थ थे । किसी

ने बाघ, चींता, वृष, सर्प, झूकर आदि हिंस्र पशु को आकार धारण कर लिया जैसे कि राक्षस पशु रूप धारण कर लेते हैं। भीषण चीत्कार करते हुए जैसे मृत्यु का आह्वान कर रहे हों इस प्रकार उन्होंने त्रिपृष्ठकुमार के सैन्यदल पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण से विमूढ़ और हतोत्साहित होकर त्रिपृष्ठ की सेना सोचने लगी—क्या हम लोग भूलवश भूतों की नगरी में आ गए हैं? क्या यह राक्षसों का देश है? या अश्वघ्रीव के आदेश से भयंकर यह राक्षस और पशुवाहिनी हम से युद्ध करने आई हैं? एक औरत के लिए हमारा विनाश हो रहा है। अब तो त्रिपृष्ठकुमार के जयी होने पर ही हमारा साहस रह पाएगा। (श्लोक ५९५-६१५)

ऐसा सोचकर त्रिपृष्ठकुमार की सेना पीछे लौटने लगी। तब ज्वलनजटी आगे आया और त्रिपृष्ठकुमार को बोला—‘यह सब विद्याधरों का इन्द्रजाल है। इसमें वास्तविकता कुछ नहीं है। साँप किस रास्ते से गया वह तो साँप ही बता सकता है। इससे उन अल्प बुद्धिवालों की शक्तिहीनता ही प्रदर्शित हो रही है। जो शक्तिशाली है वह क्यों बालक को भय दिखाने की तरह इन सबों की सृष्टि करेगा? अतः हे वीर उठो, रथ पर चढ़ो और शत्रुओं को मानरूपी हस्तपृष्ठ से विच्युत कर धरती पर पटक दो। तुम्हारे रथारूढ़ और युद्धरत रहते हुए और आकाश में सहस्रमाली सूर्य के अवस्थान करते हुए किसका वैभव विस्तृत हो सकता है?’ (श्लोक ६१६-६२०)

ज्वलनजटी का यह कथन सुनकर महारथी त्रिपृष्ठ वृहद् रथ पर चढ़कर स्व-सैन्य को उत्साहित करने लगे। दीर्घबाहु बलराम भी अपने रथ पर चढ़े। वे किसी भी समय अपने छोटे भाई को अकेला नहीं छोड़ते थे। युद्ध के समय तो बिल्कुल नहीं। ज्वलनजटी और उसके विद्याधर सिंह जैसे पर्वत-शिखर पर चढ़ता है उसी प्रकार अपने-अपने रथ पर जा चढ़े। उनके पुण्योदय से ही मानो देवगण आकृष्ट होकर वहाँ आए और त्रिपृष्ठकुमार को शारंग नामक दिव्य-धनुष, कौमुदी गदा, पाञ्चजन्य नामक शंख, कौस्तुभ मणि, नन्दक नामक खड्ग और वनमाला नामक जयमाल्य अर्पण किए। उन्होंने अचलकुमार को भी संवत्तक नामक हल, सीमन्द नामक मूशल और चन्द्रिका नामक गदा दी। दिव्य अस्त्रों की प्राप्ति होते देखकर अन्य योद्धा भी उत्साहित होकर संगठित रूप से

अन्तक के पुत्रों की भाँति युद्ध करने लगे । जो नाटक अब अभिनीत होने वाला है उसके नन्दी रूप में त्रिपृष्ठकुमार ने पाञ्चजन्य शंख बजाकर आकाश गुंजायमान कर दिया । प्रलयकालीन पुष्करावर्त्त मेघ से निकली वज्रध्वनि की तरह उस पाञ्चजन्य शंख के शब्द से अश्वग्रीव की सेना क्षुब्ध हो गई । वृक्ष के पत्र की तरह किसी के हाथ से अस्त्र खिसक कर गिर गया, कोई मानो पक्षाघात से ग्रस्त हो गया हो इस प्रकार स्वयं ही जमीन पर सो गया । भयभीत शृगाल की तरह कोई अदृश्य हो गया । किसी ने शशक की तरह भय से आँखें बन्द कर लीं । कोई उल्लू की तरह गिरि-कन्दरा में प्रवेश कर गया । किसी ने जल से निकाले कच्छप की तरह हाथ-पैर सिकोड़ लिए । समुद्र शुष्क हो जाने जैसी असम्भव अपनी सेना को हताश होते देखकर अश्वग्रीव उनसे बोला : (श्लोक ६२१-६३३)

‘हे विद्याधर सैनिको, एक सामान्य-सी शंख-ध्वनि से वृष की गर्जन से भयभीत बने अरण्य के हिरण की तरह तुम लोग कहाँ जा रहे हो ? त्रिपृष्ठ और अचल में तुमने ऐसी कौन-सी शक्ति देखी कि त्रास-उत्पन्नकारी आक से जैसे गन्धर्व-लीजर्त तामित हो जाते हैं उसी प्रकार तुम लोग भयभीत हो गए हो ? बहुत से युद्धों में जो गौरव तुम लोगों ने अर्जित किया था उसे धूल में मिला डाला । क्या तुम नहीं जानते एक बिन्दु काजल एक स्वच्छ सफेद वस्त्र की उज्ज्वलता नष्ट कर सकता है । लौट आओ । भाग्य दोष से ही लगता है तुम भयभीत हुए हो । बता सकते हो भूचर मनुष्य आकाशचारी तुम लोगों से किस प्रकार श्रेष्ठ है ? यदि युद्ध नहीं करना है तो खड़े होकर युद्ध देखो । मैं अश्वग्रीव युद्ध में किसी की भी सहायता की अपेक्षा नहीं करता ।’ (श्लोक ६३४-६३८)

अश्वग्रीव के इन वाक्यों को सुनकर लज्जा से सिर झुकाए विद्याधर सैनिक उसी प्रकार लौट आए जैसे पर्वत से आहत होकर समुद्र-तरंग लौट आती है । तब अश्वग्रीव क्रूर ग्रह की तरह शत्रु सैन्य का आस करने के लिए उद्यत होकर स्व-रथ पर चढ़ा । मानो अस्त्र क्षेपणकारी मेघपुञ्ज हो इस प्रकार वह आकाश से त्रिपृष्ठ की सेना पर तीर, प्रस्तर, मुद्गर आदि निक्षेप करने लगा । अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा से त्रिपृष्ठ की सेना का मनोबल टूटने लगा । धरती पर खड़ा मनुष्य धीर और साहसी होने पर भी आकाश से होने वाले

आक्रमण के सन्मुख कैसे खड़ा रह सकता है ? यह देख अचलकुमार, त्रिपृष्ठकुमार, ज्वलनजटो अपनी विद्याधर सेना सहित रथ पर बैठ कर आकाश में उड़ गए । दोनों पक्षों के विद्याधरगण मानो वे अपने गुरु के सम्मुख अपनी विद्या का प्रदर्शन कर रहे हों इस प्रकार घोर युद्ध करने लगे । पृथ्वी पर भी उभय पक्ष के सैन्यदल जिस प्रकार अरण्य में एक हस्तीदल अन्य हस्तीदल पर क्रुद्ध होकर युद्ध करता है उसी प्रकार युद्ध करने लगे । आकाशचारी विद्याधरों के परस्पर के अस्त्राघात जनित रक्त स्राव के कारण आकाश से प्रलय सूचक रक्त-वृष्टि होने लगी ।

(श्लोक ६३९-६४६)

कोई दण्ड लेकर एक दूसरे पर ऐसी द्रुतगति से आघात करने लगा । लगता था एक ही दण्ड लेकर क्रीड़ा नैपुण्य दिखाया जा रहा है । उस दण्डाघात से आकाश गूँज रहा था । जिस प्रकार भेरी को लकड़ी से पीटा जाता है उसी प्रकार कोई अपने प्रतिपक्षी को तलवार की भूठ से पीट रहा था । कोई अन्य की जय को सहने में असमर्थ होकर परस्पर सन्नद्ध बना अपनी उल्लंघन करने की तरह कम्पित कर रहा था । कोई आकाश को केश की तरह द्वि-खण्डित करने को बरछी निक्षेप कर रहा था जो कि वज्रनाद के साथ विद्युत्-चमक का भ्रम उत्पन्न कर रही थी । कोई क्रूर सर्प की छोटा भाला निक्षेप कर रहा था । दोनों सैन्यदल इस प्रकार अस्त्रों को ऊर्ध्व और अधोलोक में निक्षेप कर रहे थे, लगता था पृथ्वी और आकाश अस्त्रमय हो गए हैं । किसी के हाथ में सद्य काटा शत्रु-मुण्ड था । देखकर लगता था मानो वह समराङ्गण का विशेष रक्षक हो । स्कन्धहीन देह पर गिरे हस्ती-मुख के कारण कोई गणेश-सा लग रहा था तो कोई अश्व-मुख के कारण किन्नर-सा लग रहा था । कोई तत्काल कटा मस्तक कुछ देर के लिए कमर बन्ध में अटक जाने के कारण ऐसा लग रहा था मानो उसका माथा नाभि से निकला है । किसी की मुण्डहीन देह इस प्रकार घूम रही थी मानो रणचण्डी के स्वयंवर में आनन्दित होकर प्रेत-नृत्य कर रहे हों । किसी का कटा हुआ मुण्ड जमीन पर गिरते समय गुनगुना रहा था मानो धड़ से जुड़ने के लिए मन्त्र पाठ कर रहा हो ।

(श्लोक ६४७-६५७)

जब युद्ध ने इस प्रकार भयंकर रूप धारण कर मानो प्रलय-

काल ही आ गया तब त्रिपृष्ठ ने अपना रथ अश्वग्रीव के रथ के पास ले जाने को कहा। स्नेह-रज्जु से बँधे महारथी अचलकुमार भी अपना रथ त्रिपृष्ठकुमार के पास ले गए। क्रोध से लाल नेत्र किए अश्वग्रीव मानो उनके रक्तपान का प्यासा हो इस भाँति उन्हें देख कर बोला—‘तुममें से किसने चण्डवेग पर आक्रमण किया था?’

योगदर्शक आश्रय भी तुल्य (श्लोक ६४५-६४६)

अश्वग्रीव का कथन सुनकर त्रिपृष्ठकुमार हँसते हुए बोले— मैं त्रिपृष्ठ हूँ—मैंने ही तुम्हारे दूत पर आक्रमण किया था। पश्चिम सीमान्त स्थित सिंह को भी मैंने मारा था और स्वयंप्रभा से विवाह भी मैंने ही किया है। मैं तुम्हें अपना प्रभु नहीं मानता। मैं चिरकाल से तुम्हारी उपेक्षा करता आ रहा हूँ। ये हैं मेरे अग्रज अचलकुमार जो कि शौर्य में इन्द्र तुल्य हैं। इनके सम्मुख खड़ा हो सके ऐसा मैंने त्रिलोक में भी किसी को नहीं देखा है—तुम तो हो ही क्या? यदि तुम्हें लगे कि सैन्य-संहार की आवश्यकता नहीं है तो अस्त्र लेकर मेरे सम्मुख आओ। तुम मेरे युद्ध अतिथि हो। आओ, द्वन्द्व-युद्ध कर तुम्हारी युद्ध की इच्छा शान्त कर दूँ। सैन्य दर्शक के रूप में मात्र यह देखे। (श्लोक ६६२-६७०)

अश्वग्रीव और अचलकुमार के यह बात स्वीकार कर लेने पर सैन्यदल को युद्ध से विरत होने का आदेश दिया गया। तब अश्वग्रीव ने एक हाथ धनुष के मध्य रखकर अन्य हाथ से प्रत्यंचा खींची। उस समय धनुष यमराज की कुटिल भाँह-सा लगने लगा। तदुपरान्त रणदेवी को आनन्दित करने के लिए मानो वह वीणा बजा रहा है इस भाँति प्रत्यंचा को भ्रुकृत किया। रात्रि में धूमकेतु का उदय जैसे ध्वंस की सूचना देता है उस प्रकार त्रिपृष्ठकुमार ने भी विनाशसूचक अपने धनुष की प्रत्यंचा को भ्रुकृत किया। वज्र-नाद-से उस शब्द ने मृत्यु आह्वानकारी मन्त्र की तरह शत्रु-सेना के हृदय को भंग कर डाला। अब अश्वग्रीव ने गह्वर से जिस प्रकार खींचकर साँप निकाला जाता है वैसे ही तूणीर से एक तीर निकाल कर धनुष पर रोपा और प्रत्यंचा को कर्ण तक खींचा, तदुपरान्त ज्वलन्त आलोक शिखा की तरह वह तीर जो कि मृत्यु का आह्वान कर रहा था मानो वह पृथ्वी का अन्त कर देने वाला अग्नि-पिण्ड हो इस भाँति उसे निक्षेप किया। महाबलशाली त्रिपृष्ठकुमार ने उस

तीर को अपने तीर से पद्म-पत्र की तरह बीच में ही काट डाला ।

(श्लोक ६७१-६७८)

तदुपरान्त उन्होंने जो गति में प्रथम था ऐसा एक तीर निक्षेप कर अश्वग्रीव के धनुष को द्विखण्डित कर डाला । इसके बाद तो अश्वग्रीव ने जितनी बार धनुष ग्रहण किया उतनी ही बार त्रिपृष्ठ कुमार ने उसे स्व-तीर से द्विखण्डित करने के साथ-साथ अश्वग्रीव के उत्साह को भी भंग कर डाला ।

(श्लोक ६७९-६८०)

तदुपरान्त एक तीर त्रिपृष्ठकुमार ने अश्वग्रीव के ध्वज-दण्ड पर फेंका और दूसरा तीर फेंक कर उसके रथ को इस प्रकार विनष्ट कर डाला मानो तिल का पौधा हो । क्रुद्ध अश्वग्रीव ने अन्य रथ पर आरोहण किया, मेघ-वृष्टि की तरह वाण-वृष्टि कर त्रिपृष्ठ की ओर अग्रसर हुआ । अश्वग्रीव के तीरों से चारों दिशाएँ ढक जाने के कारण न सारथी, न त्रिपृष्ठकुमार न अन्य कोई, कुछ भी दिखाई पड़ रहा था । तब त्रिपृष्ठकुमार ने अश्वग्रीव की उस तीर वर्षा को सहस्रमाली जैसे स्व-किरणों से अन्धकार को दूर कर देता है उसी प्रकार दूर कर दिया । बलवानों में प्रथम पर्वत की तरह सख्त दीर्घबाहु अश्वग्रीव अपने तीरों की वर्षा को व्यर्थ होते देखकर अत्यन्त क्रोधित हो उठा । अतः तूणीर से विद्युत् की सहोदरा-सी, वज्र की सखा-सी, मृत्यु की जननी-सी, मानो नागराज की जिह्वा हो ऐसी पाषाण सी शक्त एक शक्ति बाहर निकाली । उस शक्ति को स्तम्भ स्थित राधावेध की तरह या घण्टिकायुक्त यम की नर्तकी की तरह वह तीव्र वेग से सिर पर घुमाने लगा । फिर समस्त शक्ति संहतकर उसे त्रिपृष्ठकुमार पर निक्षेप किया । उनका विमान भग्न हो जाएगा इस भय से देवों ने उस शक्ति की राह छोड़ दी । उस शक्ति को अपनी ओर आते देखकर त्रिपृष्ठकुमार ने रथ पर रखी यमदण्ड-सी गदा उठाई और हाथी जैसे सूँड से भस्त्रा-यन्त्र को विनष्ट कर देता है उसी प्रकार निकट आती शक्ति पर तुरन्त प्रहार किया । उस प्रहार से वह शक्ति अग्नि स्फुलिगों की वृष्टि करती हुई जैसे उल्का जमीन पर गिर जाती है उसी प्रकार चूर्ण-विचूर्ण होकर धरती पर गिर पड़ी ।

(श्लोक ६८१-६९१)

तब अश्वग्रीव ने ऐरावत के उद्धत दन्तों-सी लौह निर्मित गदा गदाधर त्रिपृष्ठकुमार पर फेंकी । त्रिपृष्ठकुमार ने उस गदा

से गरुड़ जैसे स्व-ओष्ठों से सांप को टुकड़ा-टुकड़ा कर फेंक देता है वैसे ही टुकड़े-टुकड़े कर फेंक दिया। तब अश्वग्रीव ने पर्वत-सी कठोर, सख्त और वज्राकृति मानो यम का दण्ड हो, तक्षक की बहन हो ऐसी एक गदा त्रिपृष्ठकुमार पर फेंकी। त्रिपृष्ठकुमार ने उस गदा को अपनी गदा से मिट्टी के ढेले की तरह तोड़कर जमीन पर गिरा दिया। (श्लोक ६९२-६९५)

इस प्रकार जब उसके समस्त अस्त्र टूटकर चूर-चूर हो गए। तब वह निराश हो उठा। विपद में जैसे भाई याद आता है उसी प्रकार उसे नागास्त्र याद हो आया। अश्वग्रीव ने जब उस नागास्त्र को धनुष पर चढ़ाकर निक्षेप किया तब शत-शत सर्प जैसे सपेरे की टोकरी से बाहर निकलने लगे। उसी प्रकार निकलने लगे। हवा में फूटकार करते हुए, जमीन पर चलते हुए उन्होंने मध्य लोक को पाताल लोक में परिवर्तित कर डाला। क्रूर, दीर्घ, काले, उन फूटकार करते साँपों से आकाश में धूमकेतु के उदय से भी सहस्रगुणा अधिक संत्रास चारों ओर व्याप्त हो गया। मृत्यु के गुप्तचर-से उन्हें आकाश में संचरण करते देखकर खेचर रमणियाँ भयभीत होकर बहुत दूर भाग गईं। त्रिपृष्ठ की सैन्य के मध्य भी आतंक फैल गया। ऐसी अवस्था प्रभु की शक्ति से अज्ञान या प्रभु की शक्ति पर अति विश्वास से ही होती है। (श्लोक ६९६-७०१)

तब त्रिपृष्ठकुमार ने धनुष गरुड़वाण चढ़ाकर निक्षेप किया। वाण के मुख से सौ-सौ गरुड़ निकलने लगे। उनके पंखों के संचालन से आकाश जैसे स्वर्ण छत्र से आवृत हो गया। उनके लिए वे सर्प कदली तुल्य ही थे। गरुड़ों के डैनों की आवाज से सर्प उसी प्रकार दूर हो गए जैसे सूर्योदय होते ही अन्धकार दूर हो जाता है। नागास्त्र को भी व्यर्थ होते देखकर अश्वग्रीव ने अव्यर्थ अग्निवाण को स्मरण किया। उस अग्निवाण को धनुष पर चढ़ाकर त्रिपृष्ठ पर फेंका। उस वाण ने प्रज्ज्वलित अग्निशिखा से आकाश को उत्कामय कर डाला। बड़वानल से जैसे समुद्रीय प्राणी व्याकुल हो जाते हैं वैसे ही त्रिपृष्ठकुमार की सेना चारों ओर से होती हुई अग्निवर्षा से व्याकुल हो उठी। अश्वग्रीव की सेना इससे उत्तेजित हो उठी। कोई हँसने लगा, कोई चक्कर खाने लगा, कोई कूदा, कोई नाचा, कोई गाने लगा, कोई ताली बजाने लगा। यह देखकर क्रोधित हुए

त्रिपृष्ठकुमार ने अप्रतिरोध्य वस्त्र तार को धनुष पद बढ़ाकर फेंका । पल भर में वासुदेव की इच्छा की तरह आकाश में मेघ व्याप्त होकर आकाश को और अश्वग्रीव के मुख को जैसे काला कर डाला । उस मेघ से वर्षाकाल की तरह जल बरस कर दावानल की अग्निज्वाला को पूर्णतः बुझा डाला । अपने समस्त अस्त्रों को इस प्रकार वासुदेव के हाथों तृण की तरह नष्ट होते देखकर प्रति-वासुदेव ने अव्यर्थ एवं विनाशकारी चक्र को स्मरण किया । चक्र की खील के मध्य भाग से निकलती सहस्र-सहस्र ज्वाला से मानो उसे सूर्य के रथ से खोलकर लाया गया हो, या यम के कुण्डल को जोर से छीनकर लाया गया हो, तक्षक को चक्राकार किया गया हो ऐसा घण्टिकायुक्त वह चक्र स्मरण मात्र से ही खेचरों को भयभीत एवं संतस्त करता हुआ उसके पास आकर उपस्थित हो गया । उस चक्र को ग्रहण कर अश्वग्रीव त्रिपृष्ठकुमार को बोला—‘तू अभी बालक है । तेरी हत्या करने से मुझे भ्रूण हत्या का पाप लगेगा अतः तू युद्ध क्षेत्र से चला जा—तुझ पर दया आ रही है । देख मेरा यह अस्त्र इन्द्र के वज्र की तरह अमोघ है यह कभी व्यर्थ नहीं होता । यदि मैं इसे निक्षेप करूँ तो तेरी मृत्यु अवश्य होगी । इसका अन्यथा नहीं है इसलिए क्षत्रियों का अभिमान परित्याग कर और मेरी आज्ञा स्वीकार कर । तू अभी बालक है । बालकोचित औद्धत्य रूप तेरे पूर्वकृत दुर्व्यवहारों को मैं क्षमा करता हूँ । जा अयाचित भाव से तुझे प्राण भिक्षा दे रहा हूँ ।’

(श्लोक ७०२-७१९)

अश्वग्रीव की बात सुनकर त्रिपृष्ठकुमार हँसते हुए बोले—‘अश्वग्रीव, तुम वृद्ध हो गए हो, नहीं तो उन्मत्त की भांति ऐसा प्रलाप नहीं बकते । सिंह शावक वृहदाकार हाथी को देखकर कभी भागता नहीं । वृहद् सर्प को देखकर क्या गरुड़ शावक कभी पलायन करता है ? बाल सूर्य सांध्य निशाचर को देखकर क्या कभी भयभीत होता है ? बालक होते हुए भी तुम्हें देखकर मैं क्यों पलायन करूँगा ? तुमने जितने भी अस्त्र मुझ पर निक्षेप किए हैं उसकी शक्ति तो तुमने देख ही ली है ? अब इस चक्र की शक्ति भी देख लो । बिना देखे ही क्यों अहंकार कर रहे हो ?’ (श्लोक ७२०-७२३)

यह सुनकर अश्वग्रीव ने उस भयंकर चक्र को लेकर समुद्र में बड़वानल की तरह आकाश में मस्तक के ऊपर घुमाया । बहुत देर

तक घुमाने के पश्चात् उसने पूरी शक्ति लगाकर उस चक्र को निक्षेप किया। देखकर लगा—मानो समस्त सूर्य मण्डल जैसे आपतित हो रहा है। उस चक्र ने त्रिपृष्ठकुमार की वज्रमय और शिला-से वक्ष-देश पर आघात किया। चक्र के आघात से वे वज्राहत की तरह मूर्च्छित होकर गिर पड़े और चक्र क्या हुआ यह देखने के लिए आकाश में स्थिर हो गया। कुमार को मूर्च्छित होते देखकर उनकी सेना में हाहाकार मच गया। शत्रु के आघात से अपने भाई को मूर्च्छित होते देख अचलकुमार अनुरागवश आहत न होते हुए भी मूर्च्छित हो गए। अश्वग्रीव ने सिंह की तरह सिंहनाद किया और उसकी सेना युद्ध जय के उन्माद में 'मारो-मारो' कहकर चिल्लाने लगी। मुहूर्त्त भर में अचलकुमार की संज्ञा लौट आई। उन्होंने पूछा—'यह कैसी ध्वनि है?' सैनिकों ने कहा—'युवराज त्रिपृष्ठ-कुमार की मृत्यु से शत्रु-सैन्य आनन्द उन्मत्त होकर इस भाँति जय-ध्वनि कर रही है।' (श्लोक ७२४-७३२)

यह सुनकर अचलकुमार क्रुद्ध हो उठे। बोले—'कौन कहता है मेरे भाई की मृत्यु हो गई है? मेरा भाई युद्ध श्रम से क्लान्त होकर मुहूर्त्त भर के लिए स्व-रथ में विश्राम कर रहा है।' फिर मन ही मन सोचने लगे जब कि यह मृत्यु मृत्यु नहीं है तो क्यों न मैं इनके हर्षोल्लास को स्तिमित करूँ? ऐसा सोचकर वे अश्वग्रीव को सम्बोधित कर बोले—'खड़ा रह अश्वग्रीव! तुम्हें और तुम्हारे रथ एवं तुम्हारी सेना को मुट्ठी भर पतंगों की तरह अभी अपनी गदा से चूर्ण-विचूर्ण करता हूँ।' (श्लोक ७३३-७३५)

ऐसा कहकर उन्होंने रथावर्त पर्वत के शृङ्ग की तरह अपनी गदा उठाई और अश्वग्रीव की ओर दौड़े। उसी मुहूर्त्त में त्रिपृष्ठ-कुमार की संज्ञा लौट आई। वे इन्हें रोकते हुए बोले—'ठहरिए आर्य, ठहरिए। मेरे रहते आपका युद्ध करना उचित नहीं है। ऐसा कहकर सोकर जागे हों इस प्रकार वे उठ खड़े हुए। उन्हें उठते देख कर स्वदेशागत व्यक्ति से हठात् मिलन हो गया हो इस प्रकार बाहु प्रसारित कर अचलकुमार ने उन्हें आलिङ्गन में ले लिया। त्रिपृष्ठ-कुमार को जीवित देखकर उनकी सेना आनन्द से हर्ष ध्वनि करने लगी। वह हर्ष ध्वनि शत्रु सैन्य के हृदय को बीध गई। त्रिपृष्ठ-कुमार ने चक्र को आकाश में अपने निफट स्थिर हुआ देखा मानो

उसने जो अपराध किया है उसके दण्ड की याचना कर रहा है। उन्होंने सूर्य-से उज्ज्वल और भयंकर उस चक्र को हाथ में ले लिया और अश्वघ्रीव को बोले—‘पहाड़ के सामने हस्ती की तरह गरजते हुए तुमने जिस चक्र को मुझ पर निक्षेप किया उसकी शक्ति तो तुमने अभी देख ली। जाओ, जाओ मार्जार की तरह व्यवहार करने वाले, तुम्हारी हत्या कौन करे?’ (श्लोक ७३६-७४३)

यह सुनकर अश्वघ्रीव की देह क्रोध से कांपने लगी। वह ओष्ठ दंशन करता हुआ बोला—‘अवृज्ज बालक, उस चक्र को पाकर तुम मदमस्त हो उठे हो। फिर उसे भी मुझसे ही पाया है। पंगु जिस प्रकार पेड़ से झड़े फल को पाकर उन्मत्त हो उठता है वैसे ही तू हो गया है। फेंक वह चक्र मेरे ऊपर और देख मेरी शक्ति। मैं मुष्ठी प्रहार से उसे चूर्ण-विचूर्ण कर दूँगा।’ (श्लोक ७४४-७४६)

यह सुनकर अक्षीण शक्ति वाले त्रिपृष्ठकुमार ने क्रुद्ध होकर चक्र को आकाश में घुमाकर अश्वघ्रीव पर फेंका। उस चक्र ने कदली वृक्ष की तरह अश्वघ्रीव के कण्ठ को छिन्न कर दिया। कारण, प्रतिचक्री स्वयं चक्र द्वारा निहत होते हैं। खेचरण आनन्दित होकर त्रिपृष्ठकुमार पर पुष्प-वृष्टि कर जय-जयकार करने लगे। आकाश को भी क्रन्दित कर दे ऐसे पराजित अश्वघ्रीव के सैनिक क्रन्दन करने लगे। उनके नेत्रों से प्रवाहित जल से ऐसा लगा मानो वे अश्वघ्रीव को अन्तिम-संस्कार के लिए स्नान करवा रहे हैं। मृत्यु के बाद अश्वघ्रीव तैत्तीस सागरोपम की आयु लिए सप्तम नरक में उत्पन्न हुआ। (श्लोक ७४७-७५१)

उसी समय मुख्य देवगण आकाश में स्थिर होकर बोले—‘हे राजन्यगण, अब आप अपना मान परित्याग करिए। अश्वघ्रीव के प्रति अब तक जो आपका आनुगत्य था उसे परित्याग कर त्रिपृष्ठकुमार की शरण लीजिए। ये ही योग्य शरण-स्थल हैं। इस काल के भरत क्षेत्र के ये ही प्रथम वामुदेव हैं।’ (श्लोक ७५२-७५५)

यह देववाणी सुनकर अश्वघ्रीव के पक्ष के समस्त राजा वामुदेव के निकट आए और करबद्ध होकर बोले—‘अज्ञान और परतन्त्रतावश इतने दिनों तक हमने जो अपराध किया है उसे आप क्षमा करें। हे शरण्य, आज से भृत्य की तरह हम आपके आदेश का पालन करेंगे। हमें आदेश दीजिए।’ (श्लोक ७५६-७५८)

त्रिपृष्ठकुमार ने कहा—‘तुम लोगों ने कोई अपराध नहीं किया है। प्रभु के आदेश पर युद्ध करना क्षत्रियधर्म है। अतः भय का परित्याग करो। आज से अब मैं तुम्हारा प्रभु हूँ। मेरे अधीन रहते हुए तुम लोग अपने-अपने राज्य को लौट जाओ और सुख-पूर्वक राज्य करो।’

(श्लोक ७५९-७६०)

इस प्रकार समस्त राजाओं को आश्वस्त कर त्रिपृष्ठकुमार स्व-दलबल के साथ द्वितीय इन्द्र की तरह पोतनपुर लौट आए।

(श्लोक ७६१)

वासुदेव और उनके अग्रज ने सप्त निधियाँ एवं चक्र से परिवृत्त होकर दिग्विजय के लिए पुनः पोतनपुर का परित्याग किया। प्रथम उन्होंने पूर्व प्रान्त के मुख के अलङ्कार तुल्य मगध को जय किया। तदुपरान्त दक्षिण प्रान्त ने सिरमाल्य रूप जरदामपति और पश्चिम प्रान्त जिनके द्वारा अलङ्कृत हुआ था ऐसे प्रभासपति को जय कर लिया। वैताड्य पर्वत की उभय श्रेणियों के विद्याधरों को भी उन्होंने जय कर लिया। ज्वलनजटी को विद्याधरों की उभय श्रेणियों का आधिपत्य त्रिपृष्ठकुमार ने प्रदान किया। महान् व्यक्तियों की सेवा करने पर वे कल्पवृक्ष की तरह फलदान करते हैं। इस प्रकार दक्षिणाद्वं जय कर त्रिपृष्ठकुमार स्व-नगर लौट जाने को प्रस्थान किए। उस समय वे चक्रवर्ती के अर्द्ध वैभव और अर्द्ध पराक्रम से सुशोभित हो रहे थे। पथ अतिक्रम करते हुए वे मगध देश पहुंचे। राजाओं के तिलक रूप उन्होंने वहां पृथ्वी के तिलक रूप जिसे एक करोड़ लोग उठा सकें ऐसी शिला देखी। उन्होंने उस कोटि शिला को लीलामात्र में उठाकर बाएँ हाथ से सिर पर छत्र की तरह धारण की। उनकी इस अपरिमित शक्ति को देखकर राजागण और जन-साधारण आश्चर्यचकित होकर भाट और चारणों की तरह उनके बल की प्रशंसा करने लगे। उस कोटि शिला को पुनः अपने स्थान पर रखकर वे श्री के निवास रूप पोतनपुर से कुछ दिन में ही लौट आए।

(श्लोक ७६२-७७१)

त्रिपृष्ठकुमार ने हस्तीपृष्ठ पर आरोहण कर परिपूर्ण वैभव सहित श्री के नव निर्मित निवास रूप पोतनपुर में प्रवेश किया। आकाश के नक्षत्र की तरह समस्त नगर में मोतियों के स्वस्तिकों की रचना की गई। ध्वज-पताकाओं से सुसज्जित नगरी को देखकर

लगता था मानो शत-शत इन्द्रधनुष उदित हुए हैं। धरती की धूल निवारण के लिए जल का छिड़काव किया था। मानो अभी-अभी वर्षा हुई है। उज्ज्वल कलश शोभित उच्च वेदी समूह स्वर्ग के विमान की तरह शोभा पा रहे थे। मंगल गानों से जुनाड़ा या जैसे प्रतिगृह में विवाहोत्सव अनुष्ठित हो रहा है। असंख्य लोगों के एकत्र होने से लगता था पृथ्वी के समस्त लोग वहाँ एकत्र हो गए हैं। तब राजा प्रजापति, ज्वलनजटी, अचलकुमार और अन्य राजाओं ने त्रिपृष्ठकुमार को अर्द्धचक्री रूप में अभिषिक्त किया।

(श्लोक ७७२-७७६)

भगवान् श्रेयांसनाथ दो मास तक छद्मस्थ अवस्था में विचरण कर सहस्राम्र उद्यान में आकर उपस्थित हुए। वहाँ अशोक वृक्ष तले जब कि वे द्वितीय शैलेशीकरण ध्यान में स्थित थे उनके चार घाती कर्म—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्त-राय जिस प्रकार अग्नि में मोम गल जाता है उसी प्रकार गल गए। माघ कृष्णा अमावस्या को चन्द्र जब श्रवण नक्षत्र में था तब दो दिनों के उपवास के पश्चात् प्रभु को केवल-ज्ञान उत्पन्न हुआ।

(श्लोक ७७७-७८०)

देवता निर्मित समवसरण में बैठकर अलौकिक शक्तिधर अर्हत् श्रेयांसनाथ स्वामी ने उपदेश दिया। उस उपदेश से अनेकों को सम्यक् ज्ञान प्राप्त हुआ। किसी ने साधुव्रत ग्रहण किया, किसी ने श्रावक व्रत। आप ८ गोशुभ आदि छियत्तर गणधर हुए। उन्होंने प्रभु से त्रिपदी सुनकर द्वादशांगी की रचना की।

(श्लोक ७८१-७८३)

उनके संघ में ईश्वर नामक श्वेतवर्ण त्रिनयन वृषभ-वाहन यक्ष उत्पन्न हुए। उनके दाहिने हाथों में एक में विजोरा नीबू और दूसरे में गदा थी। दोनों बाएँ हाथों में से एक में नेवला और दूसरे में अक्षमाला थी। वे भगवान् श्रेयांसनाथ के शासन देव हुए। इसी प्रकार गौरवर्णा सिंहवाहना मानवी यक्षिणी उत्पन्न हुई। उनके दाहिने ओर के एक हाथ में हथौड़ी और दूसरा वरद मुद्रा में था। बायीं ओर के हाथों में एक में वज्र और दूसरे में अंकुश था। ये भगवान् की शासन देवी बनीं।

(श्लोक ७८४-७८७)

शासन देव-देवी सहित भगवान् श्रेयांसनाथ प्रव्रजन करते

हुए एक दिन श्रेष्ठनगरी पोतनपुर पहुंचे। वहाँ समोसरण के लिए वायुकुमार देवों ने एक योजना भूमि परिष्कृत की और मेघकुमार देवों ने उसे स्वर्ण और रत्न शिला से मंडित किया और घुटने तक पंचवर्णीय पुष्पों की वर्षा की। उन्होंने चारों दिशाओं में दिक्कुमारों के भृकुटि की तरह चार अलंकृत तोरण निर्मित किए और मध्य में एक रत्नवेदी बनाई। इसके नीचे भवनपति देवों ने धरणी के शिर-माल्य की तरह स्वर्ण-शिखर युक्त रोप्य प्राकार का निर्माण करवाया। ज्योतिष्क देवों ने मानो उनकी ज्योति द्वारा ही निर्मित हो ऐसे रत्नशिखर युक्त स्वर्ण की द्वितीय प्राकार निर्मित करवाई। विमानपति देवों ने मणि-शिखर युक्त रत्नशीला के तृतीय प्राकार का निर्माण किया। प्रत्येक प्राकार में सुसज्जित चार द्वार थे और मध्य प्राकार के बीच ईशान कोण में एक वेदी थी। प्राकार की मध्यभूमि के बीच व्यंतर देवों ने ६९ अनुष दीर्घ एक चैत्य वृक्ष का निर्माण किया। इसके तल में रत्नमय वेदी पर उन्होंने एक मंच निर्मित किया और उस पर पादपीठ सह पूर्वमुखी एक रत्न-सिंहासन स्थापित किया और जो कुछ वहाँ करणीय था व्यंतर देवों ने वह सब निष्पन्न किया। भक्ति के कारण वे भृत्यों से भी अधिक अप्रमादी थे। (श्लोक ७८८-७९८)

तदुपरान्त भगवान् श्रेयांसनाथ जिनके मस्तक पर त्रिछत्र था, यक्ष जिनके दोनों ओर खड़े होकर चामर वीज रहे थे, जिनके अग्र-भाग में इन्द्रध्वज चल रहा था, चारणों की जयध्वनि सी जिनकी साम्यवाणी दुंदुभिघोष में घोषित हो रही थी, सूर्यालोक से दीप्त पूर्वगिरि से जिसकी प्रभा विस्तारित हो रही थी ऐसे प्रभु कोटि-कोटि देव, मानव और असुरों द्वारा सेवित होकर अपने चरणकमलों को देवों द्वारा रक्षित नौ स्वर्ण-कमलों पर रखते हुए पूर्वद्वार से उस समवसरण में जिसके सम्मुख देदीप्यमान धर्मचक्र रखा था प्रवेश किया। तदुपरान्त त्रिलोकपति ने उस चैत्य वृक्ष की तीन प्रदक्षिणा दी। उस चैत्य वृक्ष ने भी मानो भँवरों के गुंजन द्वारा उनका स्वागत किया। तदुपरान्त भगवान् ने पूर्वाभिमुख होकर 'नमो तित्थाय' कहा। तत्पश्चात् पादपीठ पर पाँव रखकर उसी रत्न-सिंहासन पर आरोहण किया। (श्लोक ७९९-८०६)

व्यंतर देवों ने अन्य तीन ओर प्रभु की अनुकृति लाकर रत्न-

सिंहासन पर रखी। साधुगण भी पूर्वद्वार से प्रवेश कर यथा स्थान पर जा बैठे। वैमानिक देवियाँ व साध्वियाँ खड़ी रहीं। दक्षिण द्वार से प्रवेश कर तीर्थपति को नमस्कार कर भवनपति, ज्योतिष्क और व्यंतर रमणियाँ नैऋत्य कोण में जाकर खड़ी हो गई। पश्चिम द्वार से प्रवेश कर अर्हत् को नमस्कार कर भवनपति ज्योतिष्क और व्यंतर देव वायुकोण में जाकर खड़े हो गए। उत्तर द्वार से प्रवेश कर भगवान् को नमस्कार कर वैमानिक देवता, मानव और मानवियाँ ईशान कोण में जाकर खड़ी हो गई। इस प्रकार तृतीय प्राकार के मध्य चतुर्विध संघ, मध्य प्राकार में पशु और निम्न प्राकार में वाहनादि अवस्थित हुए। (श्लोक ८०७-८११)

संवादवाहकों ने अर्द्धचक्री त्रिपृष्ठ वासुदेव से निवेदन किया कि प्रभु के समवसरण की रचना हुई है। यह सुनते ही वासुदेव सिंहासन से उठे। पादुका परित्याग कर जिस दिशा में प्रभु अवस्थित थे उधर मुँह कर भगवान् की वन्दना की। तदुपरान्त सिंहासन पर बैठकर उस शुभ-संवादवाहक को तेरह कांटे रोष्य मुद्राएँ दान में दीं और बलराम अचल को साथ लेकर त्रिपृष्ठकुमार सकल जीवों के शरणस्थल प्रभु के समवसरण में पहुंचे। उत्तर द्वार से प्रवेश कर प्रभु की यथोचित भाव से वन्दना की। तत्पश्चात् वे इन्द्र के पीछे जाकर बैठ गए। प्रभु को पुनः वन्दन कर इन्द्र, त्रिपृष्ठ वासुदेव और बलराम ने भक्ति भरे हृदय से यह स्तुति की :

(श्लोक ८१२-८१७)

हे परमेश्वर ! सबको आनन्दकारी और मुक्ति के कारण रूप आपको मैं मुक्ति के लिए वन्दना करता हूँ। आपके दर्शन मात्र से जबकि मनुष्य सब कुछ भूलकर अध्यात्म के प्रति भक्तिमान होता है तब आपकी देशना जो सुनता है उसका तो कहना ही क्या है ! मेरे लिए तो आप क्षीर-समुद्र तुल्य एवं कल्पवृक्ष रूप में वर्द्धित व संसार रूपी मरुभूमि पर सजल मेघ रूप में उदित हुए हैं। हे ग्यारहवें तीर्थङ्कर, हे केवली श्रेष्ठ, क्रूर कर्म द्वारा आक्रान्त मनुष्यों के आप ही एकमात्र रक्षक हैं। जल से जैसे स्फटिक पवित्र होता है उसी प्रकार इक्ष्वाकु वंश जो कि स्वभावतः ही पवित्र है आपके द्वारा और पवित्र हुआ है। हे भगवन्, आपके चरण त्रिलोक के समस्त दुःखों को दूर करने में अतुल छायायामय सिद्ध हुए हैं। हे

जिन, मैं न सांसारिक सुख चाहता हूं ना मुक्ति, मैं तो केवल आपके चरण-कमलों पर भ्रमर की तरह निवास करना चाहता हूं। हे त्रिलोकनाथ, विविध भाव से आपके चरण ही मानो मेरे लिए शरण है। आपकी सेवा से क्या प्राप्त नहीं होता ?' (श्लोक ८१८-८२५)

इन्द्र, त्रिपृष्ठ और अचल इस प्रकार स्तुति कर जब निवृत्त हुए तो भगवान् श्रेयांसनाथ ने मुक्ति का कारण रूप यह देखा दी : (श्लोक ८२६)

‘यह असीम संसार समुद्र स्वयंभूरमण समुद्र की तरह विशाल है। कर्मरूप तरंग के कारण मनुष्य कभी ऊर्ध्व में उत्क्षिप्त, कभी निम्न में निक्षिप्त होते हैं। हवा जिस प्रकार पसीने को सुखा देती है, ओषध जैसे गन्ध को विनष्ट करती है उसी प्रकार अष्टविध कर्म निर्जरा द्वारा शीघ्र विनष्ट होते हैं। निर्जरा दो प्रकार की है : स्वेच्छाकृत या जो स्वयं होती है। कारण, जो संसार बन्ध का बीज था वह तो यहां क्षय हो ही जाता है। जो इन्द्रिय दमन करते हैं उनके लिए वह स्वेच्छाकृत है, अन्य के लिए वह स्वतः होती है। कारण, कर्म भी फल की तरह बाहरी निमित्त से या स्वतः पक जाता है। जैसे स्वर्ण खादयुक्त होने पर भी अग्नि में तपाने पर शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार तपस्या की अग्नि में दग्ध होकर आत्मा पवित्र हो जाती है। (श्लोक ८२७-८३१)

‘अनशन, ऊनोदरी, वृत्ति संक्षेप, रस त्याग, कायक्लेश और संलीनता बाह्य तप है। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान आभ्यंतरिक तप है। स्वयं संयमित पुरुष क्षय करने में दुष्कर कर्म को भी बाह्य और आभ्यंतरिक तप से शीघ्र दग्ध कर देता है। सरोवर में जल आगमन का पथ यदि बन्द कर दिया जाए तब वह जिस प्रकार नए जल द्वारा पूर्ण नहीं होता है उसी प्रकार कर्म का बन्धन नहीं होता। उस सरोवर में जल पूर्व से भरा हुआ था वह सूर्य-किरणों से बार-बार दग्ध होने पर जैसे सूख जाता है उसी प्रकार पूर्व संचित मनुष्य के कर्म भी तपस्या की अग्नि में बार-बार दग्ध करने पर शीघ्र ही विनष्ट हो जाते हैं।

(श्लोक ८३२-८३८)

‘कर्म-विनाश के लिए बाह्य तप की अपेक्षा आभ्यंतर तप ही श्रेष्ठ है और आभ्यंतर तप में भी, मुनियों के कथनानुसार ध्यान

ही छत्र रूप है। जो मुनिगण ध्यानरत हैं वे दीर्घकाल के संचित कर्म को भी जो कि अत्यन्त गहन है मुहूर्त्त मात्र में विनष्ट कर देते हैं। त्रिविध दोषों के कारण रोग का प्रकोप कठिन होने पर भी जैसे उपवास से वह साम्य प्राप्त होता है उसी प्रकार तपस्या से पूर्व संचित कर्म भी झर जाते हैं। तीव्र वायुवेग से मेघपुञ्ज जैसे छिन्न-भिन्न हो जाते हैं उसी प्रकार तपस्या से कर्म विनष्ट हो जाते हैं। कर्म का निरोध और कर्म का क्षय यदि सर्वदा फलदायी है फिर भी जब वह चरम रूप में आता है तब वह मोक्ष रूपी फल प्रदान करता है। दोनों प्रकार की तपस्या से कर्म क्षय कर शुद्ध-सत्त्व व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर कर्म से सर्वथा मुक्त हो जाता है।' (श्लोक ८३९-८४४)

भगवान् की देशना से बहुत से व्यक्तियों ने मुनिधर्म ग्रहण किया। अचल और त्रिपृष्ठकुमार ने सम्यक्त्व ग्रहण किया। दिन का प्रथम याम व्यतीत होते ही प्रभु-देशना से विरत हुए। तब त्रिपृष्ठकुमार के अनुचर चार प्रस्थ बलि ले आए। उस बलि को प्रभु के सम्मुख आकाश में उत्क्षिप्त किया गया जिसका आधा तो देवों ने चरती पर रखते से पूर्व ही ग्रहण कर लिया। जो आधा भूमि पर गिरा उसका आधा राजन्य लोगों ने और अवशेष आधा अन्य लोगों ने ग्रहण किया। तदुपरान्त प्रभु उत्तर द्वार से बहिर्गत होकर मध्य प्राकार की रत्नवेदी पर जाकर बैठ गए। तब छियत्तर गणधरों के प्रमुख गोशुभ गणधर ने प्रभु के पाद-पीठ पर बैठकर देशना दी। उन्होंने दिन के द्वितीय प्रहर में अपनी देशना समाप्त की। तत्पश्चात् इन्द्र, अचल, त्रिपृष्ठ आदि सभी अपने-अपने निवास स्थान पर लौट गए। प्रभु भी वहाँ से प्रव्रजन कर द्वितीय सूर्य की तरह ज्ञान का आलोक विकीर्ण करते हुए पृथ्वी पर भ्रमण करने लगे।

(श्लोक ८४५-८५१)

केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् प्रभु दो मास कम इक्कीस लक्ष पूर्व तक इस पृथ्वी पर विचरण करते रहे। उनके संघ में चौरासी हजार साधु, एक लाख तीन हजार साध्वियाँ, तेरह सौ चौदह पूर्वधारी, छह हजार अवधिज्ञानी, छह हजार मनःपर्यव ज्ञानी, छह हजार पाँच सौ केवलज्ञानी, ग्यारह हजार वैक्रिय लब्धि सम्पन्न, पाँच हजार वादी, दो लाख उन्यासी हजार श्रावक और चार लाख अड़तालीस हजार श्राविकाएँ थीं।

(श्लोक ८५२-८५६)

अपना निर्वाण समय निकट जानकर प्रभु एक हजार मुनियों सहित सम्मेद शिखर पर्वत पर गए और अनशन तप प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार जलेशीकरण ध्यान में एक मास व्यतीत कर श्रावण कृष्ण तृतीया को चन्द्र जब धनिष्ठा नक्षत्र में था एक हजार मुनियों सहित भगवान् ने अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति और अनन्त सुख-स्वरूप मोक्ष को प्राप्त किया। भगवान् कुमार-अवस्था में २१,०००,०० वर्षों तक, राज्याधिपति के रूप में ४२,०००,०० वर्षों तक और संयम पर्याय में २१,०००,०० वर्षों तक रहे सब मिलाकर ८४,०००,०० वर्षों तक पृथ्वी पर आपने विचरण किया। भगवान् शीतलनाथ के निर्वाण के एक सौ सागर छह लाख छह सौ छब्बीस नर्ग कम एक करोड़ सागर के पश्चात् भगवान् श्रेयांसनाथ का निर्वाणोत्सव हुआ। यह महोत्सव देव और इन्द्र द्वारा अनुष्ठित हुआ। महापुरुषों के निर्वाण पर उत्सव होता है, शोक नहीं। (श्लोक ८५७-८६४)

तदुपरान्त त्रिपृष्ठ वासुदेव अपनी ३२,००० रानियों सहित सांसारिक-सुख भोग करते हुए समय व्यतीत करने लगे। महारानी स्वयंप्रभा ने श्रीविजय और विजय नामक दो पुत्रों को जन्म दिया।

(श्लोक ८६५)

एक समय रतिसागर में लीन त्रिपृष्ठ के पास कुछ गायक आए जो कि अपने कण्ठ-माधुर्य से किन्नरों को भी परास्त कर चुके थे। सर्व कला निधान वासुदेव को भी उन्होंने विविध प्रकार के श्रुति मधुर संगीत से विमुग्ध कर दिया। संगीत माधुर्य के लिए त्रिपृष्ठकुमार ने उन्हें अपने पास ही रख लिया। गायन से सभी ख्याति प्राप्त करते हैं फिर जो विशेष अधिकारी होते हैं उनका तो कहना ही क्या। (श्लोक ८६६-८७०)

एक बार रात्रि में जबकि त्रिपृष्ठकुमार अपनी शय्या पर विश्राम कर रहे थे वे गायक इन्द्र के गन्धर्व की तरह उच्च स्वर से गाने लगे। त्रिपृष्ठ ने उनके गीत पर हस्ती की भाँति मुग्ध होकर अपने अपने शय्यापालक को आदेश दिया कि जब मुझे नींद आ जाए तब गाना बन्द करवा देना क्योंकि जब मैं सुनूँगा ही नहीं तो गाना व्यर्थ होगा। (श्लोक ८७१-८७३)

शय्यापालक ने उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर ली। वासुदेव

को कुछ देर में ही नींद आ गई किन्तु शय्यापालक ने गाना सुनने की इच्छा से गाना बन्द नहीं करवाया। इन्द्रियों के विषय में आसक्त होने से स्वामी की आज्ञा अवहेलित होती है। रात्रि के शेष याम में त्रिपृष्ठकुमार जाग्रत हुए तो पूर्व की ही भाँति उन्हें सुमधुर संगीत सुनाई पड़ा। (श्लोक ८७४-८७६)

‘उनका गाना बन्द क्यों नहीं करवाया ? इतनी देर तक वे निश्चय ही क्लान्त हो गए होंगे ? त्रिपृष्ठ द्वारा इस प्रकार पूछने पर शय्यापालक ने उत्तर दिया— ‘देव, उनके संगीत पर मैं इतना मुग्ध हो गया था कि उन्हें गाना बन्द करने को नहीं कहा। मैं प्रभु का आदेश भूल गया। (श्लोक ८७७-८७८)

यह सुनते ही त्रिपृष्ठकुमार ने क्रुद्ध होकर शय्यापालक को तत्क्षण बन्दी बनाकर कारागार में डाल दिया। दूसरे दिन सुबह सूर्य जिस प्रकार पूर्व दिशा को शोभित करता है उसी प्रकार उन्होंने जब राज सभा को सुशोभित किया तो वह रात्रि वाली घटना स्मरण हो आई। उन्होंने उसी क्षण शय्यापालक को बुलवाया और रक्षकों को आदेश दिया इस संगीतप्रिय शय्यापालक के कानों में गर्म-गर्म शीशा भर दो। इसके कान अपराधी हैं। वे लोग शय्यापालक को एकांत में ले गए और उसके कान में गर्म-गर्म शीशा भर दिया। राजाज्ञा क्रूर होने पर भी दुर्लभ्य होती है। भयंकर यन्त्रणा से उस शय्यापालक की मृत्यु हो गई और त्रिपृष्ठकुमार ने अशुभतम कर्म का इस भाँति बन्धन कर लिया। (श्लोक ८७९-८८३)

नित्य विषयासक्त, राज्य मूर्च्छा में लीन, बाहुबल के गर्व में जगत को तृण समान समझने वाले, हिंसा में निःशंक, महारम्य और महापरिग्रही त्रिपृष्ठ क्रूर कर्मों के कारण सम्यक्त्व रूप रत्न नष्ट कर नरक का आयुष्य बांधा और ८४,०००,०० वर्ष की आयु पूर्ण कर सातवें नरक में उत्पन्न हुए। वहाँ अप्रतिष्ठान नामक नरक में ५०० धनुष दीर्घकाययुक्त तैत्तीस सागरोपम की आयु लिए स्वकर्मों का फल भोग करेंगे। इन्होंने २५००० वर्ष कुमारावस्था में, २५००० वर्ष मांडलिक राजा के रूप में, १००० वर्ष दिग्विजय में और ८३,४९,००० वर्ष वासुदेव (अर्द्धचक्री) के रूप में कुल मिलाकर ८४ लाख का पूर्ण आयु भोगा। त्रिपृष्ठ की मृत्यु से सूर्य जिस प्रकार राहु से ग्रस्त होता है उसी प्रकार अचल महान शोक से अभिभूत हो

भाई : गह्वरि ने द्विजेकी से फिर भी लहिरेगी की तरह उच्च-स्वर से क्रन्दन करते हुए अप्रतिम भ्रातृप्रेम के कारण इस भाँति विलाप करने लगे : (श्लोक ८८४-८९१)

‘भाई उठो, इस प्रकार क्यों सोए हो ? हे नरसिंह, अपने कार्य में इतना शीथिल्य क्यों ? समस्त राजा तुम्हें देखने के लिए दरवाजे पर खड़े हैं । इन दर्शन-पिपासुओं को दर्शन नहीं देना तुम्हारे लिए उचित नहीं है । भाई, कौतुक के लिए भी तुम्हारा इतनी देर तक चुप रहना उचित नहीं है । तुम्हारे कण्ठ-स्वर का माधुर्य सुने बिना मेरा हृदय उत्कंठित हो रहा है । सर्वदा उत्साही और गुरुजनों के प्रति श्रद्धावान रहने वाले तुम न कभी निद्रावश हुए, न कभी मेरी अवहेलना की । आज तुम्हारे इस निष्ठुर व्यवहार से मैं मर्माहत हो गया हूँ । अब मेरा क्या होगा ?’ कहते-कहते अचल मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर पड़े । एक मुहूर्त्त के पश्चात् जब मूर्च्छा भग हुई तो वे उठ बैठे और वासुदेव को गोद में लेकर भाई-भाई करते हुए क्रन्दन करने लगे । अन्ततः वयोवृद्धों के उपदेश से मोह कम होने पर उन्होंने भाई का अग्नि संस्कार किया । (श्लोक ८९२-८९८)

भाई की मृत्यु के पश्चात् बलदेव अचल उन्हें स्मरण करते हुए श्रावक के मेघ की तरह अश्रु विसर्जन करते रहते । मानो उद्यान अरण्य हो, गृह श्मशान हो, सरोवर गृह-प्रणाली हो, आत्मीय परिजन शत्रु हों इस प्रकार जलहीन मछली की भाँति उन्हें कहीं कोई आनन्द नहीं था । भगवान् श्रेयांसनाथ के उपदेशों को स्मरण कर, संसार की अनित्यता को दृष्टिगत करते हुए इन्द्रिय-विषयों से विरक्त अचल ने लोगों से अनुरुद्ध होकर कुछ दिन गृहवास किया । एक दिन वे आचार्य धर्मघोष सूरि के दर्शन को गए । वहाँ अर्हत् वाणी-सी उनकी देशना सुनकर उनका संसार-वैराग्य और उत्कट हो उठा । वे शुद्ध मन से उनके चरणों में दीक्षित हो गए । जो महान् होते हैं वे संकल्प स्थिर होते ही उसे कार्यान्वित करते हैं । मूल और उत्तर गुणों को पूर्णतः पालन कर धर्मपरायण उन्होंने समस्त परिस्थितियों में समभाव रखकर परिषहों को सहन करते हुए वायु की तरह अप्रतिबद्ध भाव से लक्ष्य के प्रति सर्प-सी दृष्टि रखते हुए उन्होंने कुछ मास तक ग्राम, खान, नगरादि में विचरण किया । अन्ततः अपनी ८५ लाख वर्ष की आयु पूर्ण कर अचलकुमार जिनका

मन और चारित्र शुद्ध था, समस्त कर्म क्षयकर मोक्ष को प्राप्त किए ।

(श्लोक ८९९-९०६)

(प्रथम सर्ग समाप्त)

द्वितीय सर्ग

वामदेवर्षिक वासुपूज्यचरितम्

भगवान् वासुपूज्य जो कि सबके सब प्रकार से पूजनीय हैं, रक्षक हैं, जिनके चरण-नख इन्द्र और उपेन्द्रों के मुकुटों के अग्रभाग से धर्षित होते हैं उन्हें मैं वन्दना करता हूँ । मैं तीर्थंकरों के चरित वर्णन रूपी ध्यान में उनका चरित जो कि मंगलकारक हैं और निष्कलंकता में चन्द्र को भी अतिक्रम करता है अब वर्णन करता हूँ ।

(श्लोक १-२)

पुष्करवर द्वीपाद्वं के पूर्व विदेह में मंगलवती नामक विजय में पूर्व विदेह के अलंकार तुल्य रत्नसंचय नामक एक राजा राज्य करते थे । जो कि सर्व प्रकार से पद्मा अर्थात् लक्ष्मी की तरह समृद्धि संपन्न और चन्द्र की तरह प्रजाजनों को प्रिय थे । राजागण जिस प्रकार भक्ति से उनकी आज्ञा शिरोधार्य करते उसी प्रकार वे जिनवाणी को हृदय में धारण करते थे । सर्वगुण सम्पन्न उनमें ऐश्वर्य और यश इस प्रकार एक साथ वर्द्धित होते थे कि लगता ये यमज रूप में उत्पन्न हुए हैं । राजाओं की मुकुटमणि रूप वे पृथ्वी पर इस प्रकार शासन करते थे मानो वह परिखा परिवृत्त नगरी हो । भाग्य तो लक्ष्मी की तरह ही चंचल है, सौन्दर्य यौवन की तरह क्षणस्थायी, सत्कर्म पद्म-पत्र के जल की तरह अस्थिर और बन्धु-बान्धव पथ पर मिल जाने वाले पान्थ की तरह अल्प समय के लिए होते हैं— इस प्रकार सतत चिन्तन करते हुए वे वैराम्य को प्राप्त हो गए ।

(श्लोक ३-९)

एक दिन उन्हीं महामना ने गुरु वज्रनाभ के चरणों में जाकर मुक्ति रूपी श्री की आविर्भावि सूचक दीक्षा ग्रहण कर ली । उन्हींने बहुविध स्थानक और अर्हत् भक्ति द्वारा तीर्थंकर नाम कर्म उपाजन किया । तदुपरान्त दीर्घ दिन पर्यन्त तलवार की धार की रक्षा से व्रत पालन कर आयु पूर्ण होने पर प्राणत नामक स्वर्ग में देव रूप में उत्पन्न हुए ।

(श्लोक १०-१२)

जम्बूद्वीप के दक्षिण भरताद्वे में पृथ्वी की चम्पक माला-सी चम्पा नामक एक नगरी थी। रत्न निर्मित मन्दिरों की दीवारों पर प्रागैश्वर्य प्रतिबिम्ब बढ़ने से वहाँ के समुद्र्य वैदिक्य लब्धि सम्पन्न हों ऐसे लगते थे। प्रति गृह की क्रीड़ावापी रात्रि के समय सोपानों पर जड़ित चन्द्रकान्त मणि निःसृत जल में अपने आप पूर्ण हो उठती थी। यहाँ के गृहों से निर्गत धूपवर्तिका के धूपवल्ली से वहाँ के गृह सर्प पूर्ण पाताल लोक के गृह-से लगते थे। क्रीडारत नगर-नारियों से क्रीड़ा-वापियाँ अप्सरा परिपूर्ण क्षीर-समुद्र-सी लगती थीं। स्त्रियों द्वारा गाए षड्ज राग के गीत षड्ज कौशिकी मयूर के केकारव को भी पराभूत कर देतीं। ताम्बूल करंकवाहिनियों के हाथ में पान और सुपारी लेकर आने-जाने से लगता वे मानो शुक पक्षियों को हाथ में लेकर शिक्षा दे रही हों। (श्लोक १३-१९)

इक्ष्वाकुवंशीय वसुपूज्य वहाँ के राजा थे। वे वासव की तरह पराक्रमी और वसु (सूर्य) की तरह लावण्यशाली थे। मेघ जैसे पृथ्वी को वारि द्वारा सिंचित करता है उसी प्रकार वे भेरी शब्द से भिखारियों को एकत्र कर अर्थदान से परितुष्ट करते। उनकी अगणित सैन्य आक्रमण के लिए नहीं कौतुक के लिए पृथ्वी पर परिभ्रमण करती; कारण उनके प्रताप से ही शत्रु निर्जित हो गए थे। राजा रूप में उन्होंने शासन के उत्स होने से दुवृत्तों को इस प्रकार दमन कर दिया था जिसके कारण 'दास' केवल अभिधानगत शब्द होकर रह गया था अर्थात् लोगों में कोई दास था ही नहीं। जो धर्म पालन करते उनके प्रति श्रद्धाशील वे जिनवाणी को इस प्रकार हृदय में धारण करते मानो उन्होंने श्रीवत्स चिह्न हृदय में धारण कर रखा हो। (श्लोक २०-२४)

उनकी प्रधान महिषी का नाम जया था। वे आनन्द रूप प्रेम और सौन्दर्य की प्रतिमा और कुल रूपी सरिता की हंसिनो-सी थीं। जाह्नवी जैसे पूर्व समुद्र में प्रवेश करती है वैसे ही जाह्नवी-सी धीर और मन्थरगमना जया भी वसुपूज्य के हृदय में प्रवेश कर गई थी। भक्त के हृदय में जैसे भगवान् निवास करते हैं उसी प्रकार रानी के स्फटिक जैसे हृदय में राजा वसुपूज्य सतत वास करते थे। रूप-लावण्य और सौन्दर्य से परस्पर एक दूसरे को आनन्दित कर उनका समय सुख से व्यतीत होता था। (श्लोक २५-२८)

प्राणत नामक स्वर्ग में पद्मोत्तर राजा के जीव ने सुखमय जीवन व्यतीत कर आयुष्य पूर्ण होने पर वहाँ से च्युत होकर ज्येष्ठ शुक्ला नवमी को चन्द्र जब शतभिषा नक्षत्र में था, जयादेवी के गर्भ में प्रवेश किया। सुख-शय्या में सोई जया देवी ने तीर्थकर के जन्म सूचक चतुर्दश महास्वप्न देखे। गिरिकन्दरा जैसे सिंह को, मेघावलि जैसे चन्द्र को धारण करती है वैसे ही उन्होंने उस श्रेष्ठ भ्रूण को धारण किया। फाल्गुन माह की कृष्णा चतुर्दशी को चन्द्र जब शतभिषा नक्षत्र में था उन्होंने महिष लाञ्छन रक्तवर्ण एक पुत्र को जन्म दिया। (श्लोक २९-३३)

सिंहासन कम्पित होने से ५६ दिक् कुमारियाँ वहाँ आईं और प्रभु एवं उनकी माता के जन्मकृत्य सम्पन्न किए। पालक विमान में बैठकर इन्द्र देवों सहित वहाँ आए एवं प्रभु सहित प्रभु-गृह की परिक्रमा दी। तदुपरान्त गृह-प्रवेश कर प्रभु की माता को अवस्थापिनी निद्रा में निद्रित कर उनके पार्श्व में प्रभु का एक प्रतिरूप रखा। फिर पाँच रूप धारण कर एक रूप से प्रभु को गोद में लिया, दूसरे रूप से छत्र धारण किया, तीसरे-चौथे रूप से प्रभु के अगल-बगल चँवर बीजने लगे और पंचम रूप में प्रभु के आगे नृत्य करते हुए चलने लगे। शक्र प्रभु को लेकर मेरु पर्वत की अतिपाण्डुकवला गए और उन्हें गोद में लेकर एक रत्न-सिंहासन पर बैठ गए। तत्पश्चात् अच्युतादि चौंसठ इन्द्रों ने तीर्थों से जल मँगवाकर प्रभु को स्नान कराया। फिर मानो वे प्रभु को अपने हृदय में स्थानापन्न कर रहे हों इस प्रकार ईशानेन्द्र की गोद में स्थापित किया। भक्ति निष्पन्न शक्र ने चारों दिशाओं में चार स्फटिक के वृषभ निर्मित किए। अन्य इन्द्रों से भिन्न रूप में स्नान कराने के लिए उन्होंने वृषभों के शृंगों से निःसृत जल से प्रभु को स्नान कराया। तदुपरान्त वृषभों का विलय कर प्रभु के शरीर को पोंछकर गोशीर्ष चन्दन का विलेपन किया। फिर वस्त्रालंकारों और पुष्पों से उनकी पूजा कर इस प्रकार स्तुति करने लगे : (श्लोक ३४-४४)

‘हे भगवन्, जो कर्म चक्रवर्ती, अर्द्धचक्रवर्ती के चक्र द्वारा भी छिन्न नहीं हो सकता व ईशानेन्द्र के त्रिशूल और शक्र के वज्र द्वारा या अन्य इन्द्रों के अस्त्रों द्वारा भी छिन्न नहीं होता वह कर्म तुम्हारे दर्शन मात्र से ही छिन्न हो जाता है। दुःखों का जो ताप क्षीर-समुद्र

के जल से या चन्द्र-कौमुदी या मेघों के अविरत वर्षण से यहाँ तक कि गोशीर्ष चन्दन व सघन कदली वृक्ष से भी शान्त नहीं होता वह तुम्हारे दर्शन मात्र से ही शान्त हो जाता है। वह व्याधि जो नाना-विध औषधियों, चूर्ण प्रलेपों से, शल्य प्रयोगों से या मन्त्र प्रयोगों से भी दूर नहीं होती वह तुम्हारे दर्शन मात्र से ही दूर हो जाती है। मैंने बहुत कुछ कहा, किन्तु जो कुछ मैं बोलना चाहता हूँ वह संक्षेप में यह है कि हे त्रिलोकनाथ, जो कुछ अन्य उपायों से सम्पन्न नहीं होता वह तुम्हारे दर्शन मात्र से ही सम्पन्न हो जाता है। मैं आपसे यही याचना करता हूँ मुझे आपके दर्शनों का सौभाग्य बार-बार मिले।' (श्लोक ४१-४२)

इस भाँति स्तुति कर शक्र प्रभु को लेकर उनकी माता के निकट पहुंचे और प्रभु को माता के पार्श्व में सुलाकर प्रणाम किया। तीर्थकर माता की अवस्थापिनी निद्रा दूर कर तीर्थकर बिम्ब को वहाँ से हटाकर शक्र स्व-निवास को लौट गए और अन्यान्य इन्द्र मेरु पर्वत से ही स्व-स्थान को चले गए। (श्लोक ४३-४४)

सूर्योदय जैसे कमलदल को विकसित करता है राजा वसुपूज्य ने उसी प्रकार प्रजापुंज के हृदय को विकसित कर पुत्र का जन्मोत्सव किया। तदुपरान्त एक शुभ दिन उन्होंने व रानी जया ने त्रिलोक-नाथ का नाम वासुपूज्य रखा। शक्र द्वारा अंगुष्ठ में भरा अमृत-पान कर प्रभु वर्द्धित होने लगे। अर्हत् स्तनपान नहीं करते इसलिए धात्रियों का केवल अन्य कार्य ही अवशेष था। वासव द्वारा नियुक्त पाँच धात्रियों द्वारा प्रभु लालित होने लगे जो कि उनका छाया की तरह अनुसरण करती थीं। भगवान् ने देव, असुर और राजन्यगण जो कि उनके सखा बन गए थे उनके साथ अपना शंशव व्यतीत किया। वे कभी रत्न खचित सुवर्ण कन्दुक से खेलते कभी हीरों जड़ी यष्टि से, कभी भ्रमर की तरह घूमने वाले लट्ठू से, कभी बाजी लगाकर वृक्ष पर चढ़ते, कभी दौड़ते, कभी लुका-छिपी खेलते, कभी छलांग लगाते, कभी ऊपर उछलते। कभी तैरते, कभी वाक् युद्ध करते तो कभी मुष्टि युद्ध, तो कभी मल्ल युद्ध। (श्लोक ४५-६२)

सत्तर धनुष दीर्घ और सर्व सुलक्षण युक्त प्रभु ने वामाओं को पराजितकारी यौवन प्राप्त किया। वसुपूज्य स्वामी ने जब सांसारिक भोग में अनिच्छा प्रकट की तो राजा वसुपूज्य और रानी

जया बोली—

(श्लोक ६३-६४)

‘पुत्र, जिस दिन तुमने जन्म ग्रहण किया उसी दिन हमारी और इस पृथ्वी के सभी की इच्छाएँ पूर्ण हो गईं। फिर भी हम तुम्हें कुछ कहेंगे। कारण अमृत पान से कोई कभी तृप्त हुआ है? मध्य देश, वत्सदेश, गौड़, मगध, कौशिल्य, लोषल, प्राच्योत्तिष्ठ, नैषाध, विदेह, कलिग, उत्कल, पुण्ड्र, ताम्रलिप्त, मूल, मलय, मुद्गर, मल्लवर्त्त, ब्रह्मोत्तर और अन्य देश जो कि पूर्वांचल के अलंकार तुल्य हैं, डाहल, दशार्ण, विदर्भ, अस्मक, कुन्तल, महाराष्ट्र, आन्ध्र, मूरल, कठ, कैशिक, सुपर्ण, केरल, द्रमिल, पाण्ड्य, दण्डक, चौड़, नासिक्य, कोंकण, कौवेर, वानवास, कोल्ल, सिंहल और दक्षिणांचल के अन्य देश, सौराष्ट्र, त्रिवण, दणेरक, अंबुद, कच्छ, आवतंक, ब्राह्मणवाह, यवन, सिन्धु आदि पश्चिमांचल के राज्य, शक, केकय, वोक्काण, हूण, वाणायुज, पांचाल, कुलट, काश्मीरिक, कम्बोज, वाल्हिक, जांगल, कुरु और उत्तरांचल के अन्य राज्य और भरत क्षेत्र के दक्षिणार्द्ध के सीमा निर्देशक वैताढ्य पर्वत की उभय श्रेणी के निवासी मानव और विद्याधरों के मध्य के उच्चकुल जात समर्थ वीर वैभवशाली विख्यात चतुरंगिनी सेनाओं के अधिपति प्रजापालक निष्कलंक सत्यरक्षाकारी धार्मिक वर्तमान राजन्यगण दूतों के द्वारा अपनी-अपनी कन्याएँ तुम्हें देने के लिए बहुमूल्य उपहार आदि के साथ भेजकर हमारी अनुमति चाह रहे हैं। उनकी कन्याओं के साथ तुम्हारा विवाहोत्सव देखकर हमारी और उनकी इच्छाएँ पूर्ण हों। तुम वंश-परम्परा से प्राप्त इस राज्य-भार को ग्रहण करो। वृद्धावस्था में अब व्रत ग्रहण करना ही हमारे लिए समीचीन है।’

(श्लोक ६५-८२)

यह सुनकर वासुपूज्य बोले—‘मेरे प्रति स्नेह के कारण आपने जो कुछ कहा वह उचित ही है, किन्तु भव अरण्य में बार-बार विचरण करते-करते मैं अब भारवाही वृषभ की तरह क्लान्त हो गया हूँ। संसार में ऐसा कौन देश, नगर, ग्राम, खनि, पर्वत, अरण्य, नदी, नवद्वीप और समुद्र है जहाँ मैंने अन्तकाल से रूप परिवर्त्तन कर भ्रमण नहीं किया। जन्म-जन्मान्तरों के कारण रूप संसार को अब मैं छिन्न करना चाहता हूँ। पार्थिव जीवन के दोहद रूप विवाह और राज्य से मुझे कोई प्रयोजन नहीं है। पृथ्वी ने और आप लोगों

ने मेरे जन्म के समय जैसा उत्सव देखा था उसी प्रकार का मेरी दीक्षा, केवलज्ञान और मोक्ष-प्राप्ति का उत्सव देखेंगे।' (श्लोक ८३-८९)

यह सुनकर वसुपूज्य गद्गद् कण्ठ से बोले—'पुत्र, मैं जानता तुम संसार-समुद्र को अतिक्रम करने को दृढ़ संकल्प हो। भव समुद्र के तट रूप तुमने इस जन्म को प्राप्त किया है—यह तो हम तीर्थंकर के जन्म सूचक महास्वप्नां से ही समझ गए थे। यह सत्य है कि तुम संसार-समुद्र को पार करोगे और तुम्हारी दीक्षा, केवलज्ञान एवं मोक्ष प्राप्ति के उत्सव अनुष्ठित होंगे। फिर भी इसके मध्यवर्ती समय में हम यह उत्सव देखना चाहते हैं। मुक्ति के लिए उद्यमी हमारे पूर्वजों ने भी यह उत्सव किया है। उदाहरणस्वरूप पिता के आग्रह से इक्ष्वाकु वंश के प्रतिष्ठाता भगवान् ऋषभदेव ने भी सुनन्दा, सुमंगला से विवाह किया था। पिता के आदेश से उन्होंने राज्य-भार ग्रहण किया था और सांसारिक सुख भोग कर यथा समय दीक्षा ग्रहण की थी। दीक्षा ग्रहण कर मुक्ति को भी प्राप्त किया था। तुम जैसे के लिए तो मुक्ति भी समीप के गाँव में जाने की तरह ही सुलभ है। अजित स्वामी से लेकर श्रेयांस स्वामी पर्यन्त सभी ने पिता के आदेश से विवाह किया और पृथ्वी पर शासन भी किया। फिर अंत में मुक्ति को भी प्राप्त किया। तुम भी ऐसा ही करो। तुम भी पूर्वजों की तरह विवाह और राज्य शासन कर बाद में दीक्षा लेकर निर्वाण प्राप्त करो।' (श्लोक ९०-९८)

कुमार वासुपूज्य बोले—'पितृवर, अपने पूर्वजों का जीवन मुझे ज्ञात है; किन्तु संसार में दो व्यक्तियों का जीवन एक प्रकार का नहीं होता है चाहे वह एक ही परिवार का हो या भिन्न परिवार का। उनका भोग फलदाय कर्म अवशेष था अतः उन्होंने तीन ज्ञान के धारक होते हुए भी भोग के द्वारा उन कर्मों को क्षय किया; किन्तु भोगफलदायी मेरे कोई भी कर्म अवशिष्ट नहीं है। इसीलिए मुक्ति के बाधक विवाह का आदेश मुझे नहीं दें। भावी तीर्थंकरों के मध्य भी मल्ली, नेमि और पार्श्व ये तीन तीर्थंकर होंगे जो कि विवाह और राज्य-शासन न कर मुक्ति के लिए दीक्षा लेंगे। शेष तीर्थंकर महावीर सामान्य भोग कर्म के लिए विवाह कर दीक्षा ग्रहण करेंगे, राज्य शासन नहीं करेंगे। कर्म भिन्नता के कारण तीर्थंकरों का पथ भी एक जैसा नहीं होता। ऐसा सोचकर आप मुझे आदेश दें। स्नेह

के वशीभूत होकर भीरु न बनें ।'

(श्लोक ९९-१०५)

इस भाँति माता-पिता को समझाकर १८ लाख वर्षों के पश्चात् वे दीक्षा ग्रहण को उत्सुक हुए । सिंहासन कम्पित होने से तीर्थंकर का दीक्षाकाल समुपस्थित जानकर ब्रह्मलोक से लोकान्तिक देव आए और त्रिलोकनाथ को तीन बार प्रदक्षिणा देकर बोले, हे भगवन्, तीर्थ प्रवर्त्तन करें ? ऐसा कहकर वे ब्रह्मलोक लौट गए । कल्याणकारी प्रभु ने एक वर्ष तक वर्षादान दिया । वर्षाकाल शेष होने पर जैसे लोग इन्द्रोत्सव करते हैं उसी प्रकार वर्षादान शेष होने पर इन्द्रों ने आकर प्रभु का दीक्षा महोत्सव सम्पन्न किया ।

(श्लोक १०६-११४)

तदुपरान्त देव असुर और मानव निर्मित सिंहासन शोभित पृथ्वी नामक शिविका पर उन्होंने आरोहण किया । राजहंस जिस प्रकार स्वर्ण-कमल पर आकर बैठ जाता है वैसे ही वे पाद-पीठ पर पाँव रखकर सिंहासन पर बैठ गए । इन्द्रों में किसी ने उनके सम्मुख स्व-अस्त्र आस्फालित किया, किसी ने दिव्य छत्र धारण किया, किसी ने चँवर बोजन किया, किसी ने पखा संचालित किया । कोई गुणगान करने लगा, कोई माल्य धारण करने लगा । इस भाँति देव असुर और मानवों से परिवृत्त होकर वे विहारगृह नामक श्रेष्ठ उद्यान में पहुँचे ।

(श्लोक १११-११५)

आम्र मंजरी के मकरन्द का पान कर कोकिल मन्द स्वर में कुहूरव कर रहे थे मानो भक्तिप्लुत हृदय हो उनका गुणगान कर रहे हों, पवन के आन्दोलन से अशोक वृक्ष पुष्प गिराकर जैसे उन्हें उपहार दिया, हिलते हुए चम्पक और अशोक के मधु झरने से ऐसा लगा मानो वे पाद-पूजा के लिए अर्घ्य दान कर रहे हों । लावलि पुष्पों का मधुपान कर उन्मत्त भ्रमरगण गुनगुन कर मानो उनका गुणगान करने लगा । पुष्पभार से अवनत बना कर्णिकार वृक्ष मानो उन्हें वन्दना कर रहे हों । पुष्पालंकारों से सज्जित वासन्ती वृक्ष हाथ को तरह नवीन शाखा उद्गत कर मानो उनके सम्मुख जैसे आनन्द से नृत्य करने लगा । ऐसे द्वितीय वसन्त की तरह लता गुल्म और वृक्षों को नवीन शोभा प्रदान करते हुए प्रभु ने उस उद्यान में प्रवेश किया ।

(श्लोक ११६-१२२)

तदुपरान्त शिविका से उतकर उन्होंने माल्य अलंकार आदि

उसी प्रकार खोल दिए जैसे फाल्गुन में वृक्ष अपने पत्तों को झार देते हैं। इन्द्र द्वारा प्रदत्त देवदूष्य कंधे पर धारण कर एक दिन के उपवासी प्रभु ने फाल्गुन मास की अमावस्या तिथि के अपराह्न में चन्द्र जब वरुणा नक्षत्र में अवस्थित था तब छह सौ राजाओं सहित पंचमुष्टि केश उत्पाटन कर दीक्षा ग्रहण कर लो। देवेन्द्र, असुरेन्द्र और नरेन्द्र त्रिलोकीनाथ को प्रणाम कर दान के अन्त में प्रार्थी जैसे घर लौट जाता है उसी प्रकार स्व-स्व आवास को लौट गए।

(श्लोक १२३-१२६)

दूसरे दिन महापुर के राजा सुनन्द के घर क्षीरान्न ग्रहण कर उपवास का पारणा किया। रत्नवर्षा आदि पंच दिव्य देवों ने प्रकट किए और त्रिलोकनाथ के चरण-चिह्नों पर राजा सुनन्द ने रत्नवेदी का निर्माण करवाया। तदुपरान्त प्रभु वहाँ से वायु की भाँति ग्राम, खान नगर आदि में विचरण करने लगे। (श्लोक १२७-१२९)

पृथ्वीपुर नामक नगर में राजाओं के मुकुटमणि रूप पवनवेग नामक एक राजा थे। दीर्घकाल तक राज्य करने के पश्चात् ठीक समय श्रमण सिंह मुनि से उन्होंने दीक्षा ग्रहण कर कठिन तपस्या की और मृत्यु के पश्चात् अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुए। (श्लोक १३०-१३१)

इस जम्बूद्वीप के दक्षिण भरतार्द्ध में विन्ध्यपुर नामक समस्त वैभवों की आकर एक नगरी थी। वहाँ नरशार्दूल और विन्ध्य पर्वत की तरह शक्तिशाली विन्ध्यशक्ति नामक एक राजा राज्य करते थे। शत्रुओं को छिन्न-भिन्न करने में वे रूई के लिए हवा की तरह थे। राजा लोग क्रूर ग्रह की तरह उनके कोदण्ड और भुजदण्ड के भय से कम्पित रहते थे। उनकी भ्रूभंगी और क्रूर दृष्टिमात्र से ही शत्रु भाग छूटते जिससे लगता जैसे उन्होंने उन सबको उदरसात् कर डाला हो। स्व-जीवन की रक्षा के लिए वे शत्रुओं से पूजे भी जाते थे। वे उन्हें कर देते थे। अपने जीवन की रक्षा अर्थदान से भी कर लेना उचित है। (श्लोक १३२-१३६)

एक दिन वे सौधर्म सभा के इन्द्र की तरह अपनी राज-सभा में पात्र, मित्र, अमात्य आदि से परिवृत होकर बैठे थे। उसी समय एक गुप्तचर आया। द्वार-रक्षक उसे भीतर ले आया। वह राजा को प्रणाम कर आसन पर बैठकर धीरे-धीरे कहने लगा—

(श्लोक १३७-१३८)

‘महाराज, आप तो जानते ही हैं—भरतक्षेत्र के दक्षिणार्द्ध में श्री की निवास रूपा साकेत नामक एक नगरी है। वहाँ के राजा का नाम है पर्वत। वे दीर्घबाहु और भरत के सेनापति की तरह सैन्यवाहिनी के अधिकर्ता हैं। उनके गुणमंजरी नामक एक गणिका है। रूप में वह रतिपति के वैभवतुल्य है एवं उर्वशी और रम्भा का भी तिरस्कार करने वाली है। मुझे लगता है उसके मुखचन्द्र के निर्माण के पश्चात् जो परमाणु अवशिष्ट रहे उन्हीं परमाणुओं से विधाता ने पूर्णचन्द्र का निर्माण किया है। उनके आकर्षण विस्तृत नेत्र मानो पूछ रहे हैं मुझसे अधिक सौन्दर्य की बात क्या तुम लोगों ने कहीं सुनी है? उसके वक्षस्थल के स्तन-कुम्भ इतने पूर्ण हैं कि वह अनन्य है। ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिससे उसकी तुलना की जा सके। उसका कटिदेश इतना क्षीण है कि मानो एक साथ रहने के कारण सखा भाव से उसने अपनी विस्तृति वक्ष देश को दे डाली है। उसके हस्त और पदतल कमल की तरह कोमल हैं और उसके रक्तवर्ण अशोक पल्लव को भी क्षिण करता है। गाने में वह कोकिल कण्ठी है, नृत्य में स्वयं उर्वशी और वीणा-वादन में मानो तुम्बरु की सहोदरा है। महाराज, वह स्त्री-रत्न तो एक मात्र आपके ही योग्य है। स्वर्ण और रत्न की तरह आप दोनों का मिलन हो। लवणहीन खाद्य की तरह, चक्षुहीन मुख की तरह, चन्द्रमाहीन रात्रि की तरह गुणसुन्दरी हीन इस राज्य से आपको प्रयोजन ही क्या है?’

(श्लोक १३९-१४९)

उसकी बात सुनकर उन्होंने गुणमंजरी की याचनाकर राजा पर्वत के पास एक मन्त्री को दूत रूप में भेजा। मन्त्री मानो आकाश में उड़ रहा है ऐसे अश्वतरी युक्त यान से शीघ्र साकेतपुर पहुंचा और राजा पर्वत से बोला—

(श्लोक १५०-१५१)

‘राजा विन्ध्यशक्ति आप-से हैं और आप विन्ध्यशक्ति-से हैं। आपका सक्थ महासमुद्र-सा है। दो शरीर होते हुए भी आप एक आत्मा हैं। जो कुछ आपका है वह उनका है, जो उनका है वह आपका है। आपकी गुणमंजरी नामक गणिका की ख्याति उनके कानों तक पहुंची है। कौतुहल से प्रेरित होकर उन्होंने आपको आदेश दिया है कि आप उसे उनके पास भेज दें। आप जैसे बल-शाली और सहोदर तुल्य महाराज विन्ध्यशक्ति को आप गुणमंजरी

प्रदान करें। गणिकाओं के आदान-प्रदान में कोई बुराई नहीं।'।

(श्लोक १५२-१५५)

मन्त्री की यह बात सुनकर लंगुड़ाइत सर्प की तरह राजा पर्वत क्रुद्ध हो उठा। क्रोध से उसके ओष्ठ कांपने लगे। वह बोला :

(श्लोक १५६)

‘तुम क्यों, मेरी प्राणों से भी प्रिय गुणमंजरी को लेना चाहता है उस निष्ठुर विन्ध्यशक्ति को मेरा भाई कह रहे हो? जिसे छोड़ कर मैं एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता उसे वह लेना चाहकर मेरा जीवन ही लेना चाह रहा है। गुणमंजरी की बात तो दूर मैं उसे एक क्रीतदासी भी नहीं दूंगा। वह अपनी शक्ति को समझ कर चाहे मेरा मित्र रहे या शत्रु बने। उठो, जाओ, जो यथार्थ है वह तुम्हारे स्वामी से जाकर कहो। कारण, राजाओं के दूत यथार्थ ही बोलते हैं।’

(श्लोक १५७-१६०)

मन्त्री उठा, इधर-उधर देखा और अपने यान पर चढ़ गया। शीघ्र ही वह विन्ध्यशक्ति के पास पहुंचा और जो कुछ घटित हुआ विस्तृत रूप में कह सुनाया। सब कुछ सुनकर विन्ध्यशक्ति हविः निक्षेप से अग्नि की तरह क्रोध से प्रज्वलित हो उठा। पर्वत की भांति मानो विन्ध्यशक्ति दीर्घकाल का बन्धुत्व भंग कर समुद्र जिस प्रकार अपनी तटभूमि पर आता है उसी प्रकार वह राजा पर्वत के राज्य में पहुंचा। पर्वत भी यान और सैन्यदल लेकर उसके सम्मुखीन हुआ। वीरों का मिलन शत्रुता के कारण होने पर भी मित्र की तरह ही होता है। बहुत दिनों के पश्चात् हाथ की खाज मिटाने की औषधि-सा युद्ध दोनों दलों की अग्रगामी सेना में प्रारम्भ हो गया। क्रीडांगण में युद्धरत हस्तियों की तरह वे कभी आगे आते कभी पीछे हटते। सूत्र में पोए रत्नों की तरह बरछीविद्ध सैनिक ‘हुम’ कहकर बिना गिरे शत्रु के आगे बढ़ गए। श्रेष्ठ धनुर्धारियों द्वारा अनवरत बाण-वर्षा से युद्धक्षेत्र शरवन-सा लगने लगा। लौह मुद्गर, गदा, तोमर जो कि सर्प की तरह शत्रु का जीवन ले रहा था उनके उत्पतन से आकाश आवृत्त हो गया। दोनों पक्षों में चन्द्र-कौमुदी की तरह कभी इस पक्ष की तो कभी उस पक्ष की सामयिक जय से वह बराबर हो गई।

(श्लोक १६१-१७०)

तब पर्वत अपने धनुष पर टङ्कार करता हुआ रथ पर चढ़कर

अनुचरों सहित युद्ध क्षेत्र में उपस्थित हुआ। उसने बाण-वर्षण से शत्रु-सैन्य को एवं सेना के पैरों से उड़ी धूल से आकाश को ढक दिया। मुहूर्त भर में वह सिंह जैसे हस्ती समूह में प्रवेश कर उनकी हत्या करता है उसी प्रकार शत्रु सैन्य में प्रवेश कर उन्हें यम के मुख में भेजने लगा। अप्रतिहत वह विन्ध्यशक्ति की सेना को वायु जिस प्रकार वृक्षों को उखाड़ फेंकता है उसी प्रकार उखाड़ने लगा। अपनी सेना को ध्वंस होते देख दीर्घबाहु विन्ध्यशक्ति अपने शत्रु-सैन्य को ध्वंस करने के लिए प्रलयकाल की रात्रि के सहोदर यम की तरह उठ खड़ा हुआ। सर्प जिस प्रकार गरुड़ के आक्रमण को प्रतिहत नहीं कर सकता, हरिण सिंह का उसी प्रकार राजा पर्वत विन्ध्य-शक्ति के उस आक्रमण को प्रतिहत नहीं कर सका।

(श्लोक १७१-१८०)

अपनी सेना को छिन्न-भिन्न होते देख पर्वत युद्ध करने के लिए जैसे ही आगे आया तो अपने को दण्ड और भुजदण्ड पर अभिमानी विन्ध्यशक्ति ने उस पर आक्रमण किया। परस्पर युद्ध करने के अभिलाषी वे दोनों राजा लौहतोर, तद्वल (सूक्ष्मतोर), यम के दन्त से अर्द्ध चंद्रतीरों का प्रयोग करने लगे। वे दोनों अपने-अपने विपक्षियों के रथ, अश्व और सारथियों को निहत करने लगे मानो वे अपनी पराजय का ऋण चुका रहे हों। तदुपरान्त अन्य रथ पर चढ़कर पृथ्वी के प्रत्यन्त पर दोनों पर्वत-सा पर्वत और विन्ध्यशक्ति एक दूसरे के सम्मुखीन हुए। अन्ततः राजा विन्ध्यशक्ति ने अपनी समस्त शक्ति लगाकर पर्वत को विषहीन सर्प की तरह अस्त्रहीन व शक्तिहीन कर दिया। विन्ध्यशक्ति से पराजित वृहद हस्ती द्वारा पराजित छोटे हस्ती की तरह वगैर पीछे देखे पर्वत भाग छूटा। तब विन्ध्यशक्ति ने गणिका गुणमञ्जरी सहित पर्वत का राज्य, वैभव, हस्ती आदि ग्रहण कर लिया। कारण, वैभव उसी का होता है जो शक्तिशाली होता है। अपना कार्य समाप्त कर विन्ध्यशक्ति युद्ध रूपी महासमुद्र से जलपूर्ण मेघ की तरह विन्ध्यपुर में लौट गया।

(श्लोक १८१-१८४)

शिकार पर टूट पड़ने के पश्चात् भी शिकार को प्राप्त न कर सकने वाले बाघ की तरह, वृक्ष-शाखा से पतित बन्दर की तरह, युद्ध में पराजित पर्वत ने लज्जित होकर आचार्य सम्भव से श्रमण

दीक्षा ग्रहण कर ली। उसने दीर्घ तपश्चर्या कर यह निदान किया कि अगले जन्म में मैं विन्ध्यशक्ति को पराजित करने वाला बनूँ। रत्न के विनिमय में तुषक्रय की भाँति इस निदान ने उनकी समस्त तपश्चर्या को विफल कर दिया। वे अन्तर्धान द्वारा देह त्याग कर आयत नामक स्वर्ग में देव रूप में उत्पन्न हुए। (श्लोक १८५-१८८)

विन्ध्यशक्ति ने दीर्घ दिनों तक संसार अरण्य में भ्रमण कर एक जन्म में जैन धर्म अङ्गीकार किया व मृत्यु के उपरान्त कल्पोत्पन्न देव रूप में उत्पन्न हुए। वहाँ से च्यवकर वे विजयपुर के राजा श्रीधर और रानी श्रीमती के तारक नामक पुत्र रूप में जन्मे। वे सत्तर धनुष दीर्घ काजल से कृष्णवर्णीय और अमित बल के अधिकारी हुए। उनका आयुष्य बहत्तर लाख वर्ष था। पिता की मृत्यु के पश्चात् उन्हें चक्र प्राप्त हुआ फलतः उन्होंने अर्द्ध भरत जय किया। कारण, प्रतिवासुदेव अर्द्ध भरत के अधिकारी होते हैं।

(श्लोक १८९-१९२)

सौराष्ट्र की मुख-मण्डन रूप द्वारिका नामक एक नगरी थी जिसके प्राकार मूल को पश्चिम समुद्र सदैव धौत करता। वहाँ के राजा ब्रह्मा थे। उनकी शक्ति अक्षीण थी। उन्होंने इन्द्र के प्रतिस्पर्धी के रूप में सभी को अवदमित किया था। सुभद्रा और उमा नामक उनकी दो पत्नियाँ थीं। लवण-समुद्र की जिस प्रकार गङ्गा और सिन्धु दो प्रधान नदियाँ हैं उसी प्रकार उनके अन्तःपुर में सुभद्रा और उमा दो प्रधान थीं। मन्मथ जिस प्रकार रति और प्रीति के साथ रमण करते हैं उसी प्रकार वे उन दोनों रानियों के साथ रमण करते थे।

(श्लोक १९३-१९६)

पवनवेग का जीव अनुत्तर विमान से च्युत होकर रानी सुभद्रा के गर्भ में प्रविष्ट हुआ। सुख-शय्य पर सोई रानी सुभद्रा ने बलराम के जन्मसूचक चार महास्वप्न देखे। गङ्गा जिस प्रकार श्वेत कमल को, पूर्व दिशा जिस प्रकार चन्द्रमा को जन्म देती है उसी प्रकार उन्होंने यथासमय स्फटिक-से स्वच्छ एक पुत्र को जन्म दिया। राजा ब्रह्मा ने बन्धियों को मुक्त करना आदि कार्य कर पृथ्वी को आनन्दित किया और पुत्र का नाम रखा विजय। विभिन्न कार्यों के लिए नियुक्त पाँच धात्रियों द्वारा लालित होकर वे अपने देह-सौन्दर्य के साथ क्रमशः बड़े होने लगे। खेलने के साथ हिलते हुए कर्णाभूषणों

से, आन्दोलित रत्न-हारों से, स्वर्ण-छुरिका सह स्वर्ण-मेखला से, घण्टिका युक्त स्वर्ण-नूपुरों से और कुञ्चित केशनाम से वे जिसके आनन्द को वर्द्धित करने में समर्थ नहीं थे ? (श्लोक १९७-२०३)

राजा पर्वत का जीव जब प्राणत नामक स्वर्ग से च्युत हुआ तब हंस जैसे सरोवर में अवतरित होता है उसी प्रकार वे रानी उमा के गर्भ में अवतरित हुए। वे जब सुख-शय्या पर सोयी हुई थीं उन्होंने वासुदेव के जन्म-सूचक सात महास्वप्नों को अपने मुख में प्रवेश करते देखा। नौ मास साढ़े सात दिन व्यतीत होने पर वर्षा ऋतु जैसे मेघ को जन्म देती है उसी प्रकार रानी उमा ने कृष्णवर्ण एक पुत्र को जन्म दिया। पुत्र-जन्म के आनन्द से मानो ब्रह्मानन्द प्राप्त हुआ हो ऐसे राजा ब्रह्मा ने धनदान देकर प्रार्थियों को आनन्दित किया। जिस दिन ग्रह, नक्षत्र और चन्द्रमा शुभ लग्न में अवस्थित था उस दिन उत्सव सहित उन्होंने पुत्र का नाम रखा द्विपृष्ठ। (श्लोक २०४-२०८)

विभिन्न कार्यों के लिए नियुक्त पाँच धात्रियाँ उसी प्रकार उनका लालन-पालन करने लगीं जिस प्रकार प्रांगण में लगी अशोक वृक्ष की सेवा आश्रम-कन्याएँ करती हैं। गिरगिट की तरह प्राणवान द्विपृष्ठ जब दौड़ते-उछलते, इच्छानुसार विचरण करते तब धात्रियाँ उन्हें पकड़ नहीं पातीं। पिता-माता और अग्रज के सम्मुख इसी प्रकार द्वितीय वासुदेव बड़े होने लगे। बलराम विजय स्नेह के वशवर्ती बने छोटी धात्री की तरह उन्हें कभी कमर पर, कभी छाती पर, कभी गले पर, कभी पीठ पर बैठाकर बाहर ले जाते। स्नेह के वशीभूत हुए द्विपृष्ठ भी विजय का अनुकरण कर खड़े होते, चलते, बैठते, खाते और सोते। पिता के आदेश से अलङ्घ्य वासुदेव और बलराम ने यथासमय उपयुक्त शिक्षकों से समस्त विद्या अधिगत कर ली। दोनों भाई जिनमें एक गौरवर्ण और दूसरा कृष्ण वर्ण का था अतल क्षीर समुद्र और लवण समुद्र-से प्रतिभासित होते थे। गाढ़ा नीला और पीत वस्त्र पहनने वाले तालध्वज और गरुडध्वज राजा तारक के आदेश की अवहेलना करने लगे। (श्लोक २०९-२१६)

एक गुप्तचर ने उनकी अपराजेयता, बल और उनके द्वारा किया गया तारक के आदेश का विरोध और अवहेलना देखी। उसने तारक से जाकर कहा—‘महाराज, द्वारिकाधिपति के दोनों

पुत्र सखा अहङ्कारी हैं ! वे मिलित् वायु और अग्नि की तरह आपका आदेश नहीं मानते हैं । उनमें शस्त्र-ज्ञान और विद्या एक साथ अवस्थित है । उनका बाहुबल अलङ्कार तुल्य है । आपकी तुलना में उनकी शक्ति का बढ़ना उचित नहीं है । महाराज, मैं तो मात्र गुप्तचर हूँ, जो कुछ करणीय है वह आप करें ।' (श्लोक २१७-२२०)

यह सुनकर तारक क्रुद्ध हो उठा । उसके नेत्रों के तारे धूमने लगे । उसने अपने अनन्य शक्तिशाली सेनापति को आदेश दिया— 'पूर्ण ध्यान से युद्ध की तैयारी करो और आज ही युद्ध प्रयाण की भेरी बजवाओ एवं सामन्तों को सूचना दो । तुम जाकर दुष्ट राजा ब्रह्मा की पुत्रों सहित हत्या कर दो । दुष्ट क्षत्र की तरह शत्रु की उपेक्षा करने पर वह विषोत्पादक हो जाता है ।' (श्लोक २२१-२२२)

राजा की यह आज्ञा सुनकर मंत्री बोले— 'महाराज भलीभाँति पहले सोच विचार करें । राजा ब्रह्मा आपका सामन्त और अनुगत है । बिना कारण उस पर आक्रमण करना उचित नहीं है । इससे अन्य सामन्त राजाओं के मन में भी अविश्वास उत्पन्न हो जाएगा । जिनके मन में अविश्वास उत्पन्न हो जाता है वे विश्वास नहीं रख सकते । फिर बिना विश्वास के वे आपकी आज्ञा का पालन कैसे करेंगे ? इस प्रकार आपका प्रभुत्व ही कहाँ रह पाएगा ? अतः उन पर कोई आरोप लगाना होगा । पुत्रों के अहङ्कार से अहङ्कारी राजा पर आरोप लगाना खूब सहज है । आप उसके यहां दूत भेज कर दण्ड स्वरूप उसके प्राणों से प्रिय श्रेष्ठ हस्ती, अश्व और रत्नादि की मांग करें । यदि वह नहीं दे तो इस बहाने उसकी हत्या की जा सकती है । अपराधी को सजा देने में लोग आपकी निन्दा नहीं नहीं करेंगे । यदि आप जो कुछ चाहते हैं वे सब वह दे दें तब दूसरा बहाना खोजना होगा । किसी भी कारण से कोई भी व्यक्ति अपराधी हो सकता है ।' (श्लोक २२३-२३०)

मन्त्री का कथन युक्तियुक्त होने के कारण राजा ने उसे स्वीकार कर लिया और तत्काल गुप्त आदेश देकर गुप्तचर को द्वारिका भेजा । दूत शीघ्र द्वारिका पहुंचा और राजा ब्रह्मा, द्विपृष्ठ और विजय सहित जहां बैठे थे वहां उपस्थित हुआ । ब्रह्मा ने दूत को आदर सहित अपने पास बैठाया और बहुत देर तक उससे

वात्तालाप किया। साथ ही उसके आने का कारण पूछा।

(श्लोक २३१-२३३)

तब दूत बोला—‘महाराज, मेरे प्रभु शत्रु के गर्व को खर्व करने वाले महाराज तारक ने आपको यह आदेश दिया है कि आपके राज्य में जो श्रेष्ठ हस्ती, अश्व व रत्नादि हैं उन सभी को राजा को प्रदान कर दें। कारण, भरत क्षेत्र के दक्षिण भाग में जितने भी श्रेष्ठ द्रव्य हैं उन पर अर्द्ध भरत के अधीश्वर तारक का अधिकार है, अन्य किसी का नहीं।’

(श्लोक २३४-२३६)

यह सुनकर उल्लू द्वारा क्रोधित सिंह को तरह मानो वे दूत को दग्ध कर देंगे ऐसी दृष्टि से देखते हुए द्विपृष्ठ बोले—‘न वे हमारे वंश के ज्येष्ठ पुरुष हैं, न रक्षक, न अधीश्वर। हम जब अपना राज्य शासन कर रहे हैं तब हमारे अधीश्वर कैसे हुए? वे तो मात्र बाहुबल के कारण हमसे हस्ती, अश्व और रत्न चाह रहे हैं तो हम भी बाहुबल के कारण हस्ती, अश्व और रत्न मांग रहे हैं। दूत, तुरन्त जाओ और उन्हें जाकर कहो कि हम उसका मस्तक सह हस्ती, अश्व और रत्नादि लेने उनके सम्मुख उपस्थित हो रहे हैं।’

(श्लोक २३७-२४०)

द्विपृष्ठ के ऐसे गर्व भरे और हठकारी वाक्यों से क्षुब्ध होकर दूत तत्काल वहां से प्रस्थान कर तारक के निकट पहुंचा और सारी घटना उसे निवेदित की। मद झरते हस्ती पर जिस प्रकार अन्य मद झरने वाला हस्ती क्रोधित होता है उसी प्रकार वासुदेव के कथन से क्रुद्ध होकर तारक ने तुरन्त युद्धभेरी बजवा दी। युद्धभेरी सुनते ही सैन्य, सामन्त, मन्त्री, सेनापति, राजन्य और रथीगण दीर्घकाल के पश्चात् प्राप्त यम के सहोदर तुल्य युद्ध के लिए जिनके हाथ खुजला रहे थे राजा के सम्मुख उपस्थित हुए। जब तारक ने युद्ध-यात्रा प्रारम्भ की तो भूमिकम्प, वज्रपात, कौवे की काँ काँ ध्वनि की तरह अशुभ चिह्न प्रकट हुए। क्रुद्ध अर्द्धचक्री ने बिना इसकी परवाह किए, बिना विश्राम लिए शीघ्र ही पथ अतिक्रमण किया।

(श्लोक २४१-२४६)

इधर ब्रह्मा और विजय सहित द्विपृष्ठ सैन्यवाहिनी लिए आक्रमण करने को सिंह की तरह गरजते उनके सम्मुख आए। युद्धोन्माद के कारण देह फूल उठने से उनके कवच छिल हो जाने

पर भी उभय पक्ष के सैनिकों ने किसी प्रकार अस्त्र धारण किए । मृत्यु का आहार प्रस्तुत करने वाली पाकशाला की तरह महाहत्या के कारण रूप दोनों ने परस्पर आक्रमण किए । दोनों पक्षों के लक्ष-लक्ष छत्रधारी निहत हुए । सैनिकों की संख्या तो देनी ही असम्भव थी । युद्ध क्षेत्र रक्त रूप जल और छत्र रूप कमल से यम की तरह क्रीड़ावापी में परिणत हो गया था । (श्लोक २४७-२५१)

तब द्विपृष्ठ ने जैत्र नामक रथ पर चढ़कर पाञ्चजन्य शङ्ख बजाया जिसकी ध्वनि युद्ध-विजय के मन्त्रोच्चार-सी थी । सिंह के गर्जन से जैसे हरिण कांप जाता है, वज्रपात शब्द से हंस, वैसे ही तीव्र शङ्ख ध्वनि सुनकर तारक की सेना कांप गई । अपनी सेना को त्रस्त होते देखकर उन्हें लज्जित और पीछे अवस्थान करने को कहकर तारक स्वयं रथ पर आरोहण कर द्विपृष्ठ के सम्मुख आया । हलधर बलराम सहित वासुदेव ने इन्द्र जैसे अपना ऋजुरोहित धनुष कम्पित करते हैं उसी प्रकार सारंग धनुष को कम्पायमान किया । तारक भी स्व-धनुष को कम्पित कर तूणीर से तीर निकाल कर यम से दृढ़ हस्त-से उस तीर को प्रत्यंचा पर चढ़ाया । तारक ने तीर निक्षेप किया; किन्तु वासुदेव ने मध्य पथ पर ही उसे काट दिया । इस प्रकार तीर निक्षेप और तीर काट देना यही युद्ध दोनों में बहुत देर तक चला । गदा, मुद्गर, शूल जैसे जो भी अस्त्र तारक निक्षेप करता वासुदेव उसके विपरीत अस्त्र से उसे विनष्ट कर देते । (श्लोक २५२-२५८)

तब तारक ने युद्ध रूपी समुद्र के क्रूर मकरतुल्य चक्र को धारण किया । क्रोध और आश्चर्य से स्फुरित ओष्ठों से वह द्विपृष्ठ से बोला—‘यद्यपि तू दुराचारी है फिर भी तुझ पर दया कर मैं तुझे मारूँगा नहीं कारण तू मेरा आज्ञाकारी सामन्त का पुत्र है और बालक है ।’ (श्लोक २५९-२६०)

विजय के अनुज द्विपृष्ठ ने भी हँसते हुए उत्तर दिया—‘मुझ वासुदेव पर करुणा करते तुझे लज्जा नहीं आती । यद्यपि तू मेरा शत्रु है फिर भी मैं तुझे क्षमा करता हूँ । यदि तुम चक्र पर निर्भर हो तो चक्र चलाओ और अपना कार्य शेष कर तुम निर्विघ्न चले जाओ । जो वार्द्धक्य के कारण मृत्यु के सन्निकट है उसे कौन मारेगा ।’ (श्लोक २६१-२६३)

तिल निक्षेप करने से जैसे अग्नि प्रज्ज्वलित होती है उसी प्रकार द्विपृष्ठ के इस वाक्य से क्रुद्ध होकर तारक चक्र को अपने मस्तक पर घुमाने लगा । कुछ क्षण आकाश में घुमाकर उस प्रलयकारी मेघ की तरह विद्युत् उद्गीर्णकारी चक्र को द्विपृष्ठ पर निक्षेप किया । उस चक्र ने जो कि कौस्तुभ का ही मानो भिन्न रूप हो इस प्रकार नाभि प्रान्त से हरि के वक्ष देश पर आघात किया । उस आघात से मूर्च्छित होकर द्विपृष्ठ रथ में गिर पड़े । यह देखकर विजय अपने वस्त्र प्रान्त से उन्हें हवा करने लगे । कुछ देर में ही संज्ञा लौट आने पर, उस मन्त्री की तरह जिसके साथ थोड़ी देर पहले ही विवाद हुआ था; किन्तु वह पुनः लौट आया हो उस प्रकार उस चक्र को धारण किया और तारक से बोले—‘यह चक्र ही तुम्हारा आधार था । इसकी शक्ति तो तुमने देख ही ली है अतः अब अपने प्राण बचाओ और युद्ध क्षेत्र का परित्याग करो । जीवित रहने पर बहुत कुछ देखोगे ।’

(श्लोक २६४-२६९)

तारक बोला—‘मैंने चक्र फेंका था । कुक्कुर जैसे निक्षिप्त ढेले को उठा लेता है उसी प्रकार चक्र को उठा कर तुम और क्या कर सकते हो ? करो, मुझ पर चक्र निक्षेप करो । मैं उसे पकड़ कर या हाथों के आघात से ही मिट्टी के ढेले की तरह चूर-चूर कर दूँगा ।’

(श्लोक २७०-२७१)

घूर्णायमान सूर्य की तरह वासुदेव ने उस चक्र को घुमाकर खेचरों को भयाक्रान्त करते हुए प्रतिवासुदेव पर छोड़ दिया । पद्मनाभ की तरह वह चक्र तारक का सिरच्छेद कर पुनः वासुदेव के हाथ में लौट आया । द्विपृष्ठ पर आकाश से पुष्पवर्षा हुई और तारक पर बरसा उसके अन्तःपुर की रमणियों का अश्रुजल । जितने भी राजा लोग तारक के पक्ष में थे अब अधिक शक्तिशाली के सम्मुख नत होकर द्विपृष्ठ से अपना बचाव किया । शक्तिशाली से ऐसा करना ही लाभजनक है ।

(श्लोक २७२-२७५)

विराट् सैन्यवाहिनी से परिवृत्त होकर द्विपृष्ठ ने केवल युद्ध-यात्रा करके ही समग्र दक्षिण भरताड़ को जय कर लिया । उन्होंने एक सामन्त की तरह सहज ही मगध, वरदाम और प्रभासपति को जीत लिया । युद्ध जय कर वे मगध गए जहाँ एक बृहद् प्रस्तर शिला जिसे कि एक कोटि मानव उठा सकते थे शत्रुनाशकारी द्विपृष्ठ

ने उसी शिला को हस्ती जैसे पद्मनाल को उठाता है उसी प्रकार सहज ही बाएँ हाथ से अपने ललाट तक उठा लिया । तदुपरान्त उसे यथा स्थान रखकर महाशक्तिशाली द्विपृष्ठ द्वारिका को लौट गए । राजा ब्रह्मा और विजय ने उन्हें सिंहासन पर बैठाया । सभी राजन्य वर्ग ने अर्द्धचक्री के राज्यारोहण के उत्सव को मनाया ।

(श्लोक २७६-२८१)

उधर एक मास पर्यन्त छद्मावस्था में विचरण कर त्रिलोक-पति वासुपूज्य जहाँ उनका दीक्षा महोत्सव अनुष्ठित हुआ था उसी विहारगृह उद्यान में लौट आए । वहाँ जब वे पाटल वृक्ष के नीचे ध्यान में अवस्थित थे तब सूर्योदय जैसे अन्धकार को दूर करता है उसी प्रकार द्वितीय शुक्ल ध्यान के समय घाती कर्म क्षय हो जाने से उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ । माघ मास के शुक्ल पक्ष की द्वितीय तिथि को जन्म जब शतभिषा नक्षत्र में अन्तर्स्थित था तब एक दिन के उपवासी प्रभु को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ । (श्लोक २८२-२८४)

प्रभु ने देव निर्मित समवसरण में बैठकर सूक्ष्म आदि छियासठ गणधरों के सामने देशना दी । (श्लोक २८५)

उसी समवसरण में उनके शासन देव श्वेतवर्ण हंसवाहन कुमार नामक यक्ष उत्पन्न हुए जिनके दोनों दाहिने हाथों में क्रमशः विजोरा नीबू और तीर था एवं दोनों बाएँ हाथों में नेवला और धनुष था । इस प्रकार कृष्णवर्ण अश्ववाहन चन्द्रा नामक यक्षिणी उनकी शासन देवी के रूप में उत्पन्न हुईं जिनके दोनों दाहिने हाथों में से एक वरद् मुद्रा में और दूसरे में वर्रा था । बाएँ हाथों के एक में फूल और दूसरे हाथ में धनुष था । वे सर्वदा भगवान् के पास-पास ही रहते थे । (श्लोक २८६-२८९)

उनके साथ पृथ्वी पर भ्रमण करते हुए भगवान् वासुपूज्य एक दिन द्वारिका के सन्निवट पहुँचे । उस समय इन्द्र और देवों ने अशोक वृक्ष सहित वहाँ समवसरण की रचना की । वह अशोक वृक्ष ८४० धनुष ऊँचा था । भगवान् उस अशोक वृक्ष की परिक्रमा देकर तीर्थ को नमस्कार कर पूर्वाभिमुखी रखे हुए सिंहासन पर जाकर बैठ गए । उनकी शक्ति से देवों ने अन्य तीन ओर उनके प्रतिबिम्ब की रचना कर उन्हें स्थापित किया जो कि उनके जैसे ही लग रहे थे । चतुर्विध संघ भी उस समवसरण में यथा स्थान जाकर बैठ गए ।

मध्य प्राकार के मध्य पशु और बाहरी प्राकार के मध्य वाहन रखे गए ।
(श्लोक २९०-२९४)

राजा के अनुचरों ने यह संवाद आनन्द-विस्फारित नेत्रों से द्विपृष्ठ को जाकर बताया कि समवसरण में प्रभु आए हैं । वासुदेव ने उसे साढ़े बारह कोटि रौप्य दान किया और विजय सहित प्रभु के समवसरण में गए । उन्हें प्रदक्षिणा देकर एवं वन्दना कर बलराम सहित वे इन्द्र के पीछे जा बैठे । त्रिलोकपति को पुनः वन्दना कर इन्द्र, द्विपृष्ठ और विजय ने निम्नलिखित स्तुति की :

(श्लोक २९५-२९८)

‘एक ओर जैसे दुर्दिन की भयंकर आवोहवा है दूसरी ओर वैसे ही समुद्र-तरंगों की तरह नवीन-नवीन आशाओं का मोहजाल है । एक ओर समुद्र-दानव की तरह मीन केतन है दूसरी ओर प्रतिकूल हवा की भाँति दुर्दम इन्द्रिय विषय है । एक ओर काम क्रोधादि रूप घूर्णित आवर्त्त है दूसरी ओर द्वेषादिरूप पर्वत का विवर है । एक ओर विशाल तरंगों की तरह दुर्भाग्य है अन्य ओर बड़बानल की तरह दुःखदायक आर्त्तध्यान है । एक ओर लता की तरह वेष्टन-कारी स्वार्थान्धता है अन्य ओर क्रूर कुम्भी की तरह रोग-ताप है । हे भगवन्, अपार इस संसार-सागर में बहुत काल से पतित मनुष्यों का उद्धार करें । वृक्ष के फूल और फलों की भाँति आपका केवल ज्ञान और दर्शन, हे त्रिलोकीनाथ, अन्य के उपहार के लिए है । आज हमारा जन्म सार्थक हुआ है, हमारा कुल सार्थक हुआ है कारण आज हमें आपकी वन्दना करने का सौभाग्य मिला है ।’

(श्लोक २९९-३०६)

इस प्रकार स्तुति कर इन्द्र बलराम और वासुदेव निवृत्त हुए । तदुपरान्त भगवान् वासुपूज्य ने निम्नलिखित देशना दी :

‘इस अपार संसार रूपी समुद्र में जूआ और शमिला के संयोग की तरह धर्मानुष्ठान के लिए मनुष्य-भव-प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है । जिन प्रवृत्त धर्म ही संसार में सर्वश्रेष्ठ है—कारण इसका अवलम्बन लेने वाला कभी संसार-सागर में नहीं डूबता । यह धर्म संयम, सत्य, शौच, ब्रह्मचर्य, निष्परिग्रहता, तप, क्षमा, मृदुता, सरलता और निर्लोभता रूप दस प्रकार का है । धर्म के प्रभाव से जो कुछ चाहा जाता है वही पाया जाता है । ऐसा कल्पवृक्ष भी मिल जाता है जो

अधर्मी के लिए अलभ्य है। यह धर्म सदा साथ रहता है और वात्सल्य के साथ संसार-विपाक में पतित मनुष्यों की रक्षा करता है। समुद्र जो कि पृथ्वी को डुबाता नहीं और मेघ जो पृथ्वी को समृद्ध करता है यह धर्म के प्रभाव से ही होता है। अग्नि शिखा जो तियं-कगामी नहीं होती, वायु उर्ध्वगामी यह धर्म का ही अमोघ प्रभाव है। यह पृथ्वी जो कि अवलम्बनहीन आधारहीन होकर स्थिर है, जो सबका आधारभूत है, वह भी धर्म के प्रभाव से ही है। धर्म के शासन में ही लोक-कल्याण के लिए सुन्दर और सूर्य आलोक दान करते हैं। धर्म ही भ्रातृहीन का भाई है, बान्धवहीन का बन्धु, अनाथों का नाथ और सबका उपकारी है। धर्म ही जीव को नरक-पतन से बचाता है, धर्म ही सर्वज्ञ को अनन्तवीर्य प्रदान करता है।

(श्लोक ३०७-३१८)

‘इस दसविध धर्म को मिथ्यादृष्टि लोग तात्त्विक दृष्टि से अभी नहीं देखते। यदि कोई इसका उल्लेख भी करे तो यह मात्र शब्दों का खेल होता है। जो जिन-धर्म के अनुसरणकारी हैं, केवल उन्हीं के मन, वचन व क्रिया द्वारा तत्त्वार्थ सुन्दर रूप से परिस्फुटित होता है। वेद के अध्ययन से ही जिस ब्राह्मण की बुद्धि आच्छन्न है वह धर्म रत्न के विषय में कुछ नहीं जानता। जो गोमेघ, अश्वमेघ, नरमेघ आदि अनुष्ठानों में जीवों की हत्या करते हैं उन्हें धर्म कैसे प्राप्त हो सकता है? असम्भव, असत्य और परस्पर विरोधी विषयों से भरे पुराणों की जिन्होंने रचना की है उनके पास क्या धर्म रह सकता है? जो परद्रव्य-हरण के बारे में सोचते हैं और अग्नि एवं जल से शुद्धि का विधान देते हैं ऐसे स्मृति को जानने वाले ब्राह्मणों में क्या शुद्धता रह सकती है? स्त्री-सेवन नहीं कर ऋतुकाल का जो उल्लंघन करते हैं उन्हें गर्भहत्या का पाप होता है ऐसे विधानों में ब्रह्मचर्य को नष्ट करने वाले ब्राह्मणों में धर्म कहां? यद्यपि वे देना नहीं चाहते फिर भी यज्ञकारी यजमानों से अर्थ ग्रहण करने के अभिलाषी और अर्थ के लिए जीवन देने को प्रस्तुत ब्राह्मण निष्परि-ग्रही कैसे हो सकते हैं? सामान्य से अपराध के लिए भी जो क्षण भर में श्राप देने को तैयार रहते हैं ऐसे लौकिक साधुओं में क्षमा लेशमात्र भी नहीं होती। जिनका हृदय जाति आदि के मद से परिपूर्ण है ऐसे ब्राह्मणों के चार आश्रमों में से किसी एक आश्रम में

भी विनय कैसे रह सकता है ? बाहर से बगुला धार्मिक और अन्तर में दम्भ एवं कामनाओं से भरे मिथ्या आश्रयी संन्यासियों में सरलता नहीं रह सकती । पुत्र, कलत्र, गृह आदि के साथ रहने वाले ब्राह्मणों में निर्लोभता कैसे आ सकती है ? (श्लोक ३१९-३३०)

‘राग, द्वेष, माया विवर्जित और सर्वज्ञ प्रतिवेदित धर्म ही कल्याणकारी और निर्दोष है । राग-द्वेष और माया के लिए ही लोग झूठ बोलते हैं । इसके अभाव में अहंत्वाणी में मिथ्या आ ही नहीं सकती । जिसका चित्त राग-द्वेषादि द्वारा कलुषित है उसके मुख से सत्य वचन प्रकट नहीं हो सकते । जो घी से यज्ञ-हवनादि किया करते हैं, बावड़ी, कुआँ, सरोवर, नदी आदि के निर्माण करने से पुण्य होता है । कहते हैं, पशु-हत्या कर इहलोक और परलोक के सुखों की आशा करते हैं, ब्राह्मण भोज करा कर परलोकगत आत्मा को तृप्त कर रहे हैं कहते हैं, पर-स्त्री का संग कर घृत योनि दान से परिशुद्ध होना सोचते हैं, पाँच प्रकार की आपत्ति (नष्ट, मृत, प्रव्रजित, क्लीब व पतित) उपस्थित होने पर स्त्रियों का पुनर्विवाह करते हैं, स्त्री में यदि पुत्र उत्पन्न करने की क्षमता हो तो पुत्राभाव से उसे क्षेत्रज पुत्र उत्पन्न करवाते हैं, दूषित स्त्री रजस्त्राव से शुद्ध हो जाती है ऐसा कहते हैं, वैभव के लिए सोम यज्ञ में अज वध कर उसका पुरुषाङ्ग भक्षण करते हैं, सौत्रामणि यज्ञ में मदिरा पानकर कल्याण की कामना करते हैं, अखाद्य भक्षण कर गो-स्पर्श से पवित्र बनते हैं, जल आदि से स्नान मात्र करके ही परिशुद्ध हो जाते हैं, वट, पीपल, आवला आदि वृक्षों का पूजन करते हैं, अग्नि में निक्षिप्त हव्य से देवताओं का तृप्त होना मानते हैं, जमीन पर दुग्ध दोहन करने से अरिष्ट शान्ति होना सोचते हैं, स्त्रीभाव से देवों की उपासना करते हैं, दीर्घ जटा, त्रिपुण्ड्र, भष्मलेपन और कौपिन धारण में धर्म मानते हैं, जी, आकन्द, धतूरा मालूर आदि फूलों से देवताओं की पूजा करते हैं, जो बार-बार नितम्बों पर आघात कर गीत-नृत्य करते हैं और मुख-निःसृत शब्द से वाद्य-यन्त्रों की ध्वनि को मन्द कर देते हैं, देव-मुनि और मनुष्यों को जो अपशब्द से सम्बोधित करते हैं, व्रत भङ्ग कर जो देव-दासियों का दासत्व करते हैं, जो अनन्तकामिक फल-मूल और कन्द भक्षण करते हैं, स्त्री पुत्र सहित तपोवन में वास करते हैं, जो भक्ष्याभक्ष्य, पेयापेय और गम्यागम्य

का विवेक छोड़कर योगी नाम से प्रसिद्ध होते हैं और 'जिन वाक्य' ने जिनके हृदय को स्पर्श नहीं किया हो उनके पास धर्म कहां? उसका फल भी कहां? फिर उनके धर्म की प्रामाणिकता ही क्या है? (श्लोक ३३१-३४७)

'जिन-प्रोक्त धर्म फल इहलोक व परलोक में मुक्ति या मोक्ष है जो कि सब में अन्तर्निहित है। धान्य वपन करने पर उसके आनुषंगिक रूप में जैसे बिचाली तुष आदि प्राप्त होते हैं उसी प्रकार जिन-प्रोक्त धर्म के आचरण का मुख्य फल मोक्ष है इस लोक का सांसारिक सुख गौण है।' (श्लोक ३४८-३४९)

ऐसा उपदेश सुनकर बहुत से लोगों ने श्रमण धर्म को अङ्गीकार कर लिया। द्विपृष्ठ और विजय ने सम्यक्त्व ग्रहण किया। दिन का प्रथम याम शेष होने पर प्रभु ने अपनी देशना समाप्त की। द्वितीय याम में उनके मुख्य गणधर ने संक्षिप्त देशना दी। देशना शेष होने पर प्रभु वहां से प्रव्रजन कर पृथ्वी पर विचरण करने लगे। तदुपरान्त इन्द्र, वासुदेव, द्विपृष्ठ, बलदेव और विजय स्व-स्व निवास को लौट गए। (श्लोक ३५०-३५२)

भगवान् वासुपूज्य के तीर्थ में ७२ हजार साधु, १ लाख साध्वियां, १ हजार २ सौ चतुर्दश पूर्वधर, ५ हजार ४ सौ अवधि-ज्ञानी, ६ हजार १ सौ मनःपर्यायज्ञानी, ६ हजार केवली, १० हजार वैक्रियलब्धि सम्पन्न, ४ हजार ७ सौ वादी, २ लाख १५ हजार श्रावक एवं ४३ लाख ६ हजार श्राविकाएँ थीं। केवलज्ञान से १ मास कम ५४ लाख वर्षों तक प्रभु ने इस पृथ्वी पर विचरण किया। (श्लोक ३५३-३५८)

मुक्ति का समय निकट जानकर प्रभु चम्पा नगरी में लौट आए और वहां ६ सौ मुनियों सहित अनशन ग्रहण कर लिया। एक महीने के पश्चात् आषाढ़ शुक्ल चतुर्दशी को चन्द्र जब उत्तरा भाद्रपदा नक्षत्र में था तब उन ६ सौ मुनियों सहित प्रभु मोक्ष पधार गए। प्रभु १८ लाख वर्षों तक कुमारावस्था में रहे, ५४ लाख वर्षों तक श्रमण रूप में रहे। अतः कुल ७२ लाख वर्षों तक पृथ्वी पर विचरण किया। श्रेयांसनाथ के ५४ सागर वर्ष पश्चात् वासुपूज्य स्वामी का निर्वाण हुआ। इन्द्र और देवों ने प्रभु और अन्य मुनियों का यथोचित सत्कार किया। (श्लोक ३५९-३६३)

महाभारम्भ और महापरिग्रहयुक्त, सिंह-से निर्भीक, देवताओं-से प्रमादी इच्छानुसार भोग भोगकर वासुदेव द्विपृष्ठ आयुष्य पूर्ण होने पर षष्ठ नरक तमःप्रभा में उत्पन्न हुए । वे ७५ हजार वर्षों तक कुमारावस्था में, ७५ हजार वर्षों तक माण्डलिक रूप में, १ सौ वर्ष तक दिग्विजय में और ७२ लाख ४९ हजार ९ सौ वर्षों तक वासुदेव रूप में रहे । वासुदेव की मृत्यु के पश्चात् बलदेव विजय अपना ७५ लाख वर्षों का आयुष्य पूर्ण कर भाई के प्रेम से अभिभूत बने किसी प्रकार अकेले जीवन धारण किए रहे । भगवान् वासुपूज्य का उपदेश स्मरण कर भाई की मृत्यु से विरक्त होकर उन्होंने आचार्य विजयसूरि से दीक्षा लेकर यथा समय कर्म क्षय कर मोक्ष प्राप्त किया ।

(श्लोक ३६४-३६९)

द्वितीय सर्ग समाप्त

तृतीय सर्ग

विमलनाथ स्वामी जो कि कर्म के अभाव के कारण निर्मल गङ्गा के प्रवाह रूप हैं, धर्म-देशना के लिए जो हिमवान् तुल्य हैं, मैं उन्हें प्रणाम करता हूँ । तीर्थस्थलों के पवित्र वारि की तरह जो त्रिलोक को पवित्र कर सकते हैं ऐसे तेरहवें तीर्थङ्कर के जीवन-चरित का अब मैं वर्णन करूँगा । (श्लोक १-२)

धातकी खण्ड द्वीप के पूर्व विदेह के भरत नामक विजय में, नगरियों के मध्य रत्नरूपा महापुरी नामक एक नगरी थी । पद्मा के निलय रूप पद्मसेन नामक एक राजा वहां राज्य करते थे । जो स्वगुणों के कारण समुद्र की तरह सहजलभ्य; किन्तु दुरतिक्रमणीय थे । वीर एवं वीरों में अग्रणी उन राजा ने अपने आदेश को जैसे समग्र देश में लागू कर रखा था उसी प्रकार जिनादेश को उन्होंने अपने हृदय में अनवच्छिन्न रूप में धारण कर रखा था । यद्यपि वे संसार में हीनगृह निवासी की तरह रहते थे फिर भी सांसारिक विषयों से विरक्त थे । पथिक जैसे क्लान्त होने पर वृक्ष के निकट जाता है उसी प्रकार संसार से विरक्त होकर वे सर्वगुप्त नामक आचार्य के निकट गए । उनसे दीक्षा लेकर पुत्रहीन जैसे पुत्र पाने पर, धनहीन जैसे धन पाने पर उनकी रक्षा करता है उसी प्रकार

वे स्वजनों की रक्षा करने लगे । विभिन्न स्थानकों की उपासना कर अर्हत् भक्ति के कारण उन्होंने तीर्थङ्कर गोत्र कर्म उपार्जन किया । दीर्घ दिनों तक तपश्चरण कर आधु अप होने पर मृत्यु प्राप्त कर वे सहस्रार देवलोक में महाकृद्विशाली देवरूप में उत्पन्न हुए ।

(श्लोक ३-१०)

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के अलङ्कार तुल्य, मानो स्वर्ग का ही एक अंश धरती पर उतर आया हो ऐसा, काम्पल्य नामक एक नगर था । इसके मन्दिर रात्रि में चन्द्रकान्त मणि पुत्तलिकाओं निःसृत जल में धारायन्त्र संलग्न गृह से लगते थे । श्री देवी के गृह में शोभित स्वर्ण-कमल की तरह यहां के हर्म्यों के शिखर पर स्थित स्वर्ण-कलश किरणें विकीर्ण करते । इसके श्रेणीबद्ध हर्म्य और अट्टालिकाएँ विधाता निर्मित देवनगरी-सी लगतीं । (श्लोक ११-१४)

यहां के राजा का नाम था कीर्तिवर्मा । भाग्य पीड़ित लोगों के शरणागत होने पर वे कवच की तरह उनकी रक्षा करते थे । गंगाजल और उनकी कीर्ति का प्रवाह प्रतिस्पृष्टाविश ही मानो पृथ्वी को चारों ओर से आनन्दमय कर सागर में समा जाते थे । प्रार्थी और शत्रुओं से वे दूर नहीं भागते थे; किन्तु परस्त्री और निन्दा से सदैव दूर रहते थे । युद्ध में शत्रु उनके पराक्रम रूपी आलोक को सहन नहीं कर सकते थे कारण, वे पृथ्वी के सूर्य-तुल्य थे और शत्रुगण मानो अन्धकार से उद्भूत हुए हों । वटवृक्ष की छाया की तरह उनकी पद-छाया ने राजाओं द्वारा सेवित होने से नत होने के कारण कुब्जाकृति धारण कर रखी थी । (श्लोक १५-१९)

सूर्य की जिस प्रकार रात्रि है उसी प्रकार उनकी भी श्यामा नामक एक पत्नी थी । वह वंश के लिए श्री और अन्तःपुर के लिए अलंकार तुल्य थीं । वे जैसे साध्वी थीं वैसा ही था उनका रूप । मानो श्री देवी ने ही रूप परिग्रह किया है । मराली की तरह मन्दगति से वे चलती थीं मानो वे सर्वदा अपने पति के ध्यान में रत हों । मृत्यु-लोक में तो कोई भी मानवी उनके समतुल्य नहीं थी । अतः श्री देवी और इन्द्राणी उनकी सखी बनने की कामना करती थीं । दिन जिस प्रकार रात्रि का अनुसरण करता है उसी प्रकार जहां भी उनके चरण पड़ते वहीं सुख और आनन्द की धारा प्रवाहित हो जाती ।

(श्लोक २०-२४)

सहस्रार देवलोक में राजा वधसेन का जीव धूर्पाधि शोधकर वैशाख शुक्ला द्वादशी को चन्द्र जब उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र में अवस्थित था वहाँ से च्यवकर महारानी श्यामा देवी के गर्भ में प्रविष्ट हुआ। तीर्थकर जन्म-सूचक चौदह महास्वप्नों को महारानी ने अपने मुख में प्रवेश करते देखा। गर्भकाल पूर्ण होने पर माघ शुक्ला तृतीया की मध्य रात्रि में चन्द्र जब उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में था महारानी ने एक पुत्र को जन्म दिया। उस समय सभी ग्रह अपने उच्च स्थान पर अवस्थित थे। उनका लांछन था शूकर।

(श्लोक २५-२९)

सभी दिशाओं से छप्पन दिक्कुमारियाँ आईं और भृत्य की भांति तीर्थकर एवं उनकी माता का सूतिका-कार्य सम्पन्न किया। इन्द्र भी आए और जातक को मेरु पर्वत पर ले जाकर अतिपाण्डु-कवला में रक्षित सिंहासन पर उन्हें गोद में लेकर बैठ गए। अच्युतादि त्रैसठ इन्द्रों ने तीर्थ से लाए जल से तेरहवें तीर्थकर का स्नानाभिषेक किया। तब इन्द्र ने प्रभु को ईशानेन्द्र की गोद में बैठाकर मानो पर्वत-शृंग से जल निकल रहा है इस प्रकार वृषभ शृंग से निकलते जल से उन्हें स्नान करवाया। तदुपरान्त देवदूष्य वस्त्र से जिस प्रकार रत्न को पोंछा जाता है वैसे ही प्रभु की स्नानसिक्त देह को पोंछ दिया। नन्दन-वन से लाए गोशीर्ष चन्दन का उन्होंने प्रभु की देह पर लेपन किया। देखने से ऐसा लगा कि उनका शरीर देवदूष्य वस्त्र से लिपटा हुआ है। तत्पश्चात् उन्होंने दिव्यमाला, वस्त्र और अलंकार से उनकी पूजा कर दीप दिखाकर निम्नलिखित स्तुति का पाठ किया—

(श्लोक ३०-३६)

‘मिथ्यात्व का अन्धकार जब चारों ओर व्याप्त हो गया है, शैव, संन्यासी जब राक्षस की भांति भयानक रूप से क्रुद्ध हो उठे हैं, प्रवंचना से ब्राह्मण जब गोयाले की तरह धूर्त हो उठे हैं, भालुओं की तरह कौलगण मण्डल बनाकर विचर रहे हैं, अन्य मिथ्यात्मी जब कि उल्लुओं की तरह चीत्कार कर रहे हैं, विवेकदृष्टि ऐन्द्रजालिक की तरह मिथ्यात्व के प्रभाव से विनष्टप्राय हो चुकी है, चारों ओर तत्त्वज्ञान प्रायः अवलुप्त है ऐसा दीर्घकाल जो कि रात्रि की तरह व्यतीत हुआ है, हे त्रिलोकनाथ, आपके आविर्भाव से सूर्योदय से जैसे प्रभात होता है वैसे ही सुप्रभात हो जाए। इतने दिनों तक संसार-

समुद्र जो अततिक्रमणीय था वह अब आपके चरण-शरण से अतिक्रमणीय हो जाएगा। आपकी देशनारूपी सीढ़ी पर चढ़कर भव्य जीव एक लम्बे समय के पश्चात् अब मोक्ष को प्राप्त करेंगे। प्रखर तपन ताप से तपते पथिकों के लिए मेघ की तरह, हम अनार्थों के लिए दीर्घकाल के बाद आप नाथ रूप में आविर्भूत हुए हैं।'

(श्लोक ३७-४४)

तेरहवें तीर्थंकर की इस भाँति स्तुति कर इन्द्र जिस प्रकार जातक को लाए थे उसी प्रकार लौट कर जातक को उनकी मां श्यामा देवी के पास मुला दिया। शक्र वहाँ से और अन्य इन्द्र मेरु पर्वत से सफल समुद्र-यात्रा के पश्चात् वणिक जिस प्रकार स्व-घर को लौट जाते हैं वैसे ही अपने-अपने निवास को लौट गए।

(श्लोक ४५-४६)

राजा कीर्तिवर्मा ने भी बड़े धूमधाम से जन्मोत्सव मना कर सबको आनन्दित किया। जब प्रभु गर्भ में थे उनकी मां विमल बन गई थी अतः उन्होंने अपने पुत्र का नाम विमल रखा। त्रिलोकपति धात्री-रूपी देवांगनाओं द्वारा लालित होकर एवं सखारूपी देवकुमारों के साथ क्रीड़ा करते हुए बड़े होने लगे।

(श्लोक ४७-४९)

साठ धनुष दीर्घ और १००८ सुलक्षणों से युक्त प्रभु क्रमशः यौवन को प्राप्त हुए। संसार से विरक्त होने पर भी पिता के आग्रह से भोग कर्मों को निरसन करने वाली औषधि के रूप में उन्होंने राजकन्याओं का पाणिग्रहण किया।

(श्लोक ५०-५१)

१५ लाख वर्ष युवराज रूप में व्यतीत कर पिता के आदेश से उन्होंने राज्यभार ग्रहण किया कारण पिता का आदेश आर्हंतों के लिए भी मान्य होता है।

(श्लोक ५२)

राज्य शासन के तीस लाख वर्ष व्यतीत हो जाने पर संसार-सागर को पार करने की नौका रूपी दीक्षा उन्हें स्मरण हो आई। सारस्वत आदि लौकान्तिक देवों ने प्रभु के निकट आकर उनसे तीर्थ स्थापना करने को कहा। एक वर्ष तक उन्होंने प्रार्थियों की इच्छानुसार जम्भक देवों द्वारा लाया धन कल्पतरु की तरह दान किया। एक वर्ष व्यतीत हो जाने पर इन्द्रों ने प्रभु के विमल मन की तरह विमल जल से विमलनाथ का दीक्षापूर्व का स्नानाभिषेक सम्पन्न किया। प्रभु दिव्य गन्ध वस्त्र और अलंकार धारण कर देवदत्त

नामक शिविका पर चढ़े । देव, असुर और नरेन्द्रों से परिवृत्त होकर वे पालकी द्वारा सहस्राभयन उद्यान की ओर अग्रसर हुए ।

(श्लोक ५३-५८)

उत्त उद्यान के लता-मण्डप शीत भय से भयभीता उद्यान-पालिकाओं द्वारा मानो घर हो इस भांति आश्रित हुए थे । आश्र, वकुल आदि वृक्षों के शिखर पर बर्फ गिरने के कारण मानो वे भविष्य में सौन्दर्य-लाभ के लिए तपस्या निरत हों ऐसे लग रहे थे । कुँए का जल, बड़ की छाया नगरागत मिथुनों की शीत-ज्वरता को जैसे कुछ दूर कर रही थी । शीत-कातर बानरों द्वारा एकलित गुंजाफल देखकर नगर की नारियों के मुख पर जो हास्य विकसित हो रहा था उसे देखकर लगा मानो चन्द्र-किरण प्रसारित हो रही हैं । वह उद्यान लावली और सूषि के पुष्प गुच्छों के कारण मानो हँस रहा हो ऐसा लग रहा था । ऐसे उद्यान में शिविका से उतरकर प्रभु ने प्रवेश किया । तत्पश्चात् अलंकार त्याग और देवदूष्य वस्त्र धारण कर माध शकुन्ता चतुर्थी को अपराजित में चन्द्र वत् उनके लग्न-नक्षत्र में अवस्थित था तब उन्होंने हजार राजाओं सहित दो दिनों के उपवास के पश्चात् श्रमण दीक्षा ग्रहण की । (श्लोक ५९-६४)

दूसरे दिन सुबह धान्यकूट नगर में राजा जय के घर श्रीराज ग्रहण कर विमलनाथ स्वामी ने पारणा किया । देवों ने रत्न-वर्षा आदि पांच दिव्य प्रकट किए और राजा जय ने जहाँ प्रभु खड़े थे वहाँ रत्न वेदी निर्मित करवाई । फिर बिलोकपति वहाँ से छद्मस्थ रूप में खान नगर आदि विभिन्न स्थानों में परिव्रजन करने लगे ।

(श्लोक ६५-६८)

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में आनन्दकरी नामक नगरी में राजा नन्दीगुमिन्न राज्य कर थे । यद्यपि उनके वहिर्लक्ष थे फिर भी वे सब कुछ विवेकदृष्टि से ही देखते थे । यद्यपि उनकी विशाल सेना थी फिर भी वे संगी रूप में तलवार की ही साथ रखते थे । जन्म से ही संसार से विरक्त और सब कुछ क्षणभंगुर समझ कर केवल उत्तराधिकार की रक्षा के लिए ही वे राज्य दासन करते थे ।

(श्लोक ६९-७१)

मन से तो सब कुछ त्याग किया हुआ ही था; किन्तु एक दिन बाह्य रूप में भी राज्य परित्याग कर आचार्य सुव्रत से उन्होंने मुनि-

दीक्षा ग्रहण कर ली। संयम पालन और अभिग्रह मुक्त तपस्या कर आयुष्य समाप्त हो जाने पर अनुत्तर विमान में देवरूप में उत्पन्न हुए।

मार्गदर्शक — आचार्य श्री रामकृष्ण-७३-७४ जी महाराज

जम्बूद्वीप के भारत क्षेत्र की अलंकारतुल्य श्रावस्ती नामक नगरी में धनमित्र नामक एक राजा राज्य करते थे। राजा धनमित्र के साथ बन्धुत्व होने के कारण बलि नामक एक अन्य राजा उनका अतिथ्य स्वीकार कर श्रावस्ती में निवास करने लगे। एक दिन अक्षीण बुद्धि राजा धनमित्र बलि राजा के साथ पाशा फेंककर अक्ष क्रीड़ा कर रहे थे। खेल में इतने मस्त हो गए कि अक्षक्रीड़ा में भी अपनी गोटियों को सेना समझकर युद्ध क्षेत्र की तरह मारने और अवरोध करने में व्यस्त हो गए। दोनों ने एक-दूसरे पर विजय प्राप्त करने की दृष्टि से अपने-अपने राज्य की भी दांव पर लगा दिया। द्यूतक्रीड़ा में मस्त मानव को हिताहित का ज्ञान नहीं रहता। अन्ततः हार जाने पर राजा धनमित्र राज्य परित्याग कर एकाकी विक्षिप्त की भांति विचरण करने लगे। अश्वहीन फटे कपड़े पहने मलिन धनमित्र के साथ लोग भूतग्रस्त मनुष्य की तरह व्यवहार करते थे।

(श्लोक ७४-८०)

इस प्रकार घूमते हुए एक दिन उन्हें मुनि सुदर्शन से साक्षात्कार हुआ और कई दिनों तक अनाहार रहने के पश्चात् रोमी जैसे पहली बार रस पीता है उसी प्रकार उनके देशना रूप अमृत का उन्होंने पान किया। फलतः उनसे दीक्षा लेकर दीर्घकाल तक मुनि धर्म का तो पालन किया; किन्तु बलि का असद् व्यवहार वे भूल न सके। अन्ततः वे निदान कर बैठे कि मेरी तपश्चर्या का कुछ पुण्य है तो मैं आशामी जन्म में बलि को मारकर इसका प्रतिशोध लूँ। यह संकल्प कर उन्होंने अनशनपूर्वक मृत्यु को वरण किया और अन्त्युत देवलोक में पूर्ण आयुष्य लेकर जन्म ग्रहण किया।

(श्लोक ८१-८४)

राजा बलि ने भी कालान्तर में यति धर्म ग्रहण किया और मृत्यु के पश्चात् देवलोक में शक्तिशाली देवरूप में उत्पन्न हुए। वहां से व्युत्पन्न होकर भारत क्षेत्र के नन्दनपुर के राजा समरकेशरी और रानी सुन्दरी के पुत्र रूप में जन्म लिया। उनकी देह रसाज्जन धातु की तरह चमकीली और साठ धनुष उन्नत थी। उस थी साठ लाख

वर्ष। वे देखने में जितने सुन्दर थे उतने ही बलशाली भी थे। अत्यन्त वैभवशाली उन्होंने वैतावप पर्यन्त अर्द्ध भरत पर, अपना अधिकार विस्तृत कर अर्द्धचक्री प्रतिवामुदेव मेरक नाम से विख्यात हो गए थे। जिस प्रकार वायु-सा शक्तिशाली, सूर्य-सा तेजस्वी कोई नहीं है उसी प्रकार शौर्य में उनका कोई प्रतिस्पर्धी नहीं था। उनके आदेश को अमान्य करने का साहस किसी में नहीं था मानो वे भ्रात्र्य की भांति अमोघ हों बल्कि वे शिखा-वन्धन की तरह रक्षा-कवच के रूप में सर्वत्र ग्रहीत होते। (श्लोक ८१-९०)

भरत क्षेत्र के द्वारका नामक नगर में समुद्र-से सम्भीर रुद्र नामक एक राजा थे। उनकी सुप्रभा और पृथ्वी नामक दो ऐसी पत्नियाँ थीं मानो श्री और पृथ्वी ही भूतिमंत हो गई हों। अपने रूप और शील से वे सबका मन हरण करती थीं। नन्दीसुमित्र का जीव अनुत्तर विमान से च्युत होकर रानी सुप्रभा के गर्भ में प्रविष्ट हुआ। रात्रि के अन्त में सुख-शय्या पर सोई हुई रानी सुप्रभा ने बलदेव के जन्म की सूचना देने वाले चार महास्वप्न देखे। नौ-मास साढ़े सात दिनों के पश्चात् सुप्रभा ने चन्द्र-से कृष्णवर्ण वाले एक पुत्र को जन्म दिया। राजा रुद्र ने उसका नाम रखा भद्र। कुल वैभव के साथ वह भी बड़ा होने लगा। (श्लोक ९१-९६)

धनमित्र का जीव अच्युत देवलोक से ज्वर कर सरोवर में जैसे कमल उत्पन्न होता है वैसे ही रानी पृथ्वी के गर्भ में उत्पन्न हुआ। रात्रि के शेष भाग में सुख-शय्याशायीन रानी ने वामुदेव के जन्म सूचक सात महा-स्वप्नों को अपने मुख में प्रविष्ट होते देखा। समय पूर्ण होने पर उन्होंने कृष्णवर्ण एक पुत्र को जन्म दिया जिसका शरीर वैदूर्य पर्वत की तरह चमकीला था। राजा रुद्र ने आनन्दित होकर पुत्र-जन्मोत्सव के समय उसका नाम रखा स्वयम्भू। पांच समितियों के पालन से जैसे तपस्वी की निर्मल तपस्या सफल होती है उसी प्रकार पांच धात्रियों द्वारा सर्वदा पालित होते हुए स्वयम्भू बड़े होने लगे। (श्लोक ९७-१०१)

भद्र और स्वयम्भू गंगा और यमुना की तरह एक गोरा एक कृष्णवर्ण प्रेम के सूत्र में एक साथ गूँथे थे। उनके पदाघात को अन्य राजकुमार सहन नहीं कर पाते थे कारण उनके पदाघात से मुद्गर के आघात की तरह पर्वत भी चूर्ण हो जाता था। नील और पोत

वस्त्रधारी ताल और गरुडध्वज वे खेलते हुए ही चलते तो पृथ्वी उगमगाने लगती । समस्त प्रकार की शस्त्र-विद्या और सर्वप्रकार के ज्ञान अर्जन कर यौवन के समागम पर वे विशेष बल और ज्ञान के अधिकारी हो गए । (श्लोक १०२-१०५)

एक दिन जबकि वे नगर की सीमा पर खेल रहे थे तो उन्होंने वहाँ एक छावनी निर्मित होते देखी । वहाँ हस्ती अश्व धन रत्नादि रक्षकों के पहरे में रक्षित थे । बलदेव ने पूछा 'इन सबों को यहाँ किसने भेजा है ? शत्रु ने या मित्र ने ?' प्रत्युत्तर में मन्वीपुत्र ने कहा—'अपने राज्य की रक्षा के लिए राजा शशिसौम्य यह भेंट अर्द्धचक्री मेरक को भेज रहे हैं ।' यह सुनकर क्रुद्ध वासुदेव बोले—'यह भेंट हमारे हाथों से उनके पास क्यों जाएगी ?' बलदेव ने कहा—'यह अभागा मेरक जो हमारे रहते इस प्रकार राजाओं से कर ग्रहण करता है ? वह कितना शक्तिशाली है देखना होगा । यह सब छीन लो । यदि सामर्थ्य होगा तो वह आकर ले जाएगा ।' ऐसा कहकर उन्होंने अपने अनुचरों को हाथ उठाकर निर्देश दिया । यह आज्ञा पाकर उनके अनुचरों ने लाठी-सोटा लेकर फल लगे वृक्ष की तरह शशिसौम्य के रक्षकों पर आक्रमण कर दिया । अकस्मात् शत्रुओं द्वारा आक्रान्त होकर राज्ञि में सोयी अवस्था में आक्रान्त की भांति उन्होंने भागकर अपनी रक्षा की । वासुदेव ने उन सभी हस्ती-अश्व-रत्नादि को ग्रहण कर लिया । शत्रु सम्पत्ति को जबर्दस्ती दखल करने से योद्धा का शीर्ष ही प्रकाशित होता है । (श्लोक १०६-११४)

शशिसौम्य के रक्षकगण हाँफते हुए जिस प्रकार उनकी भेंट लूट ली गई थी वह सब अर्द्धचक्री मेरक के पास जाकर निवेदन किया । यह सुनकर मेरक निरंकुश यम की तरह क्रुद्ध होकर भुक्रुटि कुञ्चित करते हुए राज्य-सभासदों से बोला—'पेट भर खाना मिलने से उद्दीप्त गर्दभ जिस प्रकार हस्ती को पदाघात करता है, कृषक जिस प्रकार अपनी पत्नी पर प्रहार करता है, मेंढक जैसे सर्प को खण्ड लगाता है, रुद्र के पुत्र ने भी उसी प्रकार अपनी मृत्यु के लिए ऐसा अविवेकी कार्य किया है । मृत्यु के पूर्व चींटियों के जिस प्रकार पंख निकल आते हैं उसी प्रकार हतबुद्धिता मनुष्य के विनाश का कारण होती है । उसने मेरी भेंट चोर की तरह ग्रहण कर ली है ।

अतः मैं उसे उसके पिता और भ्राता सहित विनष्ट कर दूँगा ।'

(श्लोक ११५-१२०)

यह सुनकर एक मन्त्री बोला—'यह कार्य लगता है उन्होंने अज्ञतावश ही किया है । राजा रुद्र तो दीर्घकाल से आपकी सेवा कर रहे हैं अतः क्रुद्ध न हों । यह कार्य निश्चय ही उनका समर्थन प्राप्त नहीं करेगा । वे तो आपकी कृपा के अभिलाषी हैं । कौन प्रभु की कोपाग्नि या नदी में कूदना चाहेगा ? अतः भय के मारे वे आपके पास नहीं आ रहे हैं । महाराज, करुणा करिए । मुझे आदेश दीजिए और उन्हें अभय । मैं उनके पास से और अधिक मूल्यवान भेंट लेकर आऊँगा ।'

(श्लोक १२१-१२४)

मेरुक ने जब यह बात स्वीकार कर ली तो मन्त्री शीघ्र ही द्वारिका गए और भद्र एवं स्वयम्भू की उपस्थिति में ही रुद्र से बोले—'अज्ञानवशतः आपके पुत्रों ने यह क्या कर डाला ? प्रभु के तो कुत्ते की भी हत्या नहीं की जाती । वे क्रुद्ध न हो जाएँ अतः उनका सब कुछ लौटा दें । मैं आप पर कोई आक्षेप नहीं जाने दूँगा । अज्ञता आपके पुत्रों के दोष को भी ढक देगी ।' (श्लोक १२५-१२७)

यह सुनकर स्वयम्भू उनसे बोला—'महात्मन्, प्रभु भक्ति और अपनी उदार मनोभावना के कारण आप हमारे पिताजी को ऐसा कह रहे हैं; किन्तु सोचकर देखिए, हमने उनसे कितना लिया है ? हम तो समस्त पृथ्वी को ग्रहण करना चाहते हैं । कारण, पृथ्वी वीर-भोग्या होती है । धरती पर ऐसा कौन है जो कुतान्त की तरह क्रुद्ध बलराम और मेरे सम्मुखीन हो सकता है ? मैं उनकी हत्या कर भरताड़ पर अधिकार करूँगा । कीड़ों-से अन्य राजाओं की हत्या करने से क्या लाभ होगा ? उन्होंने भी बाहुबल से भरताड़ को जय किया है, पंतुक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त नहीं किया । इस विधान से ही भरताड़ मेरा होगा । बली पर भी महाबली होते हैं ।'

(श्लोक १२८-१३२)

स्वयम्भू की यह बात सुनकर मन्त्री विस्मित और भयभीत होकर शीघ्रतापूर्वक मेरुक के पास लौटा और जो कुछ घटित हुआ वह कह सुनाया । इस स्वर्द्धापूर्ण कथन को सुनकर मदनोन्मत्त हाथी की तरह मेरुक स्व-सैन्य लेकर युद्ध के लिए अग्रसर हुआ । गुफा से निकलने वाले सिंह की भाँति स्वयम्भू राजा रुद्र और बलराम भी द्वारिका से निकले । प्रजा को उद्दिग्ध कर भयंकर राहु और

शनि की तरह चद्र और मेरक एक स्थान पर आकर मिले। दोनों सेनाओं में युद्ध प्रारम्भ हुआ। दोनों ओर से निक्षिप्त अस्त्रों से आकाश प्रलयकालीन अग्नि की तरह प्रज्वलित व भयंकर हो उठा। शत्रु-सेना को ध्वंस करने के लिए स्वयम्भू ने मन्त्र की तरह पाञ्चजन्य शङ्ख बजाया। पाञ्चजन्य के शब्द से मेरक की सेना कांप उठी। सिंह का गर्जन सुनकर क्या हस्ती टिका रह सकता है? तब मेरक अपनी सेना को भुयों की तरह तटस्थ रहने को कहकर रथ पर चढ़ा और स्वयम्भू की ओर दौड़ा। संन्य व्यर्थ ही युद्ध क्यों करे, इत्यादि धुएँ दोनों ने धनुष पर टङ्कार दी। मानो विजयश्री क विवाह-मण्डप की रचना की हो इस प्रकार जल-वर्षा की तरह दोनों ने शर वर्षा कर सूर्य को आच्छादित कर डाला। अग्नि के प्रतिरोध में अग्नि की तरह, विष के प्रतिरोध में विष की तरह दोनों की शर-वर्षा दोनों का प्रतिरोध करने लगी। वे दोनों दो सूर्यों की तरह भयङ्कर प्रतीत हो रहे थे जिनसे शर रूपी सहस्र किरण निकल रही थीं। धनुष और तूणीर के मध्य द्रुतगति से जाने के कारण उनके हाथ दिखालाई ही नहीं पड़ रहे थे, मात्र हाथ की मुद्रिका की दीप्ति से उनका अस्तित्व अनुभूत होता था। उनके दोनों हाथ एक बार तूणीर और एक बार धनुष की प्रत्यञ्चा पर पड़ने के कारण लगता था मानो उनके चार हाथ हों। मेरक ने देखा शत्रु को केवल शर-वर्षा से पराजित नहीं किया जा सकता तब प्रलयकाल में घूणिवामु से जिस प्रकार पर्वत शृङ्गादि उत्पतित होते हैं उसी प्रकार मूसल मुद्गर आदि निक्षेप करने लगे। स्वयम्भू ने उन सभी अस्त्रों को प्रतिअस्त्रों से उसी प्रकार नष्ट कर डाला जैसे दृष्टिविष सर्वदृष्टि की ज्वाला से सब कुछ विनष्ट कर डालता है। (श्लोक १३३-१४८)

अन्ततः शत्रु को विनष्ट करने के लिए मेरक ने चक्र का स्मरण किया। बाज पक्षी जैसे व्याघ्र के हाथ आ पड़ता है उसी प्रकार चक्र उसके हाथों में आ गया। तब मेरक स्वयम्भू को बोला, 'तुम्हें युद्ध-विद्या की शिक्षा देने के लिए ही मैं अब तक युद्ध-कीड़ा कर रहा था। अब मैं तेरा शिरच्छेद करूँगा। अतः बचना चाहता है तो भागकर प्राणों की रक्षा कर। दस्यु और काक को भागने में क्या लज्जा है?' (श्लोक १४९-१५१)

स्वयम्भू ने प्रत्युत्तर दिया—'यदि अब तक तुम युद्धकीड़ा कर

रहे थे तो अब मैं तुम्हारा असली युद्ध कैसा है वह भी देख लूँगा ? वह युद्ध देखने ही मैं यहाँ आया हूँ। शत्रु के घन-रत्न को ग्रहण करने वाला खोड़ा यदि दस्यु होता है तब तो प्रथम दस्यु तुम स्वयं हो। किसने तुमको यह सब दिया था ? चक्र निक्षेप के पश्चात् यदि किसी को पलायन करना है तो तुम अभी भाग जाओ। क्योंकि दस्यु और काक को भागने में लज्जा कैसी ? चक्र निक्षेप करो ताकि मृत्यु के पूर्व ही चक्र की शक्ति कैसी है इस सम्बन्ध में निःशन्देह हो सको।' (श्लोक १५२-१५५)

यह सुनकर मानो द्वितीय मञ्जल ग्रह हो ऐसे ज्वालामय उस शक्र की मेरक ने शक्र पर घुमाकर स्रष्टु का निक्षेप किया। वह चक्र करताल जिस प्रकार एक दूसरे करताल पर गिरती है उसी प्रकार वासुदेव के वज्र पर आकर गिरा। चक्र के उद्गत नाभि के अप्रभाग के आघात से चकित होकर मेरक के पाटासन पर गिर पड़े। उनकी आँखें शराबी की तरह रक्तवर्ण हो गईं। बलदेव भ्रातृ-प्रेम के कारण उनके सिर को अपनी गोद में लेकर सजल नेत्रों से कहने लगे—'भाई, उठो, जाओ।' भाई के अभ्रुजल से सिकत होने से वासुदेव की संज्ञा लौटी और 'ठहर, ठहर' कहते हुए खड़े हो गए। तदुपरान्त शत्रु के सौभाग्यरूपी चक्र को अपने हाथों में ग्रहण कर और स्व-संन्य को विस्मय से विस्फारित नेत्रों वाला बनाते हुए मेरक से बोले—'यह अस्त्र ही तुम्हारा सर्वस्व था और यही तुम्हारा आयुष्य है। सर्प की मणि की तरह वह आज तुम्हारे हाथ से निकल गया है। अब किसके सहारे खड़े हो ? भाग जाओ। स्वयम्भू युद्ध क्षेत्र से भागते शत्रु की हत्या नहीं करता।' (श्लोक १५६-१५९)

मेरक बोला—'चक्र निक्षेप करो। तू भी अब इसकी शक्ति देख। जो अर्द्धचक्री की स्त्री नहीं हो सकी वह अब सामान्य राजा की क्या स्त्री बनेगी ?' (श्लोक १६४)

इन वचनों से अभिहित होकर वासुदेव ने उस चक्र को घुमा कर फेंका। उसने सहज ही कमलनाल की तरह मेरक का सिर काट डाला। स्वयम्भू पर आकाश से पुष्पवर्षा हुई और मेरक का धड़ धरती पर गिर पड़ा। जो सब राजा मेरक के अधीन थे वे सब अब वासुदेव की शरण में आ गए। चाराती तो वही रहे; किन्तु बर बदल गया। (श्लोक १६५-१६७)

चक्र को अपने दाहिने और रखकर, जो चक्र दिग्विजय का सूचक होता है, स्वयम्भू ने भरत क्षेत्र का दक्षिणार्द्ध ग्रहण कर लिया। विजयश्री के निवासरूप स्वयम्भू नवविवाहिता पत्नी की तरह अर्द्धभरत को श्री के साथ फीड़ा करते हुए दिग्विजय कर लौटे। मगध पहुंचते-पहुंचते उन्होंने एक स्थान पर पृथ्वी को आच्छादनकारी एक बक शिला को एक करोड़ लोगों द्वारा उठाते हुए देखा। सहस्रनाग जिस प्रकार सहज ही पृथ्वी को धारण करता है उसी भाँति उन्होंने उस शिला को बाएँ हाथ में धारण कर ली। तदुपरान्त पुनः उस शिला को पथास्थान रखकर शक्तिशाली देवों को भी विस्मित कर वे कुछ दिनों के मध्य ही द्वारिका लौट आए। वहाँ रुद्र, भद्र एवं अन्यान्य राजाओं ने उन्हें अर्द्धचक्रों के रूप में अभिषिक्त किया।

(श्लोक १६८-१७३)

दो वर्षों तक छयस्व रूप में विचरण करने के पश्चात् विमलनाथ स्वामी ने जिस सहस्राश्र्वन उद्यान में दीक्षा ग्रहण की थी उसी उद्यान में लौट आए। जम्बू वृक्ष तबे उनके धाती कर्मों के क्षय हो जाने के कारण प्रभु अष्टम गुणस्थान से चतुर्दश गुणस्थान पर चढ़ गए। पौष शुक्ला षष्ठ के दिन चन्द्र जब उत्तर भाद्रपद पर अवस्थित था, दो दिनों के उपवास के पश्चात् उन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। देवों द्वारा निमित्त समवसरण में उन्होंने देशना दी। मन्दरादि उनके सत्तावन गणधर हुए।

(श्लोक १७४-१७७)

उसी समवसरण में सन्मुख नामक यक्ष उत्पन्न हुए। उनका वर्ण श्वेत था और वाहन था मयूर। उनके दाहिने छह हाथों में फल, चक्र, तीर, तलवार, पाश और अक्षमाला थी एवं बाएँ छह हाथों में त्रिकुल, चक्र, घनुष, ढाल और वस्त्र था तथा एक हाथ अभय मुद्रा में था। वे प्रभु के शासन देव हुए। इसी प्रकार विदिता नामक यक्षिणी भी उत्पन्न हुई। उनकी देह का रंग हरिताल वर्ण और वाहन था कमल। उनके दाहिने दोनों हाथों में तीर और पाश था एवं बाएँ हाथ में घनुष और सर्प था। वे भगवान् विमलनाथ स्वामी की शासन देवी बनीं।

(श्लोक १७८-१८१)

शासन देव-देवी सहित प्रभु विभिन्न स्थानों में विहार करते हुए द्वारिका आए। शक्र और अन्यान्य देवों ने सात-पौ बीस घनुष दीर्घ अशोक वृक्ष सहित समवसरण की रचना की। प्रभु ने पूर्व द्वार

से प्रवेश कर नियमानुसार चैत्य वृक्ष को तीन प्रदक्षिणा दी। तदु-
परास्त तीर्थ को नमस्कार कर तैरहव धर्म-चक्रवर्ती विमलनाथ
भगवान् के पूर्वाभिमुख होकर रत्न-सिंहासन पर उपवेशन किया।
साधु-साध्वी, देव-देवी, मानव-मानवी अपने-अपने निदिष्ट द्वारों से
प्रवेश कर यथास्थान पर जा बैठे। (श्लोक १८२-१८९)

राज अनुचरों ने त्वरित गति से वासुदेव स्वयम्भू को सूचना
दी कि प्रभु के समवसरण का आयोजन हुआ है। हृषित होकर
स्वयम्भू ने उन्हें साढ़े बारह करोड़ रौप्य प्रदान किए। स्वयम्भू
बलराम भद्र सहित भाग्योदय के कारण समवसरण में प्रविष्ट हुए
तीर्थपति को प्रदक्षिणा देकर दोनों शक के पीछे जा बैठे। जिनेश्वर
भगवान् को पुनः करबद्ध होकर वन्दनकर शक वासुदेव और बलराम
ने इस प्रकार स्तुति की : (श्लोक १८७-१९१)

‘हे भगवन्, वर्षाकाल की वर्षा से जिस प्रकार पृथ्वी का मैल
धुल जाता है उसी प्रकार आज आपके दर्शनों से मनुष्यों की भय-
यन्त्रणा दूर हो गई है। धन्य है आज का यह दिन कि आपके दर्शनों
से कर्ममल लिप्त हमारी आत्मा कर्ममल शुन्य हो गई है। हमारे
ये नेत्र जो आपको देख रहे हैं मानो उन्होंने इस देह का आधिपत्य
लाभ किया है और मुहुर्त भर में हमारी आत्मा को पवित्र कर
दिया है। भरत क्षेत्र की इस धरती ने आपके चरण-स्पर्श से ही
अमङ्गल के विनाशकारत्व को प्राप्त कर लिया है। आपके दर्शनों
की तो बात ही क्या है? आपका केवल ज्ञान रूपी आलोक मिथ्यात्व
रूपी उलूकों के लिए सूर्यालोक की भांति निन्दा का कारण है।
हे जगत्पति, आपके दर्शन रूपी अमृत को पान कर जगत्जन्यों के
शरीर उच्छ्वसित होने के कारण उनके कर्मबन्धन छिन्न हुए जा
रहे हैं। आपकी चरण-रेणु जो कि विवेक रूपी दर्पण को निर्मल
करने में समर्थ है व महोदय रूप वृक्ष के बीज तुल्य है वह हमारी
रक्षा करे। हे भगवन्, आपकी वाणी रूप अमृत हम लोगों के लिए
जो कि संसार रूपी मरुभूमि में खोए हुए है कल्याण का कारण
बने।’ (श्लोक १९२-१९९)

इस भांति स्तुति कर शक, वासुदेव व बलराम के चपु हो
जाने पर प्रभु विमल स्वामी ने यह वेशना दी : (श्लोक २००)

अकाम निर्जरा रूप पुण्योदय से जीव स्थावरकाय से जसकाय

रूप में उत्पन्न होता है। मनुष्य जन्म, आर्य देश, उत्तमकुल, समस्त इन्द्रियों की पटुता और दीर्घ आयुष्य तो कर्मों के और क्षीण हो जाने से मिल जाते हैं। सद्भ्रमं सद्गुरु और उन्हें सुनने की इच्छा भी प्रचुर पुण्योदय के लाभ से प्राप्त हो जाते हैं; किन्तु तत्त्व श्रद्धा रूप सम्बन्ध प्राप्त होना दुष्कर है। राजा या चक्रवर्ती होना भी उतना दुष्कर नहीं है जितना दुष्कर है जिन प्रकृति धर्म द्वारा बोधिलाभ प्राप्त करना। समस्त जीवों ने इसी प्रकार पूर्व में भी अनन्त बार इस भाव को ग्रहण किया है; किन्तु उन्हें संसार-भ्रमण करते देख कर कहा जा सकता है कि बोधि-रत्न इन्होंने इसके पूर्व प्राप्त नहीं किया। इस संसार में परिभ्रमण करते समय समस्त प्राणियों का पुद्गल परावर्तन अनन्त बार हुआ है। जब अन्ततः अर्द्ध-पुद्गल परावर्तन अवशेष रह जाता है और जब सब कर्मों की स्थिति एक कोटाकोटि सागरोपम से कम रह जाती है तब यथावृत्तिकरण में अग्रसर होकर जीव अन्ती-भेद कर उत्तम बोधिरत्न को प्राप्त करता है। कुछ जीवों का ऐसा भी होता है कि वे यथावृत्तिकरण के पश्चात् प्रणिवेद की सीमा पर आकर भी भटक जाते हैं। वे उससे आगे नहीं जा पाते और संसार-चक्र में आवर्तित होते रहते हैं।

(श्लोक २०१-२०८)

कुशास्त्र श्रवण, मिथ्यात्वियों का संग, मन्द वासना और प्रमाद बोधिरत्न की प्राप्ति में बाधक है। यद्यपि चारित्र-रत्न पाना दुर्लभ है फिर भी बोधिरत्न की प्राप्ति के पश्चात् चारित्र-रत्न पाना सहज हो जाता है। कारण, चारित्र की सफलता बोधि के अस्तित्व पर ही निर्भर है। अन्यथा प्राप्त चारित्र भी निष्फल हो जाता है। अभव्य जीव भी चारित्र ग्रहण कर नवम् प्रवेयक पर्यन्त उत्पन्न हो सकता है; किन्तु बोधिरत्न के अभाव में मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। बोधिरत्न के अभाव में चक्रवर्ती भी दरिद्र है। दरिद्र भी यदि बोधिरत्न को प्राप्त कर ले तो वह चक्रवर्ती से भी श्रेष्ठ है। जिसे बोधिरत्न की प्राप्ति हो गई है संसार के प्रति उसका कोई अनुराग नहीं रहता। ममत्वरहित वह बिना बाधा के मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

(श्लोक २०९-२१३)

भगवान् का यह उपदेश सुनकर अधिकतर श्रोताओं ने मुनि धर्म ग्रहण कर लिया। स्वयम्भू वासुदेव ने सम्पक् दर्शन और बलदेव

ने आचकत्व ग्रहण किया। दिन के प्रथम याम तक प्रभु ने देशना दी। तदुपरान्त इसी अनुरूप भाव से प्रथम गणधर मन्दार ने देशना दी। द्वितीय याम शेष होने पर उन्होंने अपनी देशना समाप्त की। इन्द्र, वासुदेव, बलदेव आदि सभी स्व-स्व निवास को लौट गए।

(श्लोक २१४-२१६)

विमल स्वामी ने साधारण मनुष्यों के कल्याण के लिए नगर, ग्राम, खान, बन्दरगाहों आदि विभिन्न स्थानों पर प्रव्रजन किया।

(श्लोक २१७)

भगवान् विमलनाथ के साथ ६८०० साधु, १००८० साध्वियाँ, ११०० चौदह पूर्वधारी, ४८०० अवधिज्ञानी, ९००० वैश्वी लब्धिधारी, ३२०० वादी २०८००० आचक, ४२४००० आचिकाएँ थीं। केवल-ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् २ वर्ष कम १५ लाख वर्ष तक प्रभु ने पृथ्वी पर विचरण किया।

(श्लोक २१८-२२३)

अपना निर्वाण समय निकट जानकर प्रभु विमलनाथ ५००० साधुओं सहित सम्मत शिखर पर्वत २२ गए और अनशन तप प्रारम्भ कर दिया। एक मास के अनशन के पश्चात् आषाढ़ कृष्ण सप्तमी के दिन चन्द्र जब पुष्प नक्षत्र में था उन पाँच हजार साधुओं सहित भगवान् मोक्ष पधार गए। शक्रादि देवों ने आकर भगवान् और मुनियों का दाह-संस्कार कर निर्वाणोत्सव किया। भगवान् १५ लाख वर्षों तक कुमारावस्था में ३० लाख वर्षों तक राज्याधिपति रूप में और १५ लाख वर्षों तक त्यागी जीवन में रहे। इस प्रकार कुल ६० लाख वर्षों का पूर्ण आयुष्य प्रभु ने भोगा। वामुपूज्य स्वामी के निर्वाणकाल से विमल स्वामी के निर्वाण में ३० सागर का अन्तर था।

(श्लोक २२४-२२८)

अपनी शक्ति के अहंकार के कारण विवेक नष्ट हो जाने से स्वयम्भू ने क्या-क्या कुकर्म नहीं किए। ६० लाख वर्षों की परमायु भोगकर स्व-कर्मों के कारण वे छठे नरक में जाकर उत्पन्न हुए। स्वयम्भू ९२००० वर्षों तक सुवराज रूप में १२००० वर्षों तक शासक रूप में ९०००० वर्षों तक दिग्विजय में एवं ५९७९९० वर्षों तक अर्द्धचक्री रूप में पृथ्वी पर रहे।

(श्लोक २२९-२३२)

भाई की मृत्यु से संसार से विरक्त बने बलदेव मुनि चन्द्र के

पास जाकर दीक्षित हो गए । अपनी आयु के ६५ लाख वर्ष व्यतीत कर मृत्यु के पश्चात् वे मोक्ष चले गए । (श्लोक २३३)

तृतीय सर्ग समाप्त

चतुर्थ सर्ग

सिद्धों के अनन्त चतुष्टय से सम्पन्न और संसार के समस्त प्राणियों के लिए मोक्षरूप अनन्त सुखप्रदानकारी भगवान् अनन्तनाथ तुम्हारी रक्षा करें । संसार रूपी भव समुद्र को पार करने में नौका स्वरूप भगवान् अनन्तनाथ का अब मैं जीवन वर्णन करूँगा ।

(श्लोक १-२)

घातकी खण्ड द्वीप के पूर्व विदेह में ऐरावत नामक विजय में अरिष्ट नामक एक प्रमुख नगर था । वहाँ पद्मरथ नामक एक राजा राज्य करते थे । उनके बड़े-बड़े महारथ थे जो कि शत्रु-रथियों के रथों के सम्मुख पर्वत तुल्य दुर्भेद्य थे । समस्त शत्रुओं को पराजित और समस्त पृथ्वी को अपने अधीन कर वह राज्यलक्ष्मी को तृणवत् समझने लगा और मोक्षार्थी को प्राप्त करने के लिए उद्ग्रीव हो उठा । उपवन विहार, जलकेलि, गायकों के सुमधुर संगीत-श्रवण, हस्ती-अश्वदि पशुओं का नानाविध क्रीडादर्शन, नाट्य और दसविध नाटक सह बसन्तोत्सव एवं कौमुदी आदि बहुविध उत्सव अवलोकन, स्वर्ग के विमान-से प्रासाद में निवास, नाना प्रकार के बस्त्रालंकार परिधान और सुगन्ध द्रव्यादि का लेपन करने में धीरे-धीरे उनकी रुचि समाप्त हो गई । पहले भी इन सबके प्रति उनमें रुचि थी ऐसा भी नहीं था । केवल लोक-व्यवहार के लिए वे इन कार्यों को करते थे । कुछ दिन इसी भाँति व्यतीत होने पर चित्तरक्ष मुनि से उन्होंने दीक्षा ले ली । बीस स्थानक और अर्हत्-उपासना कर उन्होंने तीर्थकर गौत्र कर्म उपार्जन किया और मृत्यु के पश्चात् प्राणत देवलोक के पुण्योत्तर विमान में देव-रूप में उत्पन्न हुए ।

(श्लोक ३-११)

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के दक्षिणार्द्ध में अयोध्या नामक एक नगरी थी जो कि इक्ष्वाकु कुल रूप पर्वत की आधारशिला थी । निर्मल जलपूर्ण परिखा समन्वित वह नगरी मेखला परिहित रति-

कामी सुन्दरी स्त्री-सी लगती। वहाँ के अन्तःपुरों के प्रवेश और निर्गमन-द्वार प्रशस्त थे, सन्धियाँ हृदय भी कुट्टिमत्तल प्रेक्षणीय और कीड़ा के लिए विषाद भूमिबुक्त था। अन्तःपुर का ऊपरी भाग स्वर्ण जालयुक्त होने से लगता था मानो अन्तःपुरों ने गृह-लक्ष्मी की मुकुट-माला को धारण कर रखा है। नगरी के अर्हत मन्दिरों में निवेदित पुष्पों का शीरभ वायु में प्रवाहित होकर नगर-जनों के सन्ताप-हरण में अमृत-तुल्य था। (श्लोक १२-१६)

यहाँ के राजा सिंह-तुल्य बलशाली नरसिंह सिंहसेन थे। भक्तिवशतः जिस प्रकार देवों की सेवा की जाती है उसी प्रकार राजन्य अपने कल्याण के लिए इनकी सेवा करते। सद्गुणियों में अग्रगण्य वे राजा अपने विभिन्न निर्मल सद्गुणों से उसी प्रकार सबको प्रमुदित करते जैसे चन्द्र अपनी निर्मल कौमुदी से पृथ्वी को आनन्दित करता है। योग्यता की भी योग्यता की वहन करने वाले उन्होंने अर्थ-धर्म-काम को इस प्रकार धारण कर रखा था मानो वे सब उनकी सेवा में उपस्थित हैं। (श्लोक १७-२०)

उनकी पत्नी का नाम था सुयशा। वह धर्म के दिवांस रूप और चारित्र्य रूपी यश का आधार थी। मन्दाकिनो जिस प्रकार त्रिलोक को पवित्र करती है उसी प्रकार उसने मातृकुल, पितृकुल, श्वशुरकुल रूप त्रिलोक को पवित्र कर दिया था। चन्द्र उसकी मुखाकृति धारण करता, कमल उसके नयनों का अनुज था। शंख उसकी भुजाओं का सन्ना था। कलश पयोधर का सहोदर था। गुफा नाभि के पुत्र-तुल्य था, नदी सैकड़ नितम्बों की अनुकृति और कदली-वृक्ष उसकी जंघाओं के अनुज थे एवं कमल पदतल के। वस्तुतः उसकी सुन्दर देह का कोई भी अंश ऐसा नहीं था जो अनुलनीय नहीं हो। (श्लोक २१-२४)

प्राणत नामक स्वर्ण में पद्मरत्न के जीव ने बड़े आनन्द से वहाँ का सर्वोत्तम आमुष्य पूर्ण किया। श्रावण कृष्ण सप्तमी को चन्द्र जब रेवती नक्षत्र में था वह वहाँ से क्यबकर रानी सुयशा के गर्भ में प्रविष्ट हुआ। सुख-शय्या में सोई रानी ने रात्रि के शेष याम में अर्हत-जन्म सूचक हस्ती आदि चौदह महास्वप्न देखे। वंशाश्व शुक्ला तयोदशी को चन्द्र जब पुष्य नक्षत्र में था रानी ने स्वर्ण वर्ण श्वेत लक्षण युक्त एक पुत्र को जन्म दिया। रुचकादि पक्षियों से छपन

बिम्ब कुमारियां आईं और जातक के जन्म-कृत्य सम्पन्न किए। सीधमें कल्प से इन्द्र वहां आए और तीर्थकर एवं तीर्थकर-माता को नमस्कार कर प्रभु को आकाश-पथ से मेरुशिखर पर ले गए। उन्हें गोद में लेकर वे अति पाण्डुकवला शिला पर रखे सिंहासन पर बैठ गए।

किर तीर्थादि से जाए जल से अच्युतेन्द्रादि वेंसठ इन्द्रों ने यथा समय उनका स्नानाभिषेक किया। मानो उनका भार वहन करने में अक्षम हो इस प्रकार शक्र ने महाबली प्रभु को ईशानेन्द्र की गोद में बैठाकर स्फटिक निर्मित विपुलायतन वृषभों के शृंग से निर्गत जल से उन्हें स्नान करवाया। तदुपरान्त देवदूष्य वस्त्र से उनकी देह पौछकर देह पर चन्दन-लेपन, पूजा आदि कर इस प्रकार स्तुति की :

(श्लोक ३३-३६)

‘जो आपके चरणों में गिरकर धूलिलिप्त होता है उसके लिए शो-शीर्ष चन्दन से अर्चित होना कुछ भी कठिन नहीं है। भक्ति-भाव से जो आपके मस्तक पर एक फूल भी चढ़ाता है वह सर्वदा छत्रयुक्त होता है। जो आपकी देह पर एक बार भी अंगराग लेपन करता है वह निष्पन्न ही देवदूष्य वस्त्र धारण करता है। एक बार भी जो आपके गले में पुष्पमाला अपित करता है उसके गले में देवियों की लता-सी बाहुएं वेष्टित होती हैं। एक बार भी जो आपका निर्मल गुणगान करता है—उसका नाम देवियों द्वारा कीर्तित होता है। आपके सम्मुख जो एक बार भी भक्ति भरे ललित पदक्षेप से नृत्य करता है उसके लिए ऐरावत की पीठ पर चढ़ना कोई बड़ी बात नहीं है। दिन और रात्रि जो आपके दिव्य स्वरूप का ध्यान करता है, हे प्रभु ! वह आपके स्वरूप की प्राप्ति कर अन्य के लिए ज्येष्ठ हो जाता है। आपकी कृपा से मुझे आपका स्नानाभिषेक, अंगरागलेपन, अलंकारों से आपको सज्जित करने का अधिकार सर्वदा प्राप्त हो।’

(श्लोक ३७-४४)

इस प्रकार स्तुति कर शक्र ने तीर्थकर भगवान् को ले जाकर देवी सुयशा के पास सुला दिया। तदुपरान्त नन्दीश्वर द्वीप में शाश्वत जिनेश्वरों के सम्मुख अष्टाङ्गिका महोत्सव कर शक्र एवं अन्य इन्द्र अपने-अपने निवास-स्थान को लौट गए। (श्लोक ४५-४६)

जब यह पुत्र गर्भ में था तब महाराज सिंहसेन ने शत्रु की

अनन्त बलयुक्त सैन्य को पराजित कर दिया था अतः जातक का नाम रखा गया अनन्तजीत । यह जातक मातृ-स्तन पान न कर योगी जैसे ध्यानामृत पान करता है वैसे ही स्व-अंगुष्ठ का अमृत पान कर तद्रहित होने लगा । क्रमशः जैशन अतिक्रम कर चन्द्र की भांति उन्होंने पूर्ण यौवन प्राप्त किया । आप १० अनुष दीर्घाकार थे ।

(श्लोक ४७-४९)

पथिक जिस प्रकार परित्याग के लिए आश्रम का संधान करता है वैसे ही पिता की आज्ञा से, परित्याग करूँगा यही सोचकर, उन्होंने विवाह किया । साढ़े सात लाख वर्ष व्यतीत हो जाने पर पिता को आनन्दित करने के लिए उन्होंने राज्यभार भी ग्रहण किया । पन्द्रह लाख वर्ष तक राज्य शासन किया तदुपरान्त उनके मन में संसार-परित्याग की इच्छा जाग्रत हुई । उसी समय ब्रह्मलोक से सारस्वत आदि लोकान्तिक देव उनके निकट आए और बोले, हे देव, अब तीर्थ स्थापित कीजिए । कुबेर द्वारा प्रेरित और जम्भक देवों द्वारा लाए अर्थ को प्रभु ने एक वर्ष तक दान किया । बरसी दान की समाप्ति पर देव अमुर और नरेन्द्रों ने मुमुक्षु प्रभु का स्नानाभिषेक सम्पन्न किया । तत्पश्चात् त्रिलोकनाथ चन्दन वस्त्राभूषण और माल्यादि धारण कर सागरदत्ता नामक उत्तम शिविका पर आकृष्ट हुए । उनके छत्र चैत्र और पंखों को शक्रादि देवों ने वहन किया । इस भांति प्रभु शिविका पर आरोहण कर सहस्राश्वन उद्यान में पहुँचे ।

(श्लोक १०-१७)

प्रभु मनसिज की भांति उस उद्यान में प्रविष्ट हुए जहाँ नगर-नारियां खेचरियों की भांति प्रेक्षा में झूल रही थी । उस उद्यान ने अशोक के नव-उद्गत किसलयों से रक्तिम वर्ण धारण कर रखा था । वनलक्ष्मी की चंचल अलकावलियों की तरह मधुपान में मतवाले भ्रमर इधर-उधर उड़ रहे थे । नव पल्लव उद्गत कर पंखों के आन्दोलन से मानो आम्रवृक्ष नगर-नगरियों के व्रीडाजनित भ्रम का अपहरण कर रहे थे । कुण्डल की तरह कर्णिकार पुष्प वसन्त लक्ष्मी के कानों में लटक रहे थे और कचनार के पुष्पों ने उसके कपोलों पर स्वर्ण-तिनक की रचना कर रखी थी । कोकिल कुह-कुह शब्दों से मानो उनका स्वागत कर रहा था ।

(श्लोक १८-२२)

शक्र के हाथों पर हाथ रखकर प्रभु सागरदत्ता शिविका से

उतरे और उसी उद्यान में प्रविष्ट हुए। उन्होंने अपने अलंकारों को उतार दिए। बेंशाख कृष्ण चतुर्दशी को चन्द्र जब रेवती नक्षत्र में था तब दो दिनों के उपवासों प्रभु ने एक हजार राजाओं सहित दीक्षा ग्रहण की। प्रभु को वन्दना कर शक्रादि देव कार्य समाप्ति पर जैसे मनुष्य घर लौट जाते हैं वैसे ही अपने-अपने निवास स्थान को लौट गए। दूसरे दिन सुबह चौदहवें तीर्थंकर भगवान् ने वर्द्धमानपुर के राजा विजय के घर स्त्रीरात्रि ग्रहण कर उपवास का पारणा किया। उसी समय रत्नवृष्टि आदि पंच दिव्य प्रकट हुए। प्रभु जहाँ खड़े थे उस स्थान पर राजा विजय ने एक रत्नमय वेदी का निर्माण करवाया। प्रभु अपछ्छ (मायाहीन) होने पर भी छद्मस्थ साधुओं की तरह परिषदों को सहन करते हुए विभिन्न स्थानों में विचरण करने लगे। (श्लोक ६१-६८)

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में आनन्द के निकेतन स्वरूप नन्दपुरी नामक एक नगर था। वहाँ के राजा का नाम था महाबल। शत्रु-पत्नियों के लिए दुःखदानकारी वे अशोक वृक्ष की तरह कुलक्षपी उद्यान के अलंकार स्वरूप थे। महामना वे जिस भाँति चतुर नगर-वासी ग्रामवासी से बीतभ्रष्ट हो जाते हैं वैसे ही संसार-वास से बीतभ्रष्ट हो गए थे। उन्होंने अग्नि वृषभ के चरणों में पहुंचकर केश उत्पाटित कर चारित्र्य ग्रहण कर लिया। उत्तम फल प्रदान करने वाले चारित्र्य का पालन कर मृत्यु के पश्चात् वे सहस्रार देवलोक में मुख्य देव के रूप में उत्पन्न हुए। (श्लोक ६९-७३)

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में पुरन्दर की नगरी जैसी कौशाम्बी नामक एक नगरी थी। उस नगरी के राजा का नाम था समुद्रदत्त। वे समुद्र की तरह ही गम्भीर थे और शत्रुओं के समस्त रत्नों के आकर थे। उनके नन्दा नामक एक पत्नी थी। वे चन्द्रालोक की तरह नेत्रों को प्रिय और सौन्दर्य में देव रमणियों के गर्व को भी खण्डन कर देने वाली थीं। (श्लोक ७४-७६)

मलय देश के राजा चंडशासन समुद्रदत्त के मित्र थे। बसन्त-मित्र मलय पवन की तरह एक बार वे समुद्रदत्त के यहाँ गए। समुद्रदत्त ने भी अपने सहोदर की भाँति उन्हें और उनके संगियों का अपने घर में खूब आदर-सत्कार किया। वहाँ चण्ड-शासन ने समुद्र की जालवी-सी, नयनों को आनन्द देने वाली समुद्रदत्त की पत्नी

नन्दा को देखा । उसे देखते ही उसका देह स्तम्भित हो गया मानो वह कामदेव के असह्य शर से बिध गया हो, इस प्रकार स्वेदपूर्ण हो गया मानो विच्छेद के ताप से जल गया हो, इस प्रकार रोमांचित हो उठा मानो प्रेम का अंकुर प्रस्फुटित हो गया हो, उसके देह-सोष्ठव को देखकर चण्डशासन का कण्ठ अवरुद्ध हो गया मानो राहु ने उसे ग्रस लिया हो, उसकी देह कांपने लगी मानो वह उसके आलिंगन को उत्सुक हो गया हो, बर्षाहीन हो गया मानो उसे न पाने के दुःख से विवर्ण हो गया हो, अश्रुजल से उसकी दृष्टि मूर्छासन्न हो गई मानो उसे न पाने के कारण उसकी मृत्यु सम्मुख उपस्थित हो गई हो । सुगठित अंग-प्रत्यंग वाली नन्दा को देखकर इस भांति के कौन-कौन से भाव उसके मन में उदित नहीं हुए ? (श्लोक ७३-८५)

समुद्रदत्त मित्र पर विश्वास करते थे । इसका लाभ उठाकर चण्डशासन बाज जैसे हार उठाकर ले जाता है उसी प्रकार नन्दा का अपहरण कर ले गया । राक्षस-से ज्ञातिशाली और मायावी मनुष्य द्वारा अपहृत पत्नी का उद्धार करने में असमर्थ समुद्रदत्त को संसार से वैराग्य हो गया । हृदय में अपमान का शल्य लिए उसने मुनिवर श्रेयांस से दीक्षा ग्रहण कर ली और कठोर तपस्या कर वह निदान कर लिया कि यदि इस तपस्या का कुछ फल है तो मैं नन्दा के अपहरण करने वाले का वध कर सकूँ । इस निदान से उसने तप के फल को सीमित कर लिया और मृत्यु के पश्चात् सहस्रार देवलोक में देवरूप में उत्पन्न हुआ । (श्लोक ८७-९१)

यथा समय चण्डशासन की भी मृत्यु हुई और संसारावतल में विभिन्न भवों में भ्रमण करता हुआ वह इसी भरत क्षेत्र की पृथ्वी नामक नगरी में राजा विलास के औरस से गुणवती के गर्भ से मधु नामक पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ । तीस लाख वर्ष की परमायु वाला पचास धनुष दीर्घ तमालवर्णीय मधु चलमान पर्वत-सा लगता था । अपनी लम्बी भुजाओं के कारण वह मनोहर एवं प्रशस्त वक्ष के कारण अधित्यका निवासी दोनों दन्त विशिष्ट दिग्गज-सा लगता था । छीर भाव से चलने पर भी उसके पदचाप से पृथ्वी घास-फूस पूर्ण बिबर की भांति घँस जाती । जब वह पूर्ववर्ती राजाओं के वीरत्व की कहानी सुनता तब उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है जानकर दुःखी होता । उसने एक छोटे ग्राम की तरह खेल-खेल में भरताऊँ

को जय कर लिया और असीम बाहुबलधारी के रूप में अपना नाम चन्द्रमण्डल में खुदवा दिया । चक्र द्वारा शत्रुओं का दमन कर वह शक्र की तरह शक्तिशाली और मनुष्यों में सूर्यतुल्य चतुर्थ प्रतिवासुदेव हुआ ।
(श्लोक १२-१९)

उसके कैंठभ नामक एक भाई था । वह धान से तुष निकालने वाला सूप की तरह शत्रुओं को हाथों से विमर्दित कर देता । शत्रुश्रियों का उपभोग करने के कारण उसने सुन्दर स्वरूप प्राप्त किया था ।
(श्लोक १००)

उसी समय चन्द्र-सूर्य-से गुणवान सोम नामक एक राजा द्वारका में राज्य कर रहे थे । उनके दो पत्नियाँ थीं जिनमें एक का नाम था सुदर्शना । वह देखने में बहुत सुन्दर थी । दूसरी का नाम था सीता । सीता का भुख था पूर्ण चन्द्र-सी । सहस्रार स्वर्ग से राजा महाबल का जीव च्युत होकर सुदर्शना के गर्भ में प्रविष्ट हुआ । रात्रि के जेप याम में बलदेव के जन्म की सूचना देने वाले चार महास्वप्न उसने देखे । नौ महीना साढ़े सात दिन व्यतीत होने पर रानी सुदर्शना ने चाँद-से गौरवर्णीय एक पुत्र को जन्म दिया । राजा सोम ने भिक्षार्थियों को तृप्त कर महा उत्सव के साथ पुत्र का नाम रखा सुप्रभ ।
(श्लोक १०१-१०६)

समुद्रदत्त का जीव भी सहस्रार देवजोक का आयुष्य पूर्ण कर रानी सीता के गर्भ में प्रविष्ट हुआ । रात्रि के जेप याम में सुख-शय्या में सोई हुई उसने वासुदेव के जन्म सूचक सात महास्वप्नों को अपने मुख में प्रवेश करते हुए देखा । समय पूर्ण होने पर उसने सब सुलक्षणयुक्त भरकतवर्णीय एक पुत्र को जन्म दिया । एक शुभ दिन देखकर पिता ने चतुर्थ वासुदेव का नाम रखा पुरुषोत्तम ।

(श्लोक १०७-११०)

नील और पीत वस्त्रधारी तालध्वज और गरुडध्वज वाले दीर्घबाहु वे परस्पर असीम प्रेम के कारण यमजन्ते लगते थे । उन्होंने अल्प समय में ही गुरु से समस्त विद्याएँ सीख लीं । पूर्व जन्म के सुकृतों के कारण ही महापुरुषों के लिए यह सम्भव हो पाता है । खेल ही खेल में उनके द्वारा किए मुष्ठाघात को भी सैनिक सहन नहीं कर पाते थे । कारण, हस्ती स्पर्शमात्र से और सर्प निःस्पर्श मात्र से ही निहत करने में समर्थ होते हैं । पवन-से बलशाली वे श्री

के निकुञ्ज-से गौवन को प्राप्त हुए । देवों ने उन नर-रत्नों को विजय सूचक अस्त्र-रत्न दिए । अय्यज को हल आदि एवं अनुज को सारंग आदि । (श्लोक १११-११५)

जब बलराम और वासुदेव सम्पूर्ण रूप से समर्थ और शक्तिमान हुए तब कलहप्रिय नारद एक दिन प्रतिवामुदेव मधु-के गृह गए । रीतिविद् मधु ने उनका समादर किया और प्रणाम करते हुए बोला—‘स्वागत महामुनि, स्वागत ! पुण्य योग से ही आज आपसे साक्षात्कार हुआ है । भरताड़ के समस्त राजा मेरे अधीन हैं यहाँ तक कि मगध, वरदाम और प्रभासपति आदि देव भी मेरे आज्ञाकारी हैं । अतः हे नारद मुनि, आप निर्भय होकर आपके जाने का कारण मुझसे कहें । कोई भी वस्तु या स्थान आपको अभिप्रेत हों तो कहें, मैं वह आपको देने में समर्थ हूँ ।’ (श्लोक ११६-११९)

नारद बोले—‘मैं किसी वस्तु या स्थान-प्राप्त के लिए यहाँ नहीं आया हूँ । मैं तो यहाँ आया हूँ केवल विनोद के लिए । लोग आपको मिथ्या ही अर्द्धभरत का अधीश्वर कहते हैं । चाटुकारों की तरह आपका गुणगान करते हैं । सत्यवादी अब है कहाँ ? बुद्धिमान व्यक्ति लोभी भिक्षार्थियों द्वारा प्रणसित होकर लज्जित ही होते हैं एवं निश्चय ही उनका विश्वास नहीं करते । पराक्रमियों में भी महापराक्रमी हैं और महानों में भी महत् । पृथ्वी तो बहु रत्न संभवा है ।’ (श्लोक १२०-१२३)

शभी वृक्ष के मध्य जंसे अग्नि अन्तर्निहित होती है उसी प्रकार अन्तर्निहित क्रोध से ओष्ठ दंशन कर मधु नारद से बोले—‘इस भरताड़ में गंगा से कौन सी नदी बड़ी है, वंताइय से कौन सा पर्वत बड़ा है और मुझसे और कौन बलशाली है ? बताइए उसका नाम । शरभ के सम्मुख ही हस्ति-शवक की तरह उसमें कितना बल है यह मैं आपको दिखा दूँगा । कोई मद्यप या उन्मादी ने आपका अपमान किया है जो कि उसकी मृत्यु की कामना आप प्रजंसा के बहाने चाह रहे हैं ।’ (श्लोक १२४-१२७)

नारद बोले—‘मैं मद्यप एवं उन्मादी के पास तो जाता ही नहीं अतः उनके द्वारा मेरे अपमान का तो कोई प्रान्त ही नहीं उठता । अभी आपने कहा अर्द्धभरत के अधीश्वर हैं, आगे से ऐसा मत कहिएगा । कारण, यह कथन हास्यास्पद है । राजन्, क्या आपने

लोक मुख से कभी द्वारिकाधीश सोम के दोनों पुत्र सुप्रभ और पुरुषोत्तम के विषय में नहीं सुना ? महाबलशाली, दीर्घबाहु, परस्पर स्नेहशील और दुस्मह, भूतिमान पवन या अग्नि, एक हाथ में समुद्र और पर्वत, पृथ्वी को उठाने में समर्थ हैं। उन्हें देखकर लगता है मानो कौतूहल के लिए शक और ईशानेन्द्र ही इस पृथ्वी पर उतर आए हैं। सिंह जैसे वनखण्ड पर अधिकार कर लेता है उसी प्रकार भरत पर उनका अधिकार है। मशान्न हस्ती की तरह अश्विनदातः आप वृथा गर्व कर रहे हैं।' (श्लोक १२८-१३३)

यह सुनते ही मधु के नेत्र क्रोध से रक्तिम हो उठे, तुरन्त जैसे युद्ध की कामना कर रहा हो इस प्रकार वह दांत पीसते हुए बोला— 'आप जो कुछ कह रहे हैं वह यदि सत्य है तो मैं यम और आपको इस युद्ध को देखने के लिए आमन्त्रित करता हूँ और यह भी कहता हूँ कि मैं द्वारिका को सोम, सुप्रभ और पुरुषोत्तम से शून्य कर दूँगा यह अन्यथा नहीं है।' (श्लोक १३४-१३६)

ऐसा कहकर नारद को विदा देते हुए उन्होंने सोम और सोम-पुत्रों से गोपनवार्ता करने वाला दूत भेजा। दूत की यद्यपि अपनी कोई शक्ति नहीं होती; किन्तु वह अपने प्रभु की शक्ति से शक्तिशाली हो जाता है। इसी प्रकार शक्तिशाली बनकर वह दूत सोम और सोम-पुत्रों के पास जाकर बोला—

'गर्बियों के गर्व को खण्डन करने वाले, सदाचारियों के लिए सौम्य बाहुबल से सर्वत्र विजयी, युद्ध विद्या में प्रवीण, जिनके चरण-कमलों की दक्षिण भरतार्द्ध के उच्चकुल जात राजन्यरूपी हंस दास की तरह सेवा करते हैं, वंताद्वय पर्वत की दक्षिण श्रेणी के विद्याधर राजा भी जिन्हें कर देते हैं, द्वितीय आखण्डल की भांति जिनकी आज्ञा सभी शिरोधार्य करते हैं वही अर्द्ध-चक्री मधु अर्द्ध-भरतरूपी उद्यान के बसन्त रूप आप लोगों को यह आदेश देने के लिए मुझे यहाँ भेजा है—राजन्, ध्यान से सुनिए। हम जानते हैं कि आप हमारे प्रभु के प्रति अनुगत थे; किन्तु अब सुना गया है कि आपने अपने पुत्रों के बल के कारण उस आनुगत्य को बदल दिया है। यदि पूर्व की तरह ही आपका आनुगत्य उनके प्रति है तो क्रोध की चावी सहित उन्हें उपहार भेजें। उनकी इच्छा से आप सब कुछ फिर प्राप्त कर सकते हैं। सूर्य पृथ्वी से जो जल ग्रहण करता है वह पुनः पृथ्वी

को लौटा देता है; किन्तु उनके क्रुद्ध होने पर जो कुछ भी ऐश्वर्य आपके पास है सब नष्ट हो जाएगा। कारण, प्रभु के क्रुद्ध हो जाने पर उनके भय से ही ऐश्वर्य चला जाता है। प्रभु यदि विरोधी हों तो ऐश्वर्य तो दूर पत्नी, पुत्र, बन्धु-बान्धव भी नहीं रह पाते हैं। आप प्रभु की आज्ञा का पालन कर विधिवत राज्य शासन करिए। आपके विरोधियों के वाक्य कुकुर-र्वात्कार को भाँति मिथ्या हो जाएँ।' (श्लोक १३७-१४८)

यह सुनकर क्रोध से उन्नत बने पुरुषोत्तम बोले—'दूत होने के कारण तुम्हारा बह नहीं किया जा सकता तभी तुम नरक के कुत्ते की तरह इस प्रकार बोल सके हो। तुम उन्मादी हो या मद्यप, प्रमादी हो या पिशाचग्रस्त जो ऐसा बोल रहे हो? लगता है तुम्हारे प्रभु ही ऐसे हैं जिन्होंने यह सब कुछ कहने को तुम्हें भेजा है? बच्चों के नाटक में जैसे कोई बच्चा राजा का अभिनय करे उसी प्रकार तुम्हारे प्रभु भ्रमित प्रभु का अभिनय कर रहे हैं। उस अभिनयी को हमने कब प्रभु कहकर स्वीकृत किया है? वाक्यों से ही यदि इच्छा का परिमाण हो सकता है तो वे स्वयं को इन्द्र क्यों नहीं कहते? राज्य-ऐश्वर्य सम्पन्न हम पर उन्होंने ही आक्रमण किया है। ज्वार द्वारा कूल पर निक्षिप्त होकर मछलियाँ जिस प्रकार मारी जाती हैं तुम्हारे प्रभु भी अब मेरे द्वारा उसी प्रकार भृत्य को प्राप्त होंगे। जाओ—करकामी अपने प्रभु से कहो—यहाँ आकर युद्ध कर कर ले जाएँ। क्रीतदास का अर्थ जैसे ग्रहण किया जाता है उसी प्रकार उसके प्राण सहित मैं अब उनका समस्त ऐश्वर्य ग्रहण करूँगा।'

(श्लोक १४९-१५४)

पुरुषोत्तम के कथन से क्रुद्ध बना दूत लौट गया। कहना कठिन था फिर भी उसने सारा वृत्तान्त मधु को खोलकर बता दिया। मेघ शब्द से शरम जैसे क्रुद्ध हो जाता है वैसे ही वामुदेव के कथन से मधु क्रुद्ध हो उठा। उसने उसी क्षण युद्ध का नगाड़ा बजाने की आज्ञा दी नगाड़े की भयङ्कर आवाज सुनकर खेबरों ने कान में उँगली डाल ली। मुकुटधारी राजा, अप्रतिहत योद्धा, सेनापति, मन्त्री अन्य सामन्त और युद्ध में उसी के अनुरूप योद्धाओं से परिवृत्त होकर मधु ने देवों की तरह माया रूप धारण कर युद्ध के लिए प्रयाण किया। बुरे शकुन और अमङ्गलकारक चिह्नों की उपेक्षा

कर अपने बाहुबल के अहङ्कार से अहङ्कारी बना वह मृत्यु द्वारा अकृष्ट होकर शीघ्र ही सीमा पर जा पहुँचा। यम जैसे वामुदेव भी वहाँ सोम, सुप्रभ, सेनापति और सैनिकों से परिवृत होकर उपस्थित हुए। उभय पक्षों के सैनिकों ने अस्त्रबाही ऊँटों के पास जाकर अपने-अपने अस्त्र-शस्त्र ग्रहण किए और धनुष पर टङ्क़ार देने लगे। तदुपरान्त एक साथ अनेक अस्त्र आकाश में उत्क्षीप्त हुए और रक्तपान को उरमुक राक्षस की तरह बहुतांश का विनाश कर डाला।

(श्लोक १५५-१६३)

उत्तम हस्ती महावत द्वारा चालित होकर कभी आगे बढ़ते हुए, कभी पीछे हटते हुए चारों दिशाओं से युद्ध करने लगे। एक ओर वर्षा दूसरी ओर तोमर लटकाकर हाथों में तलवार लिए अश्वारोहियों ने द्रुतगति से अण्व धावित किए। दो रथ सिन्धु नदी के दोनों तीरों की तरफ़ गुरुनीति से दृष्टी को सन्धि करते हुए परस्पर निकट आए। पैदल सेना के वीर सैनिक तलवार से तलवार, ढाल से ढाल पर आघात कर युद्ध करने लगे। मुहूर्त भर में वामुदेव की सेना प्रलयकालीन वामु से जैसे वृक्ष भग्न हो जाते हैं वैसे ही भग्न हो गई। तब वामुदेव बलभद्र सहित आगे आए और शत्रु के लिए अशुभशोक अपना पाञ्चजन्य शङ्ख बजाया। इसके शब्द को सुनकर मधु के कई सैनिक कांप उठे, कई स्तम्भित हो गए, कई मूर्च्छित होकर धरती पर गिर पड़े। (श्लोक १६४-१७०)

जब मधु ने अपने सैन्यदल को निष्प्रभ होते देखा तो उसने धनुष की टङ्क़ार करते हुए पुरुषोत्तम पर सीधा आक्रमण किया। वामुदेव ने भी अपने धनुष पर टङ्क़ार दी। उस शब्द की प्रतिध्वनि ने स्वर्ग और मृत्यु को शब्दित कर डाला। सपेरा जैसे बिबर से सर्प बाहर करता है उसी प्रकार वे तूणीर से तीक्ष्ण बाण बाहर करने लगे और मारने के लिए एक दूसरे पर छोड़ने लगे। विनाश दक्ष दोनों अस्त्रों द्वारा मानो विजय-लक्ष्मी को ही चिन्तित कर रहे हैं इस प्रकार उन्होंने परस्पर के अस्त्र को नष्ट कर दिया। रस्सी काटने की तरह वे दोनों दूसरे के अस्त्रों को मध्य पथ में ही काटने लगे। समान शक्तिशाली योद्धाओं के युद्ध ऐसे ही होते हैं। दोनों को प्रायः समान-सा देखकर परिवर्तन को उरमुक मधु ने चक्र को स्मरण किया। चक्र भी उसी मुहूर्त में उसके हाथ में आ गया। यद्यपि मधु

वासुदेव को मारने के लिए उत्सुक था फिर भी वह कम्पित कण्ठ से वासुदेव को बोला—‘भागो, भागो, अज्ञानतावश तुम क्यों बाघिनी के दांत देखना चाहते हो ? तुम जैसे बालक की हत्या करने से गज-राज की शक्ति क्या चरितार्थ होती है ? मैं युद्ध विचाररत्न और तुमसे बड़ा हूँ । मेरी तुलना में तुम बहुत छोटे हो, पर्वत की तुलना में हाथी की तरह, बूढ़ा हाथी होने पर भी ।’ (श्लोक १७१-१७९)

वासुदेव प्रति-वासुदेव को हँसते हुए बोले—‘सूर्य नवीन उदित होने पर भी अन्धकार को दूर कर देता है, अग्नि का एक स्फुलिङ्ग भी समग्र तृण को दग्ध कर देता है । वीरत्व का परिमाण यश द्वारा होता है । यश का वयस से क्या सम्बन्ध ? द्विधा कौ क्या आवश्यकता है ? निर्भय होकर अपना चक्र निक्षेप करो । विष उद्गोरण करके ही सर्प शान्त होता है उसके आगे नहीं ।’ (श्लोक १८०-१८२)

मधु ने चक्र को अँगुली पर धारण किया । शिष्ट जैसे फलझंडी घुमाता है उसी प्रकार उसे घुमाकर निक्षेप कर दिया । उस अग्नि-उद्गोरणकारी चक्र ने वासुदेव के वक्ष को नाभि के अधभाग द्वारा स्पर्श किया । उस आघात से मूर्च्छित होकर बे रथ में गिर पड़े । बलदेव ने उनके मस्तक को अपनी गोद में लिया । जमृत-स्नान की भांति भाई के स्पर्श से वासुदेव की संज्ञा लौट आई और मधु के आयुष्य के साथ ही मानो उन्होंने चक्र को हाथ में ले लिया ।

(श्लोक १८३-१८६)

वासुदेव मधु को सम्बोधित करते हुए बोले—‘अब तुम मेरी तरह खड़े रहने का साहस मत करो । भागो, शीघ्र भागो । कारण, केशरी सिंह के साथ कुक्कुर की क्या तुलना है ?’ मधु बोला—‘चक्र निक्षेप करो । शरद के मेघाढम्बर की तरह क्यों व्यर्थ गर्जना कर रहे हो ?’ यह सुनते ही पुरुषोत्तम ने चक्र निक्षेप किया जिसने मधु के मस्तक को ताल फल की तरह जमीन पर निक्षिप्त कर दिया । देव जय-जयकार करते हुए आकाश से वासुदेव पर पुष्प वर्षा करने लगे और मधु के अनुचर ‘प्रभु तुम कहाँ हो ?’ कह-कहकर अश्रुपात करने लगे । पुरुषोत्तम के सेनापति ने महायोद्धा कैंठभ को निहत कर डाला । मधु के सामन्त राजाओं ने उनका आधिपत्य स्वीकार कर लिया ।

(श्लोक १८७-१९१)

तदुपरान्त वासुदेव ने मगध, वरदाम और प्रभास सहित समग्र

मार्गदर्शक - आचार्य श्री तुलुविदित्तामर जी महाराज

दक्षिण भरतार्द्ध को जप कर लिया। मगध में उन्होंने जिस शिला को एक कोटि लोग उठाने में समर्थ नहीं हो रहे थे उसे हँसते-हँसते उठा लिया और पृथ्वी के आच्छादन की भांति पुनः रख भी दिया। समुद्र-तरंगों से अभिसिञ्चित होते हुए वे पुनः अपनी नगरी द्वारिका लौट आए। वहाँ सोम, बलराम और अन्त्यान्य राजान्यों द्वारा अर्द्ध-चक्री रूप में सानन्द उनका अभिषेक सम्पन्न कर दिया गया।

(श्लोक १९२-१९४)

अनन्तनाथ स्वामी तीन वर्ष तक छद्मस्थ रूप में विचरण करते हुए सहस्राश्र्वन उद्यान में पहुँचे। वहाँ अशोक वृक्ष के नीचे जब वे ध्यानमग्न थे उनके घाती बर्म संसार के बन्धन की तरह छिन्न हो गए। वंशाख कुण्डा चतुर्दशी को चन्द्र जब रेवती नक्षत्र में अवस्थित था तब दो दिनों के उपवासी प्रभु को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। देव निर्मित समवसरण में भगवान् ने यश जादि पचास गणधरों के सम्मुख देशना दी।

(श्लोक १९६-१९९)

उसी समवसरण में रक्तवर्ण त्रिमुख पाताल नामक यक्ष उत्पन्न हुए। मकर उनका वाहन था। उनके दाहिनी तरफ के तीन हाथों में कमल, तलवार और पाश थे। बाएँ तीनों हाथों में नकुल, डाल और अक्षमाला थी। वे अनन्तनाथ स्वामी के शासनदेव हुए। इसी प्रकार शुभ्रवर्णा, कमल वाहना अंकुशा देवी उत्पन्न हुई। जिनके दाहिने दोनों हाथों में तलवार और पाश था एवं बाएँ दोनों हाथों में डाल व अंकुश था। ये अनन्तनाथ स्वामी की शासन देवी बनीं। मोक्ष के उत्तम द्वार रूप अनन्तनाथ स्वामी शासन देव-देवी सहित पृथ्वी पर विचरण करते हुए द्वारिका नगरी में उपस्थित हुए। शक्र एवं अन्य देवों ने वहाँ ६०० धनुष दीर्घ चैत्य वृक्ष सहित समवसरण की रचना की। भगवान् अनन्तनाथ ने पूर्ब द्वार से प्रवेश कर विशाल चैत्य वृक्ष को तीन प्रदक्षिणा दी। 'नमो तित्थाय' कहकर पूर्ब दिशा में रखे रत्न-सिंहासन पर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गए। पर्येद भी यथायोग्य स्थान पर जाकर बैठ गयीं। व्यन्तर देवों ने प्रभु की तीन प्रतिमूर्ति निर्माण कर अन्य तीन ओर रखे रत्न-सिंहासनों पर रख दीं।

(श्लोक २००-२०८)

राजकीय अनुचरों ने बामुदेव पुरुषोत्तम को १४वें तीर्थङ्कर के समवसरण की सूचना दी। बासुदेव ने संवादवाहक को बारह

करोड़ रौप्य मुद्राएँ दान की और बलभद्र सहित समवसरण पहुँचे । भगवान् को प्रदक्षिणा देकर, वन्दना कर पुरुषोत्तम वामुदेव अपने अग्रज सहित इन्द्र के पीछे जा बैठे । पुनः भगवान् को वन्दन कर शक्र, वामुदेव और बलदेव गद्गद् कण्ठ से निम्नलिखित स्तवन का पाठ करने लगे :

(श्लोक २०९-२१२)

‘हे प्रभो, जब तक आप मनुष्य के मन पर आधिपत्य नहीं करने तब तक उनका अन्तर ऐश्वर्य विषय रूपी दम्पुओं द्वारा लुटा जाता रहेगा । क्रोध रूपी अन्धकार जो मनुष्य को अन्ध कर देता है वह दूर से ही आपके दर्शनों के आनन्द के आनन्दाश्रु जल में काजल की तरह घुल जाता है । अज्ञानी मनुष्य तभी तक मान रूपी राक्षस के अधीन रहता है जब तक मन्त्र रूपी आपकी बाणी उनके कर्ण-कुहरों में प्रवेश नहीं करती । जिनकी मानरूपी शृंखला छिन्न हो गई है और जो श्रद्धारूप मान को प्राप्त कर चुके हैं आपकी कृपा से मुक्ति उनके लिए बहुत दूर नहीं है । जो जितना आकांक्षारहित होकर आपके पास आता है आप उसे उसी अनुपात से फल प्रधान करते हैं, राग-द्वेष संसार रूपी सरिता की मानो दो धाराएँ हैं । आपकी शिक्षा से वीत-राग-द्वेष होकर उन दोनों धाराओं के मध्य द्वीप की भांति अवस्थान करना सम्भव है । जिनका मन मुक्ति के लिए उन्मुख है उनका मोहान्धकार दूर करने को और कोई नहीं आप ही एक मात्र आलोकवतिका वहन किए हैं । हे प्रभो, आपकी दया से हम विषम-कषाय, राग-द्वेष और मोह द्वारा पराजित न हों आप हम पर ऐसी कृपा करें ।’

(श्लोक २१३-२२०)

इस भांति स्तवन कर शक्र वामुदेव और बलराम के चुप हो जाने पर भगवान् ने यह देशना दी—

‘पथ से अनभिज्ञ मनुष्य की तरह तत्त्व को नहीं जानने वाला व्यक्ति संसार रूपी अनतिक्रम्य महारण्य में पथभ्रान्त हो जाता है । जीव, अजीव, आश्रय, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं—ऐसा महापुरुषों ने कहा है ।

‘इनमें जीव दो प्रकार हैं : मुक्त और संसारी । ये अनादि, अक्षय और ज्ञान व दर्शनयुक्त हैं । इनमें मुक्त जीव स्व स्वभावयुक्त जन्म मरणादि के क्लेश से रहित अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति और अनन्त मुख से युक्त हैं । संसारी जीव के भी—वस और

स्वाभाव से रहते हैं। पर्याप्ति और अपर्याप्ति के दो ही दो प्रकार के हैं। पर्याप्ति दशा की कारणभूत है छह पर्याप्तियां। यथा—आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति, श्वासोश्वास पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति और मनः पर्याप्ति। इन छह में अनुक्रम से एकेन्द्रिय के चार पर्याप्ति, द्विन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय के (असंजी पंचेन्द्रिय सहित) पांच पर्याप्ति और संजी पंचेन्द्रियों के छह पर्याप्तियां हैं।

(श्लोक २२१-२२८)

‘पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय एकेन्द्रिय जीव स्वावर है अर्थात् चलने की शक्ति से रहित है। पहले चार अर्थात् पृथ्वीकाय से वायुकाय तक के जीवों के भी सूक्ष्म और बाहर दो भेद हैं। वनस्पतिकाय के जीव भी दो प्रकार के हैं। यथा—प्रत्येक वनस्पति और साधारण वनस्पति। प्रत्येक वनस्पति बाहर है और साधारण वनस्पति सूक्ष्म और बाहर दोनों है। उस जीव भी दो तीन चार पांच इन्द्रियों के कारण चार प्रकार के हैं। इनमें दो इन्द्रिय वाले जीवों से लेकर चतुरिन्द्रिय जीव तक असंजी हैं। पंचेन्द्रिय जीव संजी और असंजी दोनों प्रकार के होते हैं। संजी वे हैं जो पढ़ने-पढ़ाने सकें, बोल सकें, जो मानसिक प्रवृत्तियुक्त हैं। जो इनके विपरीत हैं वे असंजी हैं। स्पर्श, रसना, नासिका, नेत्र, और कान ये पांच इन्द्रियां हैं। इनके विषय हैं क्रमशः स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द।

(श्लोक २२९-२३३)

‘द्विन्द्रिय जीव कुमि, शंख, गण्डीपद, जोंक और सीप आदि हैं। त्रीन्द्रिय जीव जूँ, खटमल आदि हैं। चतुरिन्द्रिय पतंगे, मछली, भ्रमर, मच्छर इत्यादि। पंचेन्द्रिय जल, स्थल और आकाशचारी तीन प्रकार के तिर्यक् प्राणी, नारक, मनुष्य और देव।

(श्लोक २३४-२३६)

‘श्रोत्रादि पांच इन्द्रियां, श्वासोच्छ्वास, आयुष्य, मन, वचन और काया से दस प्राण हैं। काया, आयुष्य, श्वासोच्छ्वास और स्पर्शेन्द्रिय ये चार प्राण तो सभी प्राणियों में होते हैं। द्विन्द्रिय में रस, त्रीन्द्रिय में गन्ध, चतुरेन्द्रिय में वचन और नेत्र होते हैं। असंजी पंचेन्द्रिय के कान और संजी जीवों के मन रहता है।

(श्लोक २३७-२३८)

‘नारकीयों का कुम्भो में एवं शय्या में उपपात रूप से उत्पन्न

होते हैं। मनुष्य मातृगर्भ से तथा तीर्थक जरायु या अण्डों से उत्पन्न होते हैं। शेष असंजी पंचेन्द्रिय विकलेन्द्रिय और एकेन्द्रिय जीव समूच्छिद्य रूप से उत्पन्न होते हैं। समस्त समूच्छिद्य जीव और नारक जीव नपुंसक होते हैं। देवों में पुरुष और स्त्री होते हैं। मनुष्य और तीर्थक में पुरुष स्त्री और नपुंसक तीनों पाए जाते हैं।

(श्लोक २३९-२४०)

‘समस्त जीव व्यवहारी और अव्यवहारी भेद से दो प्रकार के होते हैं। अनादि सूक्ष्म निगोद का जीव अव्यवहारी (जो कि अनादिकाल से ही उसी रूप में जन्म लेते हैं और मरते हैं, उस स्थान से अन्यत्र नहीं जाते), शेष समस्त जीव व्यवहारी (विभिन्न गतियों में भ्रमणकारी) हैं।’

‘जीवों की उत्पत्ति नौ प्रकार की योनियों से होती है। यथा सचित्त, अचित्त, मिश्र, संवृत्त, असंवृत्त, संवृत्तासंवृत्त, शीत, उष्ण और शीतोष्ण।’

‘पृथ्वीकायिक, अपृथ्वीकायिक, तेजस्कायिक और वायुकायिक इन चार प्रकार के स्थावर जीवों में प्रत्येक की सात लाख योनियां होती हैं। प्रत्येक वनस्पतिकाय की दस लाख और अनन्तकाय की चौदह लाख योनियां होती हैं। विकलेन्द्रियों की छह लाख (प्रत्येक की दो-दो लाख), मनुष्यों की चौदह लाख, नारक देव और तीर्थक पञ्चेन्द्रियों की चार-चार लाख हैं। इस प्रकार समस्त जीवों की सब मिलाकर चौरासी लाख जीवयोनियां हैं। केवलजानी अपने ज्ञान से इस प्रकार देखते हैं।’

‘एकेन्द्रियों की सूक्ष्म और बादर द्विन्द्रियों, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, असंजी और संजी इन सातों के पर्याप्ति और अपर्याप्ति भेद से चौदह भेद होते हैं। इनकी मार्गनाएँ भी चौदह हैं। यथा—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, ज्ञान, कषाय, संयम, आहार, दृष्टि, लेख्या, भव्य, सम्यक्त्व और संजी।’

‘मिथ्यात्व, सास्वादत, मिश्र, अविरत-सम्यक्दृष्टि, देश-विरत, प्रमत्त-संवृत्त, अप्रमत्त-संवृत्त, निवृत्ति-बादर, अनिवृत्तिबादर, सूक्ष्म-संपराय, उपशान्त-मोह, क्षीण-मोह, सयोगी-केवली और अयोगी-केवली ये चौदह गुणस्थान हैं।

(श्लोक २४१-२४१)

१ ‘मिथ्यात्व के उदय से जीव मिथ्या दृष्टि होता है। मिथ्यात्व

कोई गुण नहीं है; किन्तु मिथ्यात्वी होने पर भी उसमें (संतोष, सरलता और यथाप्रवृत्तिकरण से लेकर सन्धी भेद तक जाना और उसके भी आगे अपूर्वकरण अवस्था प्राप्त करना रूप) गुण रहने से इसे गुणस्थान कहा जाता है ।'

२ 'अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय होने पर भी मिथ्यात्व का उदय नहीं होने से द्वितीय गुणस्थान को सात्त्वादन-सम्यक्दृष्टि गुणस्थान बोला जाता है । इसकी अधिक से अधिक स्थिति छह आवलिका है । इस अवस्था में नष्ट हो जाने लगे सम्यक्त्व का किञ्चित् आस्वाद रहता है अतः इसे गुणस्थान कहा जाता है ।'

३ 'सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के मिश्रण से इसे मिश्र गुणस्थान कहा जाता है । इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त मात्र है ।'

४ 'अनन्तानुबन्धी कषाय, मिथ्यात्व माहूर्त्तव, मिश्र माहूर्त्तव के क्षयोपशमादि से आत्मा यथार्थ दृष्टि को प्राप्त करती है; परन्तु इस गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहता है । इसलिए इसे अविरत-सम्यक् दृष्टि गुणस्थान कहा जाता है ।'

५ 'अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशमादि से और प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से विरताविरत वा देश विरत गुणस्थान होता है । (इस प्रकार के गुणस्थान का अधिकारी सद्गृहस्थ सांसारिक भोग भोगते हुए भी निवृत्ति को उपादेय मानते हैं ।)

६ 'प्रमत्त संयत गुणस्थान के अधिकारी सर्वविरत संयत होने पर भी सम्पूर्ण प्रमाद रहित नहीं होते ।'

७ 'अप्रमत्त संयत गुणस्थान के अधिकारी सर्व विरत संयत महा-पुरुष होते हैं । षष्ठ और सप्तम गुणस्थान परस्पर परावृत्ति से अन्तर्मुहूर्त्त स्थितिपुक्त है ।'

८ 'अपूर्वकरण गुणस्थान में स्थित आत्मा के कर्मों की स्थितिघात आदि अपूर्व होते हैं । ऐसी स्थिति आत्मा में पूर्व में नहीं हुई । वह इस अवस्था में अपने कर्म-शब्दों को निर्जीर्ण करता है और आगे अप्रसर होने को तैयार होता है । अर्थात् उपशम श्रेणी व क्षपक श्रेणी के लिए तत्पर होता है । इस अवस्था को प्राप्त आत्मा के बादर कषाय निवृत्त हो जाते हैं । इसलिए इस गुणस्थान को निवृत्तिबादर गुणस्थान कहते हैं ।'

९ 'जिस गुणस्थान में आए मुनियों के बादर कषाय के निवृत्त

परिणाम में कोई अन्तर नहीं रहता अर्थात् सभी के परिणाम समान हो जाते हैं उसे अनिवृत्तिवादी गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान में उपस्थित महात्मा या तो उपशमक होता है नहीं तो क्षपक। यहाँ मोहनोय कर्म के लोभ की सूक्ष्म प्रकृति के अतिरिक्त कोई प्रकृति उदय में नहीं आती।'

- १० 'सूक्ष्म संपराय इस गुणस्थान में लोभ की सूक्ष्म प्रकृति का वेदन होता है। इसमें लोभ को सर्वथा उपशान्त किया जाता है या क्षय किया जाता है।'
- ११ 'उपशान्त मोह वीतराग गुणस्थान में उपस्थित आत्मा का मोह सम्पूर्ण उपशान्त हो जाता है।'
- १२ 'दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय में जो मोह (लोभ) को सम्पूर्णतः क्षय कर देता है वह सीधा बारहवें गुणस्थान में आकर क्षीण-मोह वीतराग हो जाता है।'
- १३ 'क्षीण-मोह गुणस्थान के अन्तिम समय में जोष तीन घाती कर्म क्षय कर आत्मा जब केवल ज्ञान, केवल दर्शन को प्राप्त करता है तब उसे सयोगी केवली कहा जाता है। यहाँ आत्मा सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् हो जाता है।'
- १४ 'सयोगी केवली मन, वचन और काय योग का निरोध कर अयोगी केवली हो जाते हैं और जैलेदीकरण से सिद्ध भगवान् बन जाते हैं।' (श्लोक २५२-२६२)

'इस प्रकार निम्नतम दशा से आत्मा परमात्म दशा प्राप्त करती है।'

'धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय पुद्गलास्तिकाय और काल ये पाँच अजीव तत्त्व हैं। पाँच ये और जीव मिल कर छह द्रव्य होते हैं। काल को छोड़कर पाँच द्रव्यों के प्रदेश सूक्ष्म विभाग के समूह रूप होते हैं। काल प्रदेश रहित है। इनमें जीव ही चेतन्य (उपयोग) युक्त और कर्त्ता है—जोष पाँच द्रव्य अचेतन और अकर्त्ता है काल को छोड़कर जोष पाँच द्रव्य अस्तिकाय है अर्थात् प्रदेशों के समूह रूप हैं। इनमें पुद्गल द्रव्य ही रूपी है। अन्य पाँच द्रव्य अरूपी हैं। यही छह द्रव्य उत्पाद (नवीन अवस्था में उत्पत्ति), व्यय (भूत पर्याय का नाश) और धौव्य (द्रव्य रूप में सर्वथा विद्यमान) युक्त है। (श्लोक २६३-२६५)

‘समस्त प्रकार के पुद्गल वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शयुक्त है। जो परमाणु रूप में है वह अव्यक्त है, जो स्कन्धरूप है वह व्यक्त है। व्यक्त पुद्गल वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, अन्धकार, धूप, उद्योत, प्रभा और छाया रूप में परिणत होते हैं। पुद्गल ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्म, औदारिक और पांच प्रकार के शरीर, मन, भाषा, शमनादि क्रिया और श्वांसोच्छ्वास रूप में भी परिणत होते हैं। ये दुःख, सुख, जीवन और मृत्यु रूप में उपग्रहकारी (निमित्त) होते हैं।’ (श्लोक २६१-२६८)

‘धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये तीनों एक-एक द्रव्य हैं। ये सर्वदा अमूर्त, निष्क्रिय और स्थिर हैं। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के प्रदेश एक जीव के प्रदेश की तरह असंख्यात और समस्त लोकव्यापी हैं। जीव अजीव जब चलना प्रारम्भ करते हैं तो जल जिस प्रकार मछली के गति करने में सहायक करते हैं वैसे ही धर्मास्तिकाय अजीव बनता है। क्लान्त पथिक अतीत छाया देखकर जैसे खड़ा हो जाता है उसी प्रकार अधर्मास्तिकाय गतिशील जीव के रुकने की इच्छा करने पर एवं अजीव को स्थित करने में भी सहायक होता है।’

(श्लोक २६९-२७२)

‘आकाशास्तिकाय उपरोक्त धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय से बहुत बड़ा है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय लोकव्यापी हैं; किन्तु आकाशास्तिकाय लोक से अनेक गुणा बड़ा है। यह तो अलोक में भी सर्वत्र व्याप्त है। आकाशास्तिकाय समस्त द्रव्यों का आधार एवं अनन्त प्रदेश युक्त है।’ (श्लोक २७३)

‘लोकाकाश के प्रदेशों में अभिन्न रूप में रहा हुआ काल का जणु (समय रूपी सूक्ष्म भेद) भावों का परिवर्तन करता है। इसलिए मुख्य रूप में काल पर्याय परिवर्तन ही है (भविष्य का वर्तमान बनना और वर्तमान का अतीत हो जाना)। ज्योतिष शास्त्र में समय आदि का जो मान है (क्षण, पल, मुहूर्तादि) वह व्यवहार काल है। संसार में समस्त पदार्थ जो नवीन और जीर्ण अवस्था प्राप्त करता है वह काल का ही प्रभाव है। काल की क्रीड़ा से ही समस्त पदार्थ वर्तमान अवस्था से व्युत्पन्न होकर अतीत अवस्था को प्राप्त होते हैं और भविष्य से खींचकर उसे वर्तमान में उपस्थित

करते हैं ।

(श्लोक २७४-२७७)

‘जीवों के मन वचन और काया की जो प्रवृत्तियाँ हैं वही आश्व है । कारण इस प्रकार से आत्मा में कर्म का आगमन होता है । शुभ प्रवृत्ति पुण्यबन्ध का कारण है और अशुभ प्रवृत्ति पाप-बन्ध का । समस्त प्रकार के आगमनों का निरोध ही संवर है जो विरति और त्याग रूप है । संसार के हेतुभूत कर्म का विनाश ही निर्जरा है ।

(श्लोक २७८-२७९)

‘कषाय के बशवर्ती होकर जीव कर्मयोग्य पुद्गल को आश्व द्वारा ग्रहण करता है । वह जिस प्रकार अपने साथ बांधता है उसे बन्ध कहते हैं । यही बन्ध जीवों की परतन्त्रता का कारण होता है । बन्ध चार प्रकार के होते हैं प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रवेश ।’

(श्लोक २८०-२८१)

‘प्रकृति का अर्थ है स्वभाव । इसके ज्ञानावरणीयादि आठ भेद हैं । यथा—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, शोत्र और अन्तराय । मूल प्रकृति ये ही आठ हैं । बद्धकर्म के आत्मा में लगने के काल को स्थिति कहते हैं । वह अघन्य (कम से कम) और (अधिक से अधिक) होती है ।’

‘कर्म के विपाक (परिणाम) को अनुभाग कहा जाता है । कर्म के अंश को प्रवेश कहते हैं ।’

(श्लोक २८२-२८३)

‘कर्म बन्ध के पांच कारण हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग । इन पाँचों का अभाव होने से चार घाती कर्म ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म क्षय हो जाते हैं । जीव तब केवल ज्ञान प्राप्त करता है । बाध के चार होते हैं अघाती कर्म । इनके क्षय हो जाने से जीव मुक्त एवं परम सुखी हो जाता है ।’

(श्लोक २८४-२८५)

‘समस्त नरेन्द्र अमुरेन्द्र व देवेन्द्रगण जो त्रिभुवन में सुख-भोग करते हैं वह मुक्ति व मोक्ष सुख के अनन्त भाग का एक भाग भी नहीं है । इसी भाँति तत्व को जो यथार्थ रूप में जानता है वह तैरना जानने वाले व्यक्ति की तरह संसार समुद्र में निमज्जित नहीं होता एवं सम्पक् आचरण से कर्म बन्धन क्षय कर मुक्त और परम सुखी होता है ।’

(श्लोक २८६-२८७)

भगवान् की इस देशना को सुनकर बहुतों ने अणगार धर्म को ग्रहण किया। वासुदेव ने सम्मन्त्रित ग्रहण किया और मुप्रभ ने श्रावक धर्म। दिन का प्रथम याम बीत जाने पर प्रभु ने देशना समाप्त की और उन्हीं के पादपीठ पर बैठकर यश गणधर ने देशना आरम्भ की। दिन का द्वितीय याम बीत जाने पर उन्होंने भी अपनी देशना समाप्त की। (श्लोक २०७-२०९)

शक्र, वासुदेव, बलदेव एवं अन्यगण प्रभु को वन्दना-नमस्कार कर स्व-स्व निवास को लौट गए। (श्लोक २१०)

भगवान् भव्य जीवों को ज्ञानदान करते हुए ग्राम, खान, नगरादि में प्रव्रजन करने लगे। उनके संघ में ६६००० साधु, ६२००० साध्वियाँ, ९१४ पूर्वधर, ४३०० अवधिज्ञानी, ५००० मनःपर्यायज्ञानी, ५००० केवलज्ञानी, ८००० वैक्रिय लब्धिधारी, ३२०० बादी, २०६००० श्रावक एवं ४१४००० श्राविकाएँ थीं। केवल ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् तीन वर्ष कम साढ़े सात लाख वर्ष तक सयोगी केवली अवस्था में विचरण करते रहे। (श्लोक २११-२१३)

अरुणा निर्वाण समय निकट जानकर भगवान् ३००० साधुओं सहित सम्मैत शिखर पर गए और अनशन प्रारम्भ किया। एक मास पश्चात् चैत्र शुक्ला पंचमी को चन्द्र जब पुण्य नक्षत्र में अवस्थित था ३००० साधुओं सहित प्रभु अनन्तनाथ ने मोक्ष प्राप्त किया। इन्द्र आए और भगवान् एवं मुनियों का निर्वाण कुल्य सम्पन्न किया। (श्लोक २१८-२२०)

प्रभु साढ़े सात लाख वर्ष तक कुमारवस्था में रहे, १५ लाख वर्ष तक राज्याधिपति रूप में रहे और साढ़े सात लाख वर्ष संयम पर्याय में व्यतीत किए। उनकी कुल आयु ३० लाख पूर्व की थी। विमलनाथ स्वामी के निर्वाण से अनन्त स्वामी के निर्वाण पर्यन्त नौ सागरोपम व्यतीत हुए। (श्लोक ३०१-३०३)

पुरुषोत्तम वासुदेव ३० लाख वर्ष की आयु में घोर पाप कर्म के कारण छठे तमःप्रभा नामक नरक में गए। वे ७०० वर्ष कुमारवस्था में, १३०० वर्ष शालक रूप में, ८० वर्ष दिग्विजय में और २९९७९२० वर्ष अर्द्धचकी के रूप में रहे। (श्लोक ३०४-३०६)

बलदेव मुप्रभ १५ लाख वर्ष तक पृथ्वी पर रहे। भ्राता की

मृत्यु से दुःखी होकर उन्होंने मृगाकुश नामक मुनि से दीक्षा ग्रहण कर ली। केवल ज्ञान और अनन्त चतुष्टय प्राप्त कर वे यथासमय मोक्ष को प्राप्त हुए। (श्लोक ३०७-३०८)

चतुर्थ सर्ग समाप्त

पंचम सर्ग

धर्मरूपी गंगा के जो हिमवान् तुल्य हैं, मिथ्यात्वरूपी अन्धकार के बिनाश में जो सूर्य स्वरूप और शरण्य हैं मैं उन भगवान् धर्मानाथ के चरणों की शरण ग्रहण करता हूँ। उन्हीं तीर्थंकर के जीवन-चरित्र का अर्थ मैं वर्णन करूँगा जो संसार रूपी सरिता का अतिक्रमण करने में सेतु रूप हैं। (श्लोक १-२)

घातकी वंशजों के पूर्व जन्म में भगवान् का कृपा-विष्णु में भद्विलपुर नामक एक बृहद् नगर था। वहाँ के राजा का नाम था इदरथ। बाहुबल में वे दन्तयुक्त हस्ती की भांति महाशक्ति सम्पन्न थे। सूर्य जिस प्रकार अन्य ज्योतिष्कों का तेज पान करता है उसी प्रकार उन्होंने अन्य राजाओं का तेज पान कर लिया था। समुद्र जैसे नदियों का जल ग्रहण करता है वे वैसे ही उनसे कर ग्रहण करते थे। विवेकवान् होने के कारण उन्हें अपने राज ऐश्वर्य का जरा भी गर्व नहीं था कारण वे जानते थे इन्द्र का वैभव भी समल रूई की भांति क्षणस्थायी है। यद्यपि वे विषयभोग करते थे फिर भी जैसे दुर्दिन के अतिथि हों इस प्रकार संसार में निवास करते थे। (श्लोक ३-७)

इन्द्रिय सुखों से विरक्त और देह के प्रति अनुराग रहित होकर उन्होंने राज्य वैभव आदि का शारीरिक मल की भांति परित्याग कर दिया। परित्याग कर वे दुःख रूप व्याधि के वैद्य विमलबाहुन मुनि के निकट गए। राजाओं के मुकुट-मणि-से उन राजा ने मुनि-राज से कामना के वित्तिय में सम्यक् चारित्र्य रूपी उज्ज्वल रत्न ग्रहण किया। निःसंग होकर उन्होंने ध्यान की मातृका रूप साम्य भाव प्राप्त और उपसर्ग सहन कर कठोर तप किया। विषयों रूपी म्लेच्छों से अपवित्र आत्मा को शुद्ध कर तीर्थस्थान से लाए पवित्र जल-से शास्त्र रूप चारि से परिशुद्ध किया। अर्हत् भक्ति आदि बीस

स्थानकों की उपासना कर उन महात्मा ने तीर्थङ्कर गौत्र कर्म उपाजन किया। तदुपरान्त यथासमय अनशनपूर्वक सन्यासभरण प्राप्त कर वे वैजयन्त नामक अनुत्तर विमान में महान् श्रद्धि सम्पन्न देव रूप में उत्पन्न हुए। (श्लोक ८-१४)

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में विभिन्न रत्नों का आकर स्वरूप रत्नपुर नामक एक नगर था। इसकी बापिकाएँ एवं बाटिकाएँ पार्श्व स्थित रत्नजडित सोपान श्रेणियों की प्रभा से मानो गुंथ गई हो इस प्रकार प्रतिभासित होती रहती थी। अर्हत् मन्दिरों सहित इसके स्वर्णमय गृह प्रति सोपान स्थित दर्पण के कारण मानो धर्म, अर्थ और काम रूप संसार की त्रिविध वस्तुओं की उद्घोषणा करता था। मरकतमणि खचित इसका राजपथ रात्रि में नक्षत्रों द्वारा प्रतिबिम्बित होकर लगता मानो वहाँ मुक्ताओं से स्वस्तिक रचना की गई हो। पुरस्त्रियों द्वारा दोबारों की खूंटियों पर लटकाई गई पुष्पमालाएँ रत्न-हारों का भ्रम उत्पन्न करती थीं। उद्यान-बापिकाओं के शीत से, अट्टालिका स्थित पाकशालाओं की उष्णता से और हस्तियों के मदक्षरण से वहाँ मानो शीत, प्रीण्य और वर्षा से तीनों ऋतुएँ संबंदा रहती थीं। (श्लोक १५-२०)

यहाँ के राजा का नाम था भानु। वे प्रताप में सूर्य की तरह शत्रु रूप तृण के लिए अग्नि तुल्य थे और निमल गुण राजि से विभूषित थे। जिस प्रकार समुद्र-तरंग की गणना नहीं की जा सकती उसी प्रकार उनके गुणों की गणना करने में बृहस्पति भी असमर्थ थे। उच्चकुल जात परिणिता साध्वी स्त्री की भांति इस पृथ्वी ने, जिसका कर (हाथ) एक मात्र वे ही ग्रहण करते थे, अन्य किसी को अपना स्वामी नहीं मानती थीं। चंचला लक्ष्मी को अपने गुणों की रस्सी से आबद्ध कर उसे हस्ती-शावक की तरह अपने हस्त रूपी जालान स्तम्भ में बांध रखा था। सूर्य की भांति देदीप्यमान उन्होंने अपने शत्रुओं के तेज को मशाल की तरह निष्प्रभ कर दिया था। राजाओं की जय करने में उन्हें भ्रुकुटि भी चढ़ानी नहीं पड़ती, धनुष धारण करना तो दूर की बात थी। (श्लोक २१-२६)

उनकी रानी का नाम था मुञ्जता। वह साध्वी स्त्रियों में अप्रगण्य और स्वामी के चरण-रूपी कमलों में सदा संलग्न रहकर भोंवरों को भी लज्जित करती थी। उन्हें कोकिल से मधुर कण्ठ

मिला था, हंस से गति और दृष्टि हरिण से । विनय उसकी सहचरी थी, चारित्र्य परिचारिका और अभिजात्य कंचुकी थी । उसकी स्वाभाविक पर्यदा यही थी । स्वामी के प्रति आनुगत्य उसका स्वाभाविक अलङ्कार था । हार आदि अन्य अलङ्कार तो उसके द्वारा स्वस्वहस्त होते थे । (स्लोक २१-२४)

हृदय के जीव ने वैजयन्त विमान के सुख भोगकर वहाँ की सर्वाधिक आयुष्य पूर्ण की । वैशाख सुदी सप्तमी को, इसका जीव, चन्द्र जब पुष्या नक्षत्र में अवस्थित था तब वहाँ से च्युत होकर देवी सुव्रता की कुक्षि में प्रविष्ट हुआ । उस समय उन्होंने तीर्थङ्कर जन्म सूचक हस्ती आदि चौदह महास्वप्न देखे । माघ महीने की शुक्ला तृतीया को चन्द्र जब पुष्या नक्षत्र में अवस्थित था तब रानी सुव्रता ने यथासमय कनकवर्ण बच्च लांछनयुक्त एक पुत्र को जन्म दिया ।

(स्लोक २१-२४)

भोगकरा आदि छप्पन दिक्कुमारियाँ आई और प्रभु-माता एवं प्रभु का जन्मकृत्य सम्पन्न किया । सौधर्मेन्द्र पालक विमान से आए और प्रभु को मेरुपर्वत पर ले गए । वहाँ प्रभु को गोद में लेकर वे अतिपाण्डुकवला रक्षित सिंहासन पर बैठ गए । अच्युतेन्द्रादि ब्रह्मदेव इन्द्रों ने तीर्थ स्थलों से लाए जल से प्रभु को विधि अनुसार स्नान करवाया । तदुपरान्त शक्र ने प्रभु को ईशानेन्द्र की गोद में देकर उन्हें स्नान कराया, अंगराग लगाया और फिर उन्हें वन्दना कर यह स्तुति की :

‘हे पन्द्रहवें तीर्थङ्कर, हे भगवन्, जिनकी आकृति ध्यान योग्य है और जो स्वयं ध्यान समाहित हैं, मैं उन्हें वन्दना करता हूँ । मैं देव और असुरों की अपेक्षा मनुष्यों को श्रेष्ठ मानता हूँ । कारण, हे त्रिलोक-पूज्य, आपने संघ के नेता के रूप में जन्म ग्रहण किया है । दक्षिण भरतार्द्ध में मैं यदि मनुष्य-जन्म प्राप्त करूँ तो मैं आपका शिष्य बनूँ । कारण, मोक्ष प्राप्ति के लिए आपका शिष्यत्व परम आवश्यक है । नारक और देव जन्म में क्या पार्थक्य है यद्यपि देव सुखी हैं; किन्तु प्रमाद के कारण आपके दर्शनों से वंचित हैं । जितने दिनों तक सूर्य की भांति आपका उदय नहीं हुआ था हे त्रिलोकनाथ, उतने दिनों तक उल्लू की तरह मिथ्यात्वसेषी लोग प्रगति करते रहे । मेघ बारि से जिस प्रकार वापियाँ पूर्ण हो जाती हैं उसी प्रकार

दक्षिण भरताईं शीघ्र ही आपकी देवना रूप वाणी द्वारा पूर्ण हो जाएगा। हे भगवन्, राजा जैसे जन्तुओं के देश को जन-शून्य कर देता है उसी प्रकार आप बहुत लोगों को मोक्ष प्राप्त करने में सहायता कर पृथ्वी को जन-शून्य कर देंगे। हे भगवन्, स्वर्ग में भी मेरा मन धनर की तरह आपके वात्सल्य-कर्मों से लगे होकर दिन-रात व्यतीत करे।' (श्लोक ३५-४७)

इस प्रकार स्तुति कर शक्र ने भगवान् को ईशानेन्द्र की गोद से लेकर उन्हें यथाविधि ले जाकर रानी सुव्रता के पार्श्व में मुला दिया। (श्लोक ४८)

जातक जब गर्भ में था तब सुव्रता रानी को धर्माश्रयना का दोहद उत्पन्न होने के कारण राजा भानु ने जातक का नाम रखा धर्म। (श्लोक ४९)

धर्मनाथ स्वामी ने बालक रूपी देवों के साथ क्रीड़ा कर बाल्यकाल व्यतीत किया। आपने ४५ धनुष दीर्घ होकर यौवन को प्राप्त किया। माता-पिता की दीर्घकाल से जो इच्छा थी उसे पूर्ण करने के लिए एवं भोग कर्मों को क्षीण करने के लिए प्रभु ने विवाह किया। जन्म से अढ़ाई हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर पिता के आदेश से उन्होंने राज्यभार ग्रहण किया। प्रभु ने पाँच लाख वर्ष तक राज्य शासन किया और यथासमय दीक्षा ग्रहण करने का विचार किया। (श्लोक ५०-५३)

उसी समय लोकान्तिक देवों ने आकर प्रभु से कहा—'हे देव, तीर्थ स्थापना करें।' प्रभु ने दीक्षा रूपी नदी के मुख रूप वर्षी दान किया। तदुपरान्त देवों द्वारा अभिषिक्त होकर नागदत्ता शिविका पर आरुढ़ होकर प्रभु चक्राचन नामक उद्यान में पहुँचे। प्रभु ने शैत्ययुक्त उस सौन्दर्य-मण्डित उद्यान में प्रवेश किया। प्रियंगु पुष्पों की सुगन्ध से मतवाले भ्रमर वहाँ गुंजन कर रहे थे। उद्यान-पालिकाएँ पुष्पों अलंकारों की रचना में व्यस्त थीं। वे अपने मुखों को लोघ्ररेणु द्वारा नगर-नारियों की तरह लिप्त कर रखी थीं। मदन के वाण-सा सुषिपुष्प विकसित हो गया था। उद्यान-वालाएँ लबली पुष्पों को कर्तन कर रही थी जिसका भूमितल मुचुकुन्द रस-बारि से सिक्त हो उठा था। वह भूमि सुगन्धयुक्त थी और मरकत-मण्डित हो ऐसा भ्रम होता था। (श्लोक ५४-५९)

माघ शुक्ला त्रयोदशी को चन्द्र जब पुष्य नक्षत्र में था तब प्रभु ने दो दिनों के उपवास के पश्चात् एक हजार राजाओं सहित प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। दूसरे दिन सोमनस नामक नगर में धर्मसिंह राजा के गृह में प्रभु ने खीरान्न ग्रहण कर बेलें का पारणा किया। देवों ने रत्न वृष्टि आदि पंच दिव्य प्रकट किए एवं राजा धर्मसिंह ने जहाँ प्रभु ने खीर होंकर पारणा किया वहाँ स्वर्णमय इतिहास निर्माण करवाया। देह के प्रति उदासीन वायु की भांति अप्रतिहत पृथ्वीनाथ वहाँ से निकलकर धरती पर सर्वत्र बिचरण करने लगे।

(श्लोक ६०-६१)

जम्बूद्वीप के पश्चिम विदेह में अशोका नामक एक नगरी थी। वहाँ पुरुषवृषभ नामक एक राजा राज्य कर रहे थे। संसार से विरक्त तत्त्वज्ञाता धर्म-परायण उन राजा ने मुनि प्रजापाल से दीक्षा ग्रहण कर ली। कठिन तपस्या करते हुए आयुष्य पूर्ण होने पर वे सहस्रार विमान में १६ सागर की आयु लेकर जन्म ग्रहण किया।

(श्लोक ६४-६६)

जब उन्होंने अपनी सोलह सागर की आयुष्य पूर्ण की उस समय भरत क्षेत्र के पोतनपुर नगर में विकट नामक राजा राज्य करते थे। हस्ती जैसे हस्ती को पराजित करता है उसी भांति युद्ध क्षेत्र में वे राजा राजसिंह द्वारा उनके अधिक शक्तिशाली होने के कारण पराजित हुए। पराजय की लज्जा के कारण अपना राज्य पुत्र को देकर मुनि अतिभूति से दीक्षा ग्रहण कर ली। उन्होंने कठोर तप करके यह नियामा किया कि मैं किसी भव में राजसिंह को पराजित कर सकूँ। नियामा करने के बाद आयुष्य पूर्ण होने पर वे दो हजार वर्ष की परमायु लेकर द्वितीय स्वर्ग में उत्तन्न हुए।

(श्लोक ६७-७१)

राजसिंह ने दीर्घकाल तक भवभ्रमण कर भरत क्षेत्र के हरिपुरा नगर में राजा निगुम्भ के रूप में जन्म ग्रहण किया। कृष्णवर्ण पैंतालीस धनुष दीर्घ दस लाख वर्ष का आयुष्य लेकर तत्पश्चात् वे पृथ्वी के अधिपति बने। भरत क्षेत्र के दक्षिणाङ्ग को क्रीड़ा करते हुए जय कर वे पंचवर्ष अङ्गवक्त्री या प्रतिवामुदेव हुए।

(श्लोक ७२-७४)

भरत क्षेत्र के अश्वपुर नामक नगर के राजा का नाम था

शिव । वे आनन्द के निवास रूप थे । उनकी दो पत्नियाँ थीं विजया और अम्मका । वे दोनों ही कीर्ति और सौभाग्य की तरह राजा को प्रिय थीं । पुरुषवृषभ का जीव सहस्रार से च्युत होकर देवी विजया के गर्भ में प्रविष्ट हुआ । विजया ने बलदेव के जन्म सूचक चार महास्वप्न देखे । समय पूर्ण होने पर रानी विजया ने एक पुत्र-रत्न को जन्म दिया । देखकर लगता मानो उनके स्वामी का यश ही जैसे मूर्तिमान हो उठा है । जातक के सौन्दर्य के कारण राजा शिव ने एक शुभ दिन उत्सव कर पुत्र का नाम रखा मुदर्शन ।

(श्लोक ७१-७५)

विकट का जीव भी द्वितीय स्वर्ग से च्युत होकर अम्मका के गर्भ में प्रविष्ट हुआ । अम्मका ने विष्णु के जन्म सूचक सात महा-स्वप्न देखे । यथा समय उन्होंने सरिता जैसे नील कमल उत्पन्न करती हैं उसी प्रकार सर्व सुलक्षण युक्त इन्द्रनील मणि-सा गाढ़े नीले वर्ण के एक पुत्र-रत्न को जन्म दिया । वह जातक मनुष्यों में सिंह की भाँति अमित बल का अधिकारी होने के कारण पिता ने उसका नाम रखा पुरुष सिंह ।

(श्लोक ८०-८२)

धात्रियों द्वारा पालित होते हुए वे दोनों एक साथ क्रमशः बड़े होने लगे । तालध्वज और गरुडध्वज वे दोनों नीला और पीला वस्त्र धारण करते थे । वे इतने मेधावी थे कि समीप ही रखी निधि की तरह समस्त कलाओं में पारंगत हो गए । शिक्षक तो मात्र साक्षी थे । क्रमशः उनकी उम्र युद्ध करने जैसी हुई । सहोदर अश्विनी कुमार की तरह वे परस्पर स्नेह भावापन्न थे । पिता के प्रति उनकी अपार श्रद्धा थी और उनके आदेश का वे मूल्य की तरह पालन करते थे ।

(श्लोक ८३-८६)

एक दिन राजा शिव ने बलदेव को दिव्य अस्त्र की तरह पार्श्ववर्ती अश्विनी राज्य को दमन करने के लिए भेजा । स्नेह के कारण पुरुषसिंह ने भी उनका अनुगमन किया । स्नेह का बन्धन पत्थर-सा टढ़ होता है । बहुत कष्ट से बलदेव ने उन्हें अपने अनुगमन से निवृत्त किया । तब वासुदेव मूषभ्रष्ट हस्ती की तरह जहाँ थे वहीं अवस्थित रहे । भाई के बिच्छेद की विरह-वेदना दूर करने के लिए जब वे क्रीड़ा-कौतुक में मग्न थे तभी उनके पिता के पास से एक दूत आया । दूत ने उन्हें जो पत्र दिया उसे उन्होंने मस्तक

पर धारण कर खोला । उसमें लिखा था—‘पुत्र, शीघ्र लौट जाओ ।’ चिन्तित होकर बाह्येन दूत से पूछा—‘मेरी माँ जानती है तो ? पिताजी कैसे हैं ? उन्होंने अचानक मुझे कैसे बुलवाया है ?’ दूत ने उत्तर दिया—‘महाराज ने आपको शीघ्र बुलाया है कारण उनकी देह में दाह-ज्वर उत्पन्न हुआ है ।’ इस संवाद से दुःखी, मानो सन्तच्छद की गन्ध नाक में गई हो इस प्रकार पुरुषसिंह राजधानी लौटने के लिए शीघ्र रवाना हुए । महापुरुषों की वेदना ऐसी ही होती है । (श्लोक ८७-९४)

दूसरे दिन वासुदेव अपने नगर में पहुँचे । दावान्ति की भाँति उस संवाद की वेदना समस्त पथ उन्हें पीड़ित करती रही । पिता की वेदना से दुःखी वे मानो उस वेदना को स्वयं में ग्रहण कर रहे हों इस भाँति पिता के उम कक्ष में प्रवृष्ट हुए जहाँ दाह-ज्वर से पीड़ित पिता अवस्थित थे । वहाँ अनुचरण बहुत किस्म की जीषधियाँ काट रहे थे, पीस रहे थे, पका रहे थे, विचक्षण वैद्य प्राज्ञ वहाँ उपस्थित थे जो कि रस के गुणावगुण, शक्ति व प्रभाव के सम्यक् परिज्ञाता थे । वहाँ शब्द न हो इसलिए रक्तकण हाथों के इशारे से निर्बंध कर रहे थे और वैद्यगण भ्रू-भंगिमा के इशारे से कहाँ कितनी दूर खड़ा होना होगा यह बता रहे थे । (श्लोक ९५-९८)

वासुदेव ने पिता के चरण-स्पर्श किए और भक्ति जन्म उदात्त अश्रुजल से उन्हें प्रक्षालित कर डाला । पुत्र का स्पर्श पाकर राजा शिव को कुछ स्वस्थता महसूस हुई । प्रियजनों का तो दर्शन मात्र से ही आनन्द होता है, स्पर्श की तो बात ही क्या है ? उन्होंने बार-बार अपने पुत्र को हाथों द्वारा स्पर्श किया । उस स्पर्श से उनका शरीर रोमांचित हो गया मानो वे शीतल हो रहे हों । राजा बोले—‘तुम्हारा शरीर शीघ्र क्यों दिखाई पड़ रहा है ? तुम्हारी जिह्वा आग के निकटस्थ वृक्ष की भाँति शुष्क क्यों है ?’ तब वासुदेव के अनुचर ने प्रत्युत्तर दिया—‘महाराज, आपकी अस्वस्थता का संवाद पाकर कुमार बिना एक पल भी रुके वहाँ के लिए रवाना हो गए । दो दिनों से खाना तो दूर जल तक बिना पिए हस्ती जैसे विन्ध्याचल पर्वत के निकट जाता है वैसे ही आपको स्मरण करते हुए वे वहाँ उपस्थित हुए हैं ।’ (श्लोक ९९-१०५)

यह सुनकर राजा शिव की वेदना जैसे द्विगुणित हो उठी ।

वे बोले—‘पुत्र, तुम्हारा आचरण तो विपदा पर विपदा जैसा है। जाओ, आहारादि करके आओ कारण शरीर खाद्य-आहरण करके ही सब काम करता है।’ (श्लोक १०६-१०७)

पिता की ऐसी आज्ञा से अनुबद्ध होकर वासुदेव ने मदसावी हस्ती की तरह सामान्य-सा आहार किया। न उन्होंने वस्त्र बदले, न पैरों में पादुका डाली। पिता की वेदना रूपी तप्त भूमि पर बिजोरे की तरह दुःखी वासुदेव ने कुछ खाया न खाया कि पिता के प्रासाद में जाने को बहिर्गत हुए। दुःखी उनके अनुचर भी उनके साथ गए। (श्लोक १०८-११०)

वे पिता के प्रासाद में प्रवेश कर ही रहे थे कि उनकी माँ की कंचुकी अश्रुपूरित नयन लिए उनके सम्मुख आई और भयान्त कण्ठ से बोली—‘कुमार, कुमार, रक्षा करो, रक्षा करो। महाराज, अभी जीवित है; किन्तु महारानी कैसा भयानक अकृत्य करने जा रही हैं।’ यह सुनकर वासुदेव उद्विग्न मन लिए माँ के कक्ष में गए। महारानी उस समय अपने अनुचरों को आदेश दे रही थी—

(श्लोक १११-११३)

‘मेरे स्वामी के पुण्योदय में मेरे घर में जो रत्न, सुवर्ण, रौप्य, अलंकार, मुक्ता आदि संग्रहित हुए हैं उसे सात क्षेत्रों में दान कर दो। जो दीर्घपथ की यात्रा करते हैं उनके लिए यह प्रथम आवश्यक है। अपने स्वामी की मृत्यु के पश्चात् मैं विधवा कहलवाना नहीं चाहती, मैं उनके पूर्व ही जाऊँगी, अतः शीघ्र ही अग्नि प्रज्वलित करो।’ (श्लोक ११४-११७)

दुःख की मानो प्रतिमूर्ति उनकी माँ जब यह बोल रही थी तब वासुदेव उनके निकट गए और बोले—‘माँ, मुझ हृत्भाग्य को तुम भी छोड़कर चली जाओगी? हाय दुर्दैव! यह तुम क्या कर रही हो?’ (श्लोक ११८-११९)

महारानी अम्मका ने कहा—‘पुत्र, तुम्हारे पिता को प्राणांतक व्याधि लगी है। उनका विचक्षण बंधों ने परीक्षण कर लिया है। एक मुहूर्त के लिए भी मैं ‘विधवा’ शब्द को सहन नहीं कर सकूँगी। इसलिए कुसुम्भी वस्त्र धारण कर मैं उनसे पूर्व ही चली जाऊँगी। मेरे स्वामी शिव ने और पंचम अर्द्धचक्री तुमने मेरे जीवन का जो उद्देश्य था वह पूर्ण कर दिया है। स्वामी की मृत्यु पर मेरे प्राण तो

ऐसे ही चले जाएंगे; किन्तु मैं उसके पूर्व ही अग्नि-प्रवेश करूँगी ताकि मेरा साहस दुबल न हो जाए। पुत्र, क्षत्रिय वंश के नियम-पालन में स्नेह के बशीभूत होकर मुझे बाधा मत दो। मेरा आशीर्वाद है तुम और सुदर्शन उन्नति करो और मैं अग्नि-स्नान कर पति के पूर्व गमन करूँ। इस अनुष्ठान में किसी भी बाधा की सृष्टि मत करो।' (श्लोक १२०-१२६)

ऐसा कहकर स्वामी की मृत्यु के संवाद को सुनने के भय से मानो रानी परलोक के द्वार रूप अग्नि में प्रविष्ट होने को चले दी।

(श्लोक १२७)

दुःख में दुःख ने मुक्त होकर जुआ की भांति उनकी देह को क्षीण कर दिया। समतल भूमि पर भी वे लड़खड़ाते हुए पिता के पास पहुँचे। माँ की बात स्मरण कर पिता को रण देखकर उपचार में असमर्थ और स्वयं को असहाय पाकर वासुदेव धरती पर गिर पड़े। यद्यपि दाह-ज्वर से राजा पीड़ित थे, फिर भी पड़ताल आरम्भ पुत्र से बोले—'पुत्र, तुम यह क्या कर रहे हो? भय हमारे कुल के अनुपमृत है। यह पृथ्वी तुम्हारी महिषी है जिसकी रक्षा तुम्हें बाहुबल से करनी होगी। साहस के अभाव में उस पर गिर जाना तुम्हारे लिए लज्जास्पद है। साहस का परित्याग कर यह सिद्ध मत करो कि मैंने जो तुम्हारा नाम पुरुषसिंह रखा है वह अज्ञानताजन्य है।

(श्लोक १२८-१३२)

पुत्र को इस प्रकार सान्त्वना देकर सुखों के निधान राजा शिव ने सन्ध्या समय देह का परित्याग कर दिया। भला मृत्यु को कौन रोक सका है?

(श्लोक १३३)

पिता की मृत्यु का संवाद सुनकर वासुदेव बाल्याहत विशाल वृक्ष की तरह या बात जन्म बात पीड़ित व्यक्ति की तरह भूतल पर मूर्च्छित होकर गिर पड़े। कलश के जल उनके नेत्रों पर छींटे गए। संज्ञा लौटते ही वे उठकर खड़े हो गए और क्रन्दन करते हुए बोले—'पिताजी, क्या अब आपकी देह में वेदना नहीं है? ओषध का गुण ही क्या है? किस वंश का विश्वास किया जा सकेगा? क्या आप शान्तिमय निन्दा में सो रहे हैं? उत्तर दीजिए पिताजी, मुझ पर दया करिए।' गम्भीर स्नेहवश इसी भाँति रह-रहकर कुछ कहते और रो पड़ते। कुल-बृद्धों के सान्त्वना

देने पर पुरुषसिंह ने धैर्य धारण किया और चन्दन एवं अमर की बिता बनाकर उनका दाह-कर्म सम्पन्न किया । (श्लोक १३४-१३५)

श्राद्धादि किया सम्पन्न करने के पश्चात् जब राजसभा में आए तो बलदेव को पिता की मृत्यु का सूचक पत्र दिया । दुःखित सीमान्त राजा को पराजित कर इस पत्र को पाते ही वे दुःखीमना शीघ्रातिशीघ्र राजधानी लौट आए । दोनों भाई गले मिलकर इतनी जोर से रोए कि समस्त सभा भी उनके साथ रो पड़ी । अन्ततः बन्धु-बान्धवों के समझाने पर धैर्य प्राप्त कर वे शान्त हुए एवं धीरे-धीरे इस दुःख को भूलने लगे, फिर भी चलते-फिरते, उठते-बैठते, बातचीत करते हुए भी पिता की छवि उनके सम्मुख तैरती रहती । (श्लोक १३९-१४३)

जबकि वे इस प्रकार पिता के दुःख से दुःखित थे तभी अर्द्धरात्री निद्रा के सङ्ग में दूत आया । दूत राजा की सूचना पर उसे भीतर बुलवाया गया । दूत दोनों को प्रणाम कर बोला— 'आपके पिता की मृत्यु का संवाद सुनकर आपके स्वामी दयाद्र-हृदय महाराज निशुम्भ बहुत दुःखी हुए हैं । आपके पिताजी की सेवाओं को स्मरण कर कर्त्तव्य-परायणों में अग्रणी महाराज ने मुझे आपके पास भेजा है—आप लोग अभी बालक हैं अतः शत्रुओं के लक्ष्य-स्थल हैं । आपके पिता जिस पद पर आसीन थे वह पद हम तुम्हें देते हैं । तुम लोग मेरे पास आ जाओ और निर्भय होकर रहो । दावाग्नि उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकती जो जल में खड़ा रहता है । यद्यपि तुमलोग मेरे सम्मुख नगण्य हो फिर भी तुम्हारे पिताजी की सेवाओं के अनुदान स्वरूप तुम लोगों को सम्मान दूँगा ।'

(श्लोक १४६-१५०)

जब दूत इस प्रकार कह रहा था—उन दोनों का क्रोध उद्दीप्त हो गया और दुःख विदुरित । आवेग कितना ही प्रबल क्यों न हो वह अन्य आवेग से बाधित होता है । नेत्र और भ्रुकुटि बढ़ाकर क्रुद्ध और कठोर स्वर में पुरुषसिंह बोला— 'इक्ष्वाकु कुल के चन्द्ररूप सबके उपकारी हमारे पिताजी की मृत्यु से भला कौन नहीं दुःखी होगा ।' अन्य राजा भी दुःखी हुए हैं—निशुम्भ भी दुःखी हुए हैं । वे यदि यह संवाद नहीं भेजते तो उनके लिए वह द्वेषकारक होता । किन्तु पुछता हूँ सिंह-शावक को कौन अधिकार देता है और कौन

उसका पालन करता है ? किसने उनका अपमान किया है जो ऐसी अपमानजनक भाषा कहने में उन्हें लज्जा नहीं आती ? वे निश्चय ही हमारे शत्रु हैं अतः बन्धुत्व के गुण के इस प्रकार हमारा अपमान कर रहे हैं। तुम्हारे प्रभु को भिन्न शत्रु निरपेक्ष जो चाहे होने दो, उनके प्रति हमारी कोई श्रद्धा नहीं है। जो शक्तिशाली होते हैं वे अपनी शक्ति पर ही विश्वास रखते हैं।' (श्लोक १५१-१५७)

दूत बोला—'हे शिव-पुत्र, यह तुम अज्ञान की भांति कह रहे हो। पितृतुल्य महाराज को शत्रु बनाकर क्या तुम सुख की कामना कर सकते हो ? हे भूधर राजपुत्र, राजनीति क्या है यह तुम अभी जानते नहीं हो तभी तो सूक्ष्माय दण्ड से उदर विधने की तरह शत्रु का मृजन कर रहे हो। तुमने महाराज के लिए जो कुछ कहा मैं उन्हें वह कहूँगा नहीं। अतः जो मैं कहता हूँ तुम वही करो। ताकि तुम्हारे और तुम्हारे भ्राता (निशुम्भ) के मध्य दीर्घ दिनों तक शांति रहे। नहीं तो वे तुम्हारे शत्रु हो जाएँगे। कृतान्त की तरह यदि वे क्रुद्ध हो गए तो तुम्हारा जीवन भी संशय में पड़ जाएगा।' (श्लोक १५८-१६१)

यह सुनकर अत्यन्त क्रुद्ध वासुदेव बोले—'दूत, तुम अपने जीवन से निश्चित रूप से वीतश्रद्ध हो गए हो। मिथ्या प्रपंच में कुशल तुम्हारे जैसे दूत के वाक्य विषहीन सर्प की भांति केवल फणों के द्वारा ही राजाओं को भयभीत करते हैं। जाओ, जो कुछ मैंने कहा है उसे छिपाने की कोई आवश्यकता नहीं है। सबकुछ जाकर अपने प्रभु को बता दो। वे बध योम्य हैं कारण तुम कह रहे हो वे हमारे शत्रु हो जाएँगे।' (श्लोक १६२-१६४)

यह सुनकर दूत शीघ्र उठा और निशुम्भ के पास पहुँचकर सारा वृत्तान्त स्पष्टतया कह सुनाया। सब कुछ सुनकर शत्रुहन्ता निशुम्भ क्रुद्ध होकर पृथ्वी को सैन्य द्वारा आच्छादित कर अश्वपुर को रवाना हुआ। शत्रुजयी वासुदेव ने जब सुना निशुम्भ युद्ध के लिए आ रहा है तो वह भी अश्वज सहित सैन्य लेकर युद्ध को चला। दो मदीनमत्त हाथी की भांति एक दूसरे को विनष्ट करने को उत्सुक निशुम्भ और पुरुषसिंह मध्यपथ में एक दूसरे के सम्मुखीन हुए। उभय पक्ष के सैन्यदल चीत्कार, धनुषों की टंकार और मुष्टिघात की प्रतिध्वनि से स्वर्ग और मृत्यु भूमि को आलोकित कर प्रबल युद्ध

करने लगे । जीवन से उदासीन दोनों ओर के सैन्यदल प्रलयकाल की भांति निहृत होने लगे । अग्नि जिस प्रकार वायु द्वारा अनुसृत होती है उसी प्रकार वासुदेव बलदेव द्वारा अनुसृत होकर स्व-रथ में खड़े होकर पाञ्चजन्य शंख को बजाया । उस शब्द से चारों ओर के शत्रु सैन्य इस प्रकार कांप उठे मानो वज्रपात हुआ हो ।

(श्लोक १६५-१७२)

‘खड़े रहो, खड़े रहो, तुम स्वयं को बहुत बड़े योद्धा समझ रहे हो, कहते हुए प्रतिद्वन्द्विता के लिए आह्वान कर प्रतिवासुदेव रथारूढ़ होकर युद्ध के लिए वासुदेव की ओर अग्रसर हुआ । वासुदेव और प्रतिवासुदेव ने क्रोध में चक्री भूकुटि की तरह धनुष पर टंकार मार दिया । मेघ जैसे अंध धरकाता है उसी प्रकार दोनों अंध धरकाते लगे । उनके सिंह-से गर्जन ने सेवर रूपी हरिणों को कम्पित कर दिया । समग्र युद्ध क्षेत्र में अबिराम शर वर्षण ने शराच्छादित समुद्र का रूप धारण कर लिया । हस्तक्षेपित, यन्त्रक्षेपित वा अक्षेपित और अन्य अस्त्रों द्वारा, जल में जैसे दो तिमिंगल युद्ध करते हैं उसी प्रकार, वे युद्ध करने लगे ।

(श्लोक १७३-१७७)

तब वज्री जैसे वज्र को स्मरण करता है उसी प्रकार निशुम्भ ने सर्वप्राप्ति भयानक तीक्ष्ण और प्रज्ज्वलित अग्निशिखा रूप चक्र को स्मरण किया । चक्र उपस्थित होने पर उसे अंगुलियों में घुमाकर वह दर्प के साथ वासुदेव को बोला—

‘तुम बालक हो अतः तुम दया के पात्र हो । तुम यदि अब भी पलायन करते हो तो इसमें तुम्हारे लिए लज्जाजनक क्या है ? अतः या तो भागो या मेरी सेवा करो । तुम्हारे पास ऐसा कुत्ता भी नहीं जो तुम्हें सत्पराभर्ष दे । निक्षिप्त इस चक्र से मैं पर्वत को भी छेद सकता हूँ, तो फिर लौकी के जैसे तुम्हारे गले की तो बात ही क्या ।’

(श्लोक १७८-१८१)

पुरुषसिंह ने प्रत्युत्तर दिया—‘तुम जो इस भांति चीरकार कर रहे हो तो अब देखना होगा कितनी शक्ति तुम में है, कितनी चक्र में है । अन्य अस्त्रों से तुम क्या कर सके हो । मेघ जैसे इन्द्र-धनुष को बहान करता है इस चक्र को वैसे ही तुम बहान कर रहे हो । मूर्ख ! यह हमारा क्या कर सकेगा ? निक्षेप करो, इसकी सामर्थ्य भी अब देखेंगे ।’

(श्लोक १८२-१८३)

पुरुषसिंह का ऐसा कठोर वाक्य सुनकर निशुम्भ ने उन्हें मारने के लिए अपनी समस्त शक्ति संहत कर उस चक्र को निक्षेप किया। वह चक्र नाभि द्वारा वासुदेव के वक्ष को स्पर्श कर विध्य पर्वत पर आघात करने लगे वस्ती की तरह व्यर्थ हो गया। उस आघात से वासुदेव भूच्छत हो गए। बलदेव गोशीर्ष चन्दन के जल से उनके नेत्र मुख को सिंचित करने लगे। संज्ञा लौटते ही वे उठ खड़े हुए और उसी चक्र को हाथ में लेकर निशुम्भ से बोले—‘अब खड़े मत रहो, भाग जाओ, भाग जाओ।’ निशुम्भ ने प्रत्युत्तर दिया—‘निक्षेप करो, निक्षेप करो।’ तब पंचम अर्द्धचक्री ने उस चक्र से निशुम्भ का सिर काट डाला। महाबली वासुदेव पर विजयश्री के हास्य की तरह आकाश से पुष्पवर्षित होने लगे। (श्लोक १८४-१८९)

विजय पर विजय प्राप्त कर अर्द्धचक्री ने भरताड़ जय किया। महत् व्यक्ति की अभीप्सा हजारों रूपों में फलदायी होती है। विजय-अभियान से लौटकर पुरुषसिंह मगध गए और वहाँ कोटिशिला को मिट्टी के थाल की तरह एक हाथ से उठा लिया। पृथ्वी को अश्वों से आच्छादित कर वे अश्वपुर को लौट गए। नगर-नारियों ने पद-पद पर उनकी अभ्यर्थना की। बलदेव और अन्य भक्तिमान राजाओं द्वारा वे अर्द्धचक्री के रूप के अभिषिक्त हुए। (श्लोक १९०-१९१)

छद्मस्य रूप में दो वर्षों तक प्रव्रजन करते हुए भगवान् धर्मनाथ अपने दीक्षा स्थल वप्रकांचन उद्यान में लौट आए। दो दिनों के उपवास के पश्चात् पौष मास की पूर्णिमा को चन्द्र जब पुण्य तक्षक में अवस्थित था उन्होंने दधिपर्ण वृक्ष के नीचे शुक्लहृद्यान की द्वितीय अवस्था अतिक्रम कर केवलज्ञान प्राप्त किया। (श्लोक १९४-१९५)

देव निर्मित समवसरण में अरिष्ट आदि ४३ गणभूतों के सम्मुख प्रभु ने देशना दी। (श्लोक १९६)

भगवान् के तीर्थ में रक्तवर्णोंय कूर्मवाहन वाले त्रिमुख यक्ष उत्पन्न हुए जिनके दाहिनी ओर के तीनों हाथों में से एक हाथ में नकुल, दूसरे में दण्ड और तीसरा अभय मुद्रा में था। बायीं ओर के तीन हाथों में यथाक्रम से विजोरा, पद्म और अक्षमाला थी। ये भगवान् के दासन देव हुए। इसी प्रकार प्रभु के तीर्थ में शुक्लवर्णा

भयूरवाहना कन्दर्पो नामक देवी उत्पन्न हुई जिसके बाएँ हाथ के प्रथम में नील कमल और द्वितीय में अंकुश था। दायीं ओर के दोनों हाथों में से एक में कमल था और दूसरा अभय मुद्रा में था। ये भगवान की शासन देवी बनीं। वह सर्वदा भगवान के निकट ही रहतीं। (श्लोक १९७-२००)

इनके द्वारा सेवित होकर पृथ्वी प्रव्रजन करते हुए प्रभु अश्वपुर आए। शकादि देवों ने वहाँ ५४० घनप दीर्घ चैत्यवृक्ष सहित समवसरण की रचना की। भगवान ने उस समवसरण में प्रवेश कर चैत्यवृक्ष को नमस्कार किया एवं पूर्वाभिमुख होकर सिंहासन पर उपवेशित हुए। तब व्यंतर देवों ने प्रभु की तीन मूर्तियां निमित्त कर अन्य तीनों ओर रत्न-अङ्कित सिंहासन पर स्थापित की। संघ उसी समवसरण में प्रविष्ट होकर यथास्थान अवस्थित हो गया। तिर्यक प्राणी मध्य प्राकार में और वाहनादि तृतीय प्राकार में रह गए। (श्लोक २०१-२०५)

कर्तव्यपरायण अनुचरों ने पुरुषसिंह को प्रभु के आगमन की सूचना दी। उन्होंने सन्देश वाहक को बारह करोड़ रौप्य पुरस्कार में दिया और मुदर्शन सहित समवसरण में प्रवेश कर प्रभु को प्रदक्षिणा देकर वन्दन किया और अग्रज सहित शक के पीछे जाकर बैठ गए। प्रभु को पुनः वन्दना कर आपकी सेवा में सर्वदा संलग्न शक, पुरुषसिंह और मुदर्शन ने आनन्द भाव से प्रभु की इस प्रकार स्तुति की। (श्लोक २०६-२०८)

हे पृथ्वी रूप चकोर के लिए चन्द्रतुल्य और मिश्र्यात्व रूप अन्धकार का विनाश करने में सूर्य सदृश जगत्पति धर्मनाथ, आपकी जय हो! यद्यपि आपने दीर्घकाल छद्मस्थ रूप में विचरण किया फिर भी प्रमादशून्य थे। अनन्त दर्शन से युक्त आप अन्य मतों को विनष्ट करें। जो आपके दर्शन रूपी जल में स्नान करेंगे उनके कर्म-मल मुहूर्त माल में धुल जाएँगे। हे भगवन्, आपकी पद-छाया में आते ही जिस प्रकार ताप दूर हो जाता है उस प्रकार भेष की छाया या पेड़ की छाया से दूर नहीं होता। जो यहां उपस्थित हुए हैं उनके शरीर आपकी दृष्टि आलोक में चित्र की भाँति स्थिर हो गए हैं। यद्यपि ये परस्पर वैरभाव सम्पन्न हैं। फिर दीर्घकाल के पश्चात् त्रिलोक यहां आकर सम्मिलित हुआ

है। हे निखिल जन तारक, ये सभी आपकी शक्ति से भ्रातृभावावग्रह हो गए हैं। त्रिजगत्पति, अर्द्ध भरत क्षेत्र की आदिम दिव्यता की रक्षा कर हम लोगों की, जिनका कि कोई रक्षक नहीं है, आप रक्षा करें। हे जगन्नाथ, हम वात्स्यायनी प्राचीनता करते हैं कि आपके चरणों में हम लोगों का मन रूपी भ्रमर सर्वदा संलग्न रहे।' (श्लोक २०९-२१७)

इस भांति स्तुतिकर शक्र, वासुदेव और बलराम के निवृत्त हो जाने पर प्रभु ने यह देशना दी :

'संसार के चारों बगों में मोक्ष का स्थान सभी के ऊपर है जिसके मूल में है आत्म-समाहित। आत्म-समाहित सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य रूपी त्रिरत्नों के द्वारा प्राप्त होती है। जो ज्ञान तत्त्वानुसारी है वह सम्यक्-ज्ञान है। इस तत्त्व में सम्यक् श्रद्धा ही सम्यक् दर्शन है और इसी के अनुसार हेय का त्याग ही सम्यक् चारित्र्य है। आत्मा तो स्वयं ही सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य रूपी है। आत्मा ने अज्ञान के कारण जिन दुःखों को उत्पन्न किया है उनका निवारण आत्म-ज्ञान के द्वारा ही होता है। जो आत्म-ज्ञान से रहित है उनके तपस्या करने पर भी अज्ञान-जनित दुःखों का क्षेदन नहीं हो पाता। यह आत्मा चैतन्य रूप है किन्तु कर्मयोग-से शरीर धारी हो जाती है। जब इसके ध्यान रूपी अग्नि में कर्ममल दग्ध हो जाते हैं तब यह दोष रहित परम विष्णुद सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेती हैं। यही आत्मा जब कषायों एवं इन्द्रियों के वशीभूत हो जाती है तब संसारी और कषाय एवं इन्द्रियों को जय कर लेती है तब वह मुक्त हो जाती है ऐसा जानियों का कथन है।' (श्लोक २१८-२२५)

'कषाय चार प्रकार के हैं : क्रोध, मान, माया और लोभ। इनके भी चार-चार प्रकार के भेद होते हैं। यथा—संज्वलन, प्रत्याख्यानी, अप्रत्याख्यानी और अनन्तानुबन्धी। इनमें संज्वलन एक पक्ष तक, प्रत्याख्यानी चार मास तक, अप्रत्याख्यानी एक वर्ष तक और अनन्तानुबन्धी जीवन पर्यन्त रहता है। संज्वलन कषाय बीतरागता में बाधक है, प्रत्याख्यानी कषाय साधुता में, अप्रत्याख्यानी कषाय धावकत्व में, अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक् दृष्टि में बाधक है। संज्वलन कषाय देवत्व, प्रत्याख्यानी कषाय मानव-

जन्म, अप्रत्याख्यानी कषाय तिर्यक योनि और अनन्तानुबन्धी कषाय नारक भव प्रदान करता है। (श्लोक २२६-२२८)

‘इनमें क्रोध आत्मा को तप्त कर बैर और शत्रुता को जन्म देता है, दुर्गति में खींचकर ले जाता है और समता रूपी सुख में बाधक बनता है। क्रोध उत्पन्न होते ही अग्नि की भांति सर्वप्रथम अपने आश्रय-स्थल को ही जला जालता है दूसरे को तो जलाए या नहीं। क्रोध रूपी अग्नि आठ वर्ष कम एक कोटि पूर्व के संयम और तपस्या के फल को एक मुहूर्त में जलाकर भस्म कर देता है। इधु गुप्त के उचित शान्ति रूपी जल इस क्रोध रूपी शिप के सम्पर्क में आकर उसी मुहूर्त में अपेय हो जाता है। विचित्र गुणों द्वारा गुन्थी हुई चारित्र्य रूपी चित्रशाला को क्रोधाग्नि निःसृत धूम मुहूर्त भर में काली कर देता है। वैराग्यरूपी शमी पत्र पर संवित समता रूपी रस क्रोध रूपी छिद्र से मुहूर्त भर में निकल जाता है। क्रोध बढ़ने पर ऐसा कौन-सा अकरणीय कार्य है जिसे वह नहीं कर बैठता? यह भव्य द्वारिका भविष्य में द्रुपायण ऋषि के क्रोध में ईर्ष्य की तरह जलकर राख हो जाएगी। क्रोधी क्रोध के कारण जिस कार्यसिद्धि को देखता है वह क्रोध के कारण नहीं होती बल्कि पूर्व जन्मकृत पुण्य फल के कारण होती है। अतः ऐसे क्रोध को जो इस लोक परलोक में अपना और पराये का स्वार्थ विनष्ट करता है, उसे अपनी देह में स्थान देता हैं, उसे बार-बार धिक्कार है। क्रोधान्व पुरुष निर्दयतापूर्वक अपने माता पिता गुरु सुहृद मित्र सहोदर स्त्री पुत्र यहाँ तक कि अपनी भी हत्या कर बैठता है। अतः क्रोध रूपी अग्नि को बुझाने के लिए उत्तम पुरुष संयम रूपी उद्यान में क्षमा रूपी जलधारा सिंचन करते हैं अर्थात् क्रोध को क्षमा द्वारा जीत लेते हैं। (श्लोक २२९-२३९)

‘अपकारकारी व्यक्ति पर उत्पन्न क्रोध को किस प्रकार रोक जा सकता है? प्रथमतः स्व महत्त्व द्वारा। द्वितीयतः इस भावना से कि जो मेरा अनिष्ट कर रहा है वह तो अपने दुष्कृत्यों द्वारा अपनी ही आत्मा का अनिष्ट कर रहा है। तब मैं क्यों पागल की तरह उस पर क्रोध करता हूँ? हे आत्मन्, तुम यदि सोचो तो पाओगे जो तुम्हारा अनिष्ट कर रहे हैं वे तुम्हारे वास्तविक अनिष्टकारी नहीं

हैं। तुम्हारा अनिष्ट तो तुम्हारे कृत कर्मों द्वारा ही हो रहा है। उसी के कारण तुम दुःख पा रहे हो। कुत्ता पत्थर फेंकने वाले पर नहीं झपटता बल्कि पत्थर पर झपटता है जबकि सिंह तीर पर न झपटकर तीर फेंकने वाले पर झपटता है। तब क्यों हम अपने स्वकर्मों की उपेक्षा कर उस कर्म के लिए जो हमारा अनिष्ट कर रहा है उस पर क्रोध करके पाप-पंक में डूबें। (श्लोक २४०-२४४)

‘भविष्य में भगवान् महावीर क्षमा को सिद्ध करने के लिए मलेच्छ देश में जाएँगे। कारण सहज भाव से प्राप्त क्षमा तब तक क्षमा नहीं है जब तक परीक्षित नहीं हो जाती है। महाप्रलय में जो त्रिलोक की रक्षा करने में समर्थ हैं ऐसे व्यक्ति भी जब अनिष्ट आचरणकारी के प्रति क्षमा धारण करते हैं तब कदली वृक्ष की तरह स्वल्प सत्व सम्पन्न आप लोग क्यों क्षमा धारण नहीं करेंगे? ताकि कोई आपका अनिष्ट नहीं कर सके ऐसा पुण्य क्यों नहीं अर्जित करते? आप लोग अपने पूर्व प्रमाद की आलोचना कर क्षमा के लिए तत्पर बनिए। हे आत्मन्, क्रोधान्ध मुनि और चाण्डाल में पार्थक्य कहाँ है? अतः क्रोध का परित्याग कर शुभ भाव ग्रहण करो। एक महर्षि क्रोधी थे; किन्तु करगड़क क्रोधी नहीं था अतः देवों ने महर्षि की उपेक्षा कर करगड़क को वन्दना और नमस्कार किया। यदि कोई मर्मभेदी बात कहता है तब विचार करो जो कुछ यह कह रहा है वह यदि सत्य है तब तो क्रोध करने को कोई आवश्यकता ही नहीं है, यदि वह मिथ्या है तब भी क्रोध करने का कोई कारण नहीं है क्योंकि वह उन्माद का प्रलापमात्र है। यदि कोई हमें आघात पहुंचाने आए तो सोचिए मेरे अशुभ कर्म के कारण ही यह आघात आ रहा है, यह मूर्ख व्यर्थ ही आघात देने के पाप का भागी बन रहा है। यदि कोई तुम्हारा वध करने आए तब सोचो कि मैं दुर्भाग्यवश ही हत हुआ हूँ अतः निर्भय होकर निहत की हत्या के पाप कर्म का बन्धन करने वह आ रहा है। समस्त पुरुषार्थ अपहरणकारी क्रोध रूपी तत्त्वर पर यदि तुम्हें क्रोध नहीं आता है तो निमित्त मात्र बने अल्प अपराधी पर क्रोध कर तुम स्वयं ही क्या धिक्कार के पात्र नहीं बन रहे हो? एतदर्थ जो बुद्धिमान हैं वे समस्त इन्द्रियों को क्षय करने वाले चारों ओर विस्तृत क्रोध रूपी

विषधर को क्षमा रूपी शारङ्गी मन्त्र से जय करते हैं ।

(श्लोक २४५-२४६)

‘मान कषाय विनय, श्रुत और धील रूपी त्रिवर्ग का नाश कर प्राणी के विवेक रूपी नेत्रों को दूध कर अन्ध बना देता है । जाति, कुल, ऐश्वर्य, बल, शक्ति, सौन्दर्य और तप एवं ज्ञान का अभिमान ऐसे कर्म बन्धनों का कारण बनता है कि वह उसी अनुपात में पर-जन्म में हीनता को प्राप्त होता है । ऊँच-नीच मध्यम जाति के ऐसे अनेक भेदों को देखकर भी क्या कोई बुद्धिमान जाति का अभिमान करेगा ? जाति की हीनता और उत्तमता कर्म के अनुरूप ही होती है अतः परिवर्तनशील जो जाति सामान्य कुछ दिनों के लिए प्राप्त हुई है उस पर क्या अहंकार करना है । अन्तराय कर्म क्षय होने पर ही मनुष्य सम्पदा प्राप्त करता है अन्यथा नहीं कर सकता अतः वस्तु स्थित को ज्ञात कर संपदा का अहंकार मत करो ।

(श्लोक २४५-२४६)

‘नीच कुल में जन्में मनुष्य में भी ज्ञान-सम्पन्न, चारित्र्य संपन्न मनुष्य पाए जाते हैं तब फिर क्यों उच्चकुल में जन्म ग्रहण करने का गर्व करते हो ? सद्चारित्र्य और असद्चारित्र्य से कुल का कोई सम्बन्ध नहीं है । ऐसा सोचकर विवेकशील व्यक्ति के योग्य कुल का गर्व मत करो ।

(श्लोक २४२-२४४)

‘बलवान् मनुष्य को भी रोग एक मुहूर्त में दुर्बल और वृद्धता से जीर्ण कर देता है । इसलिए बल और शक्ति का गर्व करना भी उचित नहीं है । वार्धक्य और मृत्यु से जो बल पराजित है उस बल पर गर्व कैसे करना ।

(श्लोक २४५-२४६)

‘सत्त्व धातुओं से निर्मित इस देह का रूप कभी बढ़ता है, कभी घटता है । रोग और वार्धक्य रूप को विनष्ट कर देता है । तब ऐसे रूप का गर्व ही क्या है ? भविष्य में सनत्कुमार नामक एक अकवर्ती होगा जिनके जैसा रूपवान् कोई नहीं होगा । वह रूप भी जब विनष्ट हो जाएगा तब रूप का भी क्या गर्व ?

(श्लोक २४७-२४८)

‘अतीतकाल में हुए भगवान् ऋषभदेव के चोर तप और भविष्य के चरम तीर्थकर भगवान् महावीर के चोर तपों को अवगत कर स्वयं के सामान्य तप पर गर्व मत करो । जिस तपस्या से कर्म

बन्धन क्षीण होता है वही तपस्या यदि धमण्डयुक्त हो तो उससे उलटे विशेष कर्म का बन्धन हो जाता है । (श्लोक २६९-२७०)

‘पूर्व के महापुरुषों ने अन्तर्ज्ञान द्वारा जिन शास्त्रों की रचना की उन्हें पढ़कर मैं सर्वज्ञ हूँ जो ऐसा अहंकार करते हैं वे उस शास्त्र का ही पक्षपात करते हैं । सगंधरों द्वारा शास्त्र निर्माण और प्रारण करने की शक्ति को सुनकर ऐसा कौन श्रोता और हृदयवान है जो शास्त्रज्ञान का अहंकार करेगा ?’ (श्लोक २७१-२७२)

‘दोष रूपी शाखा का विस्तार और गुण रूपी मूल को संकुचित करने वाले वृक्ष को मृदुता रूपी नदी की बाढ़ से उत्पाटित करना उचित है । उद्धत मान का निषेध मृदुता व मार्दवता स्वरूप है और उद्धता मान का स्वरूप है । जब जाति, कुल आदि की उद्धता मन में जाने लगे तब उसे दूर करने के लिए मार्दव भावों को लाएँ । सबके प्रति विनम्र बनें विशेषकर जो पूज्य हैं उनके प्रति तो अवश्य ही बने कारण मृदुता मनुष्य को मुक्त करने में समर्थ है । मान के कारण ही बाहुबली पाप रूपी लता में आबद्ध हो गए थे और मृदुता अवलम्बन करते ही पाप से मुक्त हो केवलज्ञान प्राप्त कर लिया था । चक्रवर्ती महाराज तक चारित्र्य ग्रहण करने के पश्चात् निःसंग होकर शत्रु के घर भी भिक्षा ग्रहण करने जाते हैं । मान को उखाड़ने के लिए उनकी मृदुता भी कितनी कठोर है ? चक्रवर्ती सम्राट भी मान परित्याग कर तत्काल प्रव्रजित साधु को वन्दन-नमन करते हैं और हमेशा करते रहते हैं । मान पाप-वर्द्धक है इस तत्त्व को समझकर बुद्धिमान व्यक्ति मान विनष्ट करने के लिए सर्वत्र मृदुता का अवलम्बन करते हैं । (श्लोक २७३-२७४)

‘माया असत्य की जननी है । सदाचार रूपी वृक्ष को निर्मूल बन करने में कुठार रूप है, अविद्या की जन्म भूमि और हीन जन्म का कारण है । कुटिलता में चतुर और कपटयुक्त वाक्वृत्ति युक्त पापी मनुष्य जगत को ठगने के लिये माया का विस्तार करते हैं, किन्तु इससे वे अपनी आत्मा को ही ठगते हैं । राजा अर्धलाभ के लिए राजनीति के षड्गुणों से छल, प्रपञ्च और विश्वासघात कर संसार को ठगते हैं । ब्राह्मण अन्तर में षड्गुण से शून्य है; किन्तु ऊपर से गुणवान होने का ढोंग कर तिलक मुद्रा मन्त्र दीनता आदि से मनुष्य

को ठगते हैं। कपटों वणिज्ज अर्थ लोभ से कम बज्जन और खराब वस्तु देकर लोगों को ठगते हैं। अन्य धर्मावलम्बी यद्यपि अन्तर से नास्तिक हैं बाहर मूँज शिखा भष्म बल्कल अग्नि (धुनी) आदि धारण कर मुग्ध श्रद्धालु लोगों को ठगते हैं। गणिकाएँ यद्यपि अन्तर में स्नेहहीन होती हैं फिर भी बाहर हाव-भाव दिखाकर लीला विलास और कटाक्ष द्वारा लोगों को विमुग्ध कर लेती हैं। लालची स्त्री, पिता-पुत्र, भाई-भाई, मित्र-मित्र, स्वामी-सेवक और अन्य लोगों को परस्पर माया द्वारा ठगते हैं। चोर धन के लोभ से दिन-रात सतर्क रहता हुआ असावधान मनुष्यों को निन्दयतापूर्वक ठगते हैं। कला प्रदर्शनकारी और निम्न श्रेणी के व्यक्ति जो कि अपनी कला की सहायता से आजीविका चलाते हैं वे सरल मनुष्यों को नाना प्रकार से ठगते हैं। (श्लोक २=१-२९१)

भूत प्रेतों की तरह व्यंत्तर जाति में हीन योनि के देवगण छल और प्रपंच से प्रमादी मनुष्यों को क्रूरतापूर्वक नाना प्रकार से दुःख देते हैं। मरस्यादि जलचर जीव छल से अपने ही शावकों को खा जाते हैं। धीवरगण छलपूर्वक जाल से मत्स्यादियों को फँसाकर उनके प्राण हरण करते हैं। शिकारी अनेक प्रकार की माया से स्थलचर पशुओं का संहार करते हैं। मांस-लोलुप प्राणी लावक आदि पक्षियों को छल से पकड़कर क्रूरता पूर्वक उनकी हत्या कर खा जाते हैं। इस प्रकार मायाचारी जीव मायाचार से अन्य को ठगकर स्वधर्म और सद्गति को नष्ट कर स्वर्ग को ही ठगते हैं। जो माया तिर्यक योनि में उत्पन्न होने में कारणरूप बीज है मोक्ष द्वार को दृढ़ता से बन्द करने वाली जर्मला है और विश्वास रूपी वृक्ष के लिए दावानल तुल्य नाशकारी है उसे बिवेकवान अवश्य ही रयाग कर देंगे। भविष्य में होने वाले तीर्थंकर मल्लीनाथ पूर्वजन्मकृत सूक्ष्म माया शल्य के कारण स्त्री रूप में उत्पन्न होंगे अतः द्रोहकारी मायारूपी सर्प को सरलता रूपी औषधि द्वारा जय करना उचित है। सरलता से आनन्द प्राप्त होता है; सरलता मोक्ष रूपी पुरी का सरल मार्ग है। इसीलिए जानियों ने कहा है कि दूसरों को दुःख मत दो। जो सरलता का सेवन करते हैं वे सबके प्रीति-भाजन होते हैं। जो कुटिल मायाचारी हैं लोग उनसे सर्प की भाँति डरते हैं। जो कर्म और चिन्तन से सरल हैं वे संसार में रहते हुए भी स्वतः ही

अनुभव में आते हैं इस भाँति अकृत्रिम मुक्ति सुख का अनुभव करते हैं, जिनमें कुटिलता कपी कंटक हो, जो मायाचारी हैं, जो दूसरों का अनिष्ट करने में प्रवृत्त हैं, ऐसे व्यक्ति स्वप्न में भी सुख शान्ति कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? समस्त विद्या प्राप्त करने के बाद भी, समस्त कलाओं को अधिगत करने के पश्चात् भी, शिशु सुलभ सरलता भाग्यशाली को ही मिलती है। अज शिशु की सरलता भी जब सबको प्रिय लगती है तो फिर जो शास्त्रों के अध्ययन में निरत हैं उनकी सरलता सबको प्रिय लगेगी इसमें आश्चर्य ही क्या है ? सरलता स्वाभाविक है, कुटिलता कृत्रिम है। इसलिए स्वभाव धर्म को छोड़ कर कृत्रिम धर्म कौन ग्रहण करेगा ? (श्लोक २९२-३०९)

‘छल, पिशुनता, धोखे, और प्रवचन’ में निरत मनुष्यों में शुद्ध स्वर्ग के समान निर्मल और निर्विकार मनुष्यों का साक्षात् भाग्य से ही होता है। जो समस्त गणधर भूत समुद्र पारगामी है वे तीर्थहरों की वाणी को सरलतापूर्वक सुनते हैं। जो सरलतापूर्वक अपने दोषों की आलोचना करता है वह समस्त दुष्कर्मों को क्षय कर देता है। जो मायाचारपूर्वक दोषों की आलोचना करता है वह अपने सामान्य से दुष्कर्म को खूब बड़ा बना लेता है। जो मन, वचन, काया से कुटिल है वह कभी भी मुक्त नहीं हो सकता। मुक्त वही होता है जो मन वचन काया से सरल है। इस प्रकार मायाचारी कुटिल मनुष्यों को उचकर्म की कुटिलता का विचार कर बुद्धिमान मुक्ति प्राप्त करने के लिए सरलता का आश्रय लेते हैं। (श्लोक ३०७-३११)

‘लोभ समस्त दोषों का घर है, गुण भक्षणकारी राक्षस है, व्यसन कपी जता का मूल है और समस्त प्रकार की अर्थ प्राप्ति में बाधक है। निर्धन व्यक्ति एक सौ रुपए चाहता है, जिसके पास एक सौ है वह हजार चाहता है, जिसके पास हजार है वह एक लाख चाहता है, जिसके पास एक लाख है वह एक कोटि चाहता है। कोटिपति राज्याधिपति होना चाहता है, जो राज्याधिपति है वह चक्रवर्ती होना चाहता है। इतने पर भी लोभ की समाप्ति नहीं होती। वह देवता होना चाहता है, देवों में भी इन्द्र। इन्द्र होने पर भी लोभ की शान्ति कहीं है। लोभ तो घास की तरह उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। समस्त पापों में जैसे हिंसा, समस्त कर्मों में मिथ्यात्व,

समस्त रोगों में क्षय रोग है उसी भाँति समस्त कषायों में लोभ कषाय है। (श्लोक ३१२-३१६)

‘इस संसार में लोभ का एकछत्र आधिपत्य है कारण वृक्ष भी अपने तल में रखे धन को जड़ों द्वारा आवृत्त कर देता है। धन के लोभ में द्विन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीव भी पूर्व जन्म में गाड़े धन पर मूर्च्छित होकर अवस्थान करते हैं। सर्प और छिपकली की तरह पंचेन्द्रिय जीव भी लोभ से अपने पूर्व भव या अन्य के मिट्टी में गाड़े धन पर आकर स्थित हो जाते हैं। पिशाच मुद्गल भूत प्रेत और यक्षादि देव लोभ के बन्धीभूत होकर अपने या अन्य के गाड़े धन पर आकर अधिकार जमा लेते हैं। अलङ्कार, उषान, वापो आदि में मूर्च्छित देव स्वर्ग से व्युत्त होकर पृथ्वाकायादि में उत्पन्न होते हैं। यहाँ तक कि साधु-मुनिराज जिन्होंने क्रोधादि कषायों को जीत कर उपशान्त मोह नामक चतुर्दश गुणस्थान प्राप्त कर लिया है वे भी लोभ के एक अंश मात्र रह जाने से पतित हो जाते हैं। खाद्य के लिए जिस प्रकार दो कुत्ते परस्पर झगड़ते हैं उसी प्रकार दो सहोदर भाई परस्पर धन के लिए झगड़ने लगते हैं। ग्रामीण अधिकारी और राजा भेत, ग्राम और राज्य की सीमा के लिए लोभवश एक-दूसरे की मित्रता परित्याग कर परस्पर शत्रु बन जाते हैं। (श्लोक ३१७-३२४)

‘लोभी मनुष्य स्वामी व अधिकारी को प्रसन्न करने के लिए उनके सम्मुख नष्ट की तरह अकारण हर्ष, शोक, द्वेष, रागादि व्यक्त करते हैं। लोभ का गर्त बिचित्र है। इसकी जितनी पूति होती है उतना ही यह बढ़ता जाता है। समुद्र को जलद्वारा पूर्ण करना फिर भी सम्भव है, किन्तु लोभ रूपी समुद्र को त्रिलोक के वैभव से पूर्ण नहीं किया जा सकता। न जाने कितने ही वस्त्र खाद्य विषय और वैभव को मनुष्य ने जन्म-जन्म में भोगा है, किन्तु क्या उसका एक कण मात्र लोभ भी उपशान्त हुआ है? यदि लोभ को ही यह छोड़ सकता तो अन्य तपों की आवश्यकता ही क्या थी? फिर जब लोभ का ही परित्याग न कर सका तो अन्य तपस्याओं का प्रयोजन ही क्या है? समस्त शास्त्रों का यही सार है कि बुद्धिमान मनुष्य लोभ-विजय का प्रयास करें।

(श्लोक ३२५-३३०)

‘बुद्धिमान मनुष्य लोभ स्व महासागर से चतुर्दिक प्रसारित प्रचण्ड तरंगों को सन्तोष रूपी बांध द्वारा निवृत्त करते हैं। मनुष्यों में जिस प्रकार चक्रवर्ती और देवों में इन्द्र श्रेष्ठ हैं उसी प्रकार सभी गुणों में सन्तोष गुण सर्वश्रेष्ठ है। सन्तोषी मुनि और असन्तोषी चक्रवर्ती के सुख-दुःख की तुलना की जाए तो दोनों के सुख-दुःखों का उत्कर्ष प्रायः समान ही मिलेगा। अर्थात् सन्तोषी मुनि जितने सुखी है असन्तोषी चक्रवर्ती उतना ही दुःखी है। इसलिए चक्रवर्ती सम्राट् में राज्य और कृष्ण परित्याग कर निःसंगता द्वारा सन्तोष रूपी अमृत को प्राप्त करते हैं।

(श्लोक ३३१-३३४)

‘कान् बन्द कर लेने पर भी भीतर के शब्दाद्वैत जिस प्रकार स्वतः ही बद्धित होते हैं उसी प्रकार धन का लोभ परित्याग कर देने पर सम्पत्ति स्वतः आकर उपस्थित हो जाती है। नेत्र बन्द कर लेने पर समस्त विश्व जिस प्रकार आवृत्त हो जाता है उसी प्रकार सन्तोष धारण कर लेने पर प्रत्येक वस्तु से विरक्ति स्वतः ही उत्पन्न हो जाती है। तदुपरान्त उसे इन्द्रिय दमन और कायक्लेश की आवश्यकता ही नहीं रहती। सन्तोषधारी व्यक्ति की ओर मोक्ष लक्ष्मी भी स्वतः ही आकृष्ट हो जाती है। जो सन्तोष द्वारा तुष्ट हैं वे जीवन में ही मुक्ति का अनुभव करते हैं। राम द्वेष युक्त विषय भोग में ऐसा क्या सुख है जिसके लिए सन्तोष से उत्पन्न मुक्ति सुख का निरादर किया जाए? उस शास्त्र-वाक्य की भी क्या आवश्यकता है जो अन्य को तृप्त करने का विधान देता है? जिनकी इन्द्रियां मलिन हैं, जो विषयासक्त हैं, उनके लिए उचित है वे मन को स्वच्छ कर सन्तोष प्राप्त सुख की खोज करें। यदि तुम कहते हो कि कारण के अनुसार ही कार्य होता है तब सन्तोष के आनन्द से ही मोक्ष का आनन्द प्राप्त हो जाता है यह तुम्हें स्वीकार करना होगा। जो उग्र तप कर्म को निर्मल करने में समर्थ है वह उग्र तप भी यदि सन्तोष रहित है तो निष्फल है।

(श्लोक ३३५-३४२)

‘सन्तोषी आत्मा के लिए क्या कृषि, क्या तौकरी, क्या पशु-पालन, क्या व्यवसाय उन्हे तो किसी की भी आवश्यकता नहीं रहती। कारण सन्तोषामृत पान करने से उसकी आत्मा निवृत्ति सुख की

प्राप्त कर लेती है। सन्तोषी वृणक्षय्या पर सोकर भी जो आनन्द प्राप्त करता है असन्तोषी रुई के नरम बिछौने पर सोकर भी उस आनन्द को प्राप्त नहीं करता। असन्तोषी धनवान सन्तोषी समर्थ पुरुष के सम्मुख वृण तुल्य है। चक्रवर्ती और इन्द्रादि का ऋद्धिजनित सुख प्रयास जन्य और नश्वर है; किन्तु सन्तोष से उत्पन्न सुख अप्रयास जन्य और नित्य है। अतः बुद्धिमान मनुष्य के लिए उचित है कि समस्त दोषों का जाकर लोभ परित्याग कर अद्वैत सुख का आवाप्त रूप सन्तोष का अवलम्बन करे। इस प्रकार कषाय विजयी हो लोभ में भोक्ष जुद्ध का भोग नाली हो, परलोक में मोक्ष अवश्य प्राप्त करता है। (श्लोक ३४३-३४८)

प्रभु की यह देशना सुनकर अनेकों ने धर्मण धर्म ग्रहण कर लिया। बलदेव आदि बहुत से व्रतधारी श्रावक बने। बामुदेव ने सम्यक्त्व प्राप्त किया। दिन का प्रथम प्रहर समाप्त होने पर प्रभु ने देशना समाप्त की। इन्हीं के पादपीठ पर बैठ कर गणधर अरिष्ट ने देशना दी। दिन का दूसरा याम समाप्त होने पर उन्होंने भी अपनी देशना समाप्त की। तत्पश्चात् अहंत् वन्दना कर शक, बामुदेव, बलदेव व अन्यान्य अपने-अपने स्थान को चले गए। भगवान् धर्मेनाथ स्वामी अपने समस्त अतिथियों सहित पृथ्वी के एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रव्रजन करने लगे। (श्लोक ३४९-३५२)

धर्मेनाथ स्वामी के परिवार में ६४००० साधु, ६२४०० साध्वियाँ, ९०० चौदह पूर्वधारी, ३६०० अवधिजानी, ३५०० मनः पर्याय ज्ञानी, ३५०० केवलज्ञानी, ३००० वैक्रिय तन्त्रि सम्पन्न, २८०० वादी, २४०,००० श्रावक और ३,१३००० आविकाएँ थीं। केवल ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् दो वर्ष कम अर्द्धाई लाख पूर्व तक प्रभु ने पृथ्वी पर विचरण किया। (श्लोक ३५३-३५८)

अपना मोक्ष समय निकट जानकर प्रभु ८०० मुनियों सहित सम्मेत शिखर पर्वत पर आए और अनशन तप प्रारम्भ किया। एक मास पश्चात् ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को चन्द्र जब पुष्य नक्षत्र में अवस्थान कर रहा था तब धर्मेनाथ स्वामी ने ८०० मुनियों सहित मोक्ष प्राप्त किया। देव एवं शक्रादि ने प्रभु का निर्वाणोत्सव संपन्न किया। अनन्तनाथ स्वामी के निर्वाण के चार सागर वर्ष के पश्चात् धर्मेनाथ स्वामी का निर्वाण हुआ। प्रभु अर्द्धाई लाख वर्ष तक

कुमारावस्था में रहे, पाँच लाख वर्ष तक राज्य संचालन किया, अढ़ाई लाख वर्ष तक चारित्र्य पालन किया। इस प्रकार पूरे दस लाख वर्ष तक की पूर्णायु भोग कर वे निर्वाण को प्राप्त हुए।

(श्लोक ३५९-३६३)

पंचम वामुदेव पुरुषसिंह युद्धादि क्रूर कर्म करने के कारण छठे नरक में गए। वे ३०० वर्ष पुटराज रूप में, १२५० वर्ष जलरूप में, ७० वर्ष दिम्बिजय में और ९९८३८० वर्ष राजा रूप में रहे। उनकी कुल आयु १० लाख वर्ष की थी। (श्लोक ३६४-३६७)

भ्रातृ त्रियोग में दुःखी बलराम, सुदर्शन साधुकीर्ति से दीक्षा लेकर १३ लाख वर्ष की पूर्ण आयु भोगकर मोक्ष को प्राप्त किया।

(श्लोक ३६८)

पंचम सर्ग समाप्त

षष्ठ सर्ग

भगवान् वासुपूज्य के तीर्थ में इस भरतक्षेत्र के महोमण्डल नामक नगर में अमरपति नामक एक राजा राज्य करते थे। जनार्थों के नाथ वे नृपक्षेष्ठ उत्तम साधु जिस प्रकार सम्यक् चरित्र के प्रति प्रयत्नशील रहता है उसी प्रकार वे सम्यक् व्यवहार के प्रति प्रयत्नशील थे। वे पुष्पवन्त द्वारा भी कभी किसी को आघात नहीं पहुंचाते थे बल्कि नवीन पुष्पों की भाँति उनकी रक्षा करते थे। विवेकशील वे उन लोगों के उच्च और नीच स्वभाव के लिए काम और ऐश्वर्य को नुपूर की भाँति और धर्म को मुकुट की भाँति धारण करते थे। सर्वोच्च मुख प्रदान करने वाले मन्त्र की तरह वे अर्हंत देव गुरु साधु धर्म और अनुकम्पा की आराधना करते थे।

(श्लोक १-६)

एक दिन वही उच्चमना विवेकी राजा सबको निर्भय करने के पश्चात् व्याघ्रिन्ने राज्य भार का परित्याग कर भ्रमण हो गए। अप्रमाद द्वारा विजय प्राप्त कर वे चिर काल तक संयम पालन में निरत रह कर राज्य रक्षा की तरह साधुत्व का पालन करने लगे। दिव्य रत्नों से जैसे अलंकार सुशोभित होता है उसी प्रकार वे अतिचारहीन मूल और उत्तर गुणों से सुशोभित थे।

दीर्घकाल तक संयम का पालन कर मृत्यु के पश्चात् 'मध्य प्रवेयक' में अहमिन्द्र रूप में वे उत्पन्न हुए। (श्लोक ७-९)

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में आवस्ती नामक एक नगरी थी। उस नगरी में समुद्रविजय नामक एक राजा राज्य करते थे। रत्नाकर जिस प्रकार विविध रत्नों का आकर है उसी प्रकार वे विविध गुणों के आकर थे। वे शत्रु-मित्र दोनों के ही हृदय में विराजते थे कारण वे जैसे मित्रों को सदा आनन्द देते थे उसी प्रकार शत्रुओं के लिए भी सदैव भय का कारण रहते थे। वे पराक्रमी राजा जब मुड़रत रहते तो सदैव उन्मुक्त तलवार में केवल स्वयं को ही प्रतिफलित देखते। उन्होंने दशों दिशाओं को इस प्रकार अधीन कर लिया था मानों यक्ष रूप अलङ्कार देकर उन्हें वशीभूत कर लिया हो। गोपालक जैसे माय की रक्षा करता है उसी प्रकार वे पृथ्वी की रक्षा करते और किसी को भी कष्ट न देकर कर आदि दुग्ध की तरह यथासमय प्रयोजन के अनुसार ग्रहण करते थे। (श्लोक १०-१५)

उनकी पत्नी का नाम भद्रा था। वह जितनी सुन्दर थी उतनी ही शोचनी और सौभाग्य का आकर थी। धर्म का लक्षन न करते हुए समुद्र विजय ने उसके साथ दीर्घ दिनों तक सुख-भोग किया। (श्लोक १६-१७)

अमरपति का जीवन अपनी प्रवेयक की आयु पूर्ण कर वहां से च्युत होकर भद्रा के गर्भ में प्रविष्ट हुआ। सुख-सम्पदा में सोयी भद्रा ने चक्रवर्ती के जन्म-सूचक चौदह स्वप्नों को अपने मुख में प्रवेश करते देखा। यथासमय उसने सर्वं मुलक्षणों से युक्त एक पुत्र को जन्म दिया। जातक स्वर्ण वर्ण का था और साढ़े बसालीस धनुष दीर्घ था। पृथ्वी पर यह मधवा-सा होगा ऐसा कह कर राजा ने उसका नाम रखा मधवा। (श्लोक १८-२१)

सूर्य के पश्चात् जैसे चन्द्र आकाश को अलङ्कृत करता है उसी प्रकार समर्थ और विजयी मधवा ने पिता के पश्चात् पृथ्वी को अलङ्कृत किया। एक दिन विद्युत की भांति प्रभा विकीर्ण करने वाला चक्ररत्न उनकी आयुधशाला में उत्पन्न हुआ। यथाक्रम से पुरोहित रत्नादि अन्य रत्न भी यथास्थान उत्पन्न हुए। चक्ररत्न का अनुसरण कर दिग्विजय की अभिलाषा से

उसने पूर्ण समुद्र के अलङ्कार रूप मगध तीर्थ की ओर प्रयाण किया। मगध तीर्थ के अधिपति तीर के फलक में लिखे नाम द्वारा सूचित होकर उसके सम्मुख उपस्थित हुए और उसको अधीनता स्वीकार कर ली। उसने दक्षिण में वरदामपति और पश्चिम में प्रभासपति को मगधपति की भाँति जय कर लिया।

(श्लोक २२-२७)

तत्पश्चात् चक्री ने दक्षिण तीर पर उपस्थित होकर सिन्धु देवी को जय किया। वहाँ से बैलाढ्य पर्वत के निकट गए और बैलाढ्य कुमार को पराजित कर उससे कर ग्रहण किया। वहाँ से वे तमिस्रा आए। तमिस्रा गुहा के द्वार-रक्षक के रूप में अवस्थित कृतमाल देव को जीत लिया। उनके आदेश से उनके सेनापति ने चर्म रत्न की सहायता से सिन्धु अतिक्रम कर पश्चिम विभाग जय कर लिया। जब सेनापति ने शण्ड रत्न की सहायता से तमिस्रा के उभय द्वारों को उन्मुक्त कर दिया तब चक्री हस्ती रत्न की पीठ पर आरुढ़ होकर स्व-सैन्य साहूत तमिस्रा गुफा में प्रविष्ट हुए। इन्द्रानुत्तम ने दाहिने ओर रखी मणिरत्न प्रभा और कांकिणी रत्न कृत वृत्त के आलोक से दुस्तर उन्मग्ना और निमग्ना नदियों का बड़की रत्न द्वारा बनाए सेतु द्वारा पार कर उत्तर दिशा के द्वार से होकर जो कि स्वयं ही खुल गया था उस गुफा से बाहर निकले।

(श्लोक २८-३४)

इन्द्र जैसे असुरों को पराजित करता है वैसे ही मधवा चक्रवर्ती ने जिन्हें जीतना कठिन था ऐसे किरात और आपातों को भी जीत लिया। सेनापति के सिन्धु के पश्चिम भाग को जीत लेने पर उन्होंने स्वयं हिमचूल कुमार को पराजित कर दिया। तत्पश्चात् उन्होंने कांकिणी रत्न से ऋषभकूट के शिखर पर 'चक्रवर्ती मधवा' यह नाम खोद दिया।

(श्लोक ३५-३८)

वहाँ से लौटकर वे पूर्वाभिमुख हुए। सेनापति ने गंगा का पूर्व प्रदेश जय कर लिया और उन्होंने स्वयं गंगा को बशीभूत कर लिया। इन तृतीय चक्रवर्ती ने बैलाढ्य पर्वत की उभय श्रेणियों के विस्थाधरों को सहज ही जय कर लिया। तत्पश्चात् चक्रवर्ती के लिए जो करणीय है उसे ज्ञात कर उन्होंने खण्डप्रपाता गुहा के द्वार पर वास करने वाले नाट्यमाल देव को जीत

लिया। सेनापति के द्वारा दोनों द्वार खोल देने पर वे नौका से जिस प्रकार सहज रूप से समुद्र का अतिक्रम किया जाता है वैसे ही सहज रूप में वेताड्य पर्वत को अतिक्रम कर गए।

(श्लोक ११-४२)

गंगा-मुख पर अवस्थित नैमिषे आदि नव-निधियों ने सानन्द उनकी अधीनता स्वीकार कर ली। उनके सेनापति ने गंगा का पूर्व भाग जीत लिया। इस प्रकार उन्होंने छः खण्ड भरतक्षेत्र को जीत कर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। (श्लोक ४३-४४)

चक्रवर्ती के समस्त वैभव सहस्रमघवा इन्द्र जैसे अमरावती को लौटते हैं वैसे ही श्रावस्ती को लौट आए। वहाँ देवों और राजाओं ने उन्हें चक्रवर्ती रूप में अभिविक्त किया। ३२ हजार मुकुटधारी राजाओं से परिवृत्त १६ हजार देवों द्वारा सेवित इच्छा मात्र से नवनिधि जिनको इच्छा पूर्ण करने के लिए उपस्थित रहती है ऐसे चक्रवर्ती ६४ हजार अन्तःपुरिकाओं ने नेत्र रूपी नील कमल द्वारा चर्चित और देवोपम समस्त प्रकार की भोग-सामग्रियों के रहने पर भी वे भोग-लुब्ध न बनकर वंश परम्परागत श्रावक धर्म का पालन करने में प्रवृत्त हुए। उन्होंने बहुविध चैत्य और मन्दिरादि का जीर्णोद्धार व निर्माण करवाया। जिनमें स्वर्ण और रत्नों की जिन प्रतिमाएँ स्थापित करवायी। वे ऐसी लगती थीं मानो देव निर्मित हों। वे जिस प्रकार पृथ्वी के एक मात्र अधिपति थे उसी प्रकार अर्हत् (देव), उत्तम साधु (गुरु) और अनुकम्पा (धर्म) के वे एकमात्र उपासक थे। वे संयमी चक्रवर्ती राजाओं द्वारा पूजित होकर भी अर्हत् पूजा से कभी निवृत्त नहीं हुए। (श्लोक ४५-५३)

इस भांति श्रावक अविरत जीवन यापन कर मृत्यु के पूर्व श्रमण का विरति रूप धर्म ग्रहण किया। वे २५००० वर्षों तक कुमारवस्था में, २५००० वर्षों तक माण्डलिक राजा के रूप में, १०००० वर्षों तक दिग्विजय में, ३,९०,००० वर्षों तक चक्रवर्ती रूप में और ५०००० वर्षों तक संयम साधना में रहे। इस प्रकार कुल ५००००० वर्षों की पूर्णायु भोग कर वे पवित्रमना चक्रवर्ती पंच परमेष्ठि का स्मरण करते हुए मृत्यु प्राप्त कर

सन्तु कुमार देवलोक में सामानिक देवरूप में उत्पन्न हुए ।

(श्लोक १४-१७)

मागदिक :- आचार्य श्री तुलसीदास जी महाराज

सप्तम सर्ग

भोगवती, अमरावती और लज्जा से भी अधिक सुवर्ण समुद्र कांचनपुर नामक एक नगरी थी । विक्रमवश नामक एक विक्रम-शाली राजा वहां राज्य करते थे । उनकी समृद्धि को विद्युत-ज्वाला शकुपतियों के अश्रुरूप बारि-वर्षण की वृद्धि करती थी । उनके अन्तःपुर में मृगनयनी पांच सौ रानियां थीं । यूपपति हस्ती को जैसे यूप की हस्तिनियां प्रिय होती हैं वैसे ही वे उन्हें प्रिय थीं ।

(श्लोक १-३)

उस नगर में कुबेर के घनागार-से एक महा समृद्धिशाली नागदत्त नामक वर्णिक रहते थे । विष्णु की श्री-सी अत्यन्त रूप-लावण्यवती उनके विष्णुश्री नामक एक पत्नी थी । उन दोनों के परस्पर का प्रेम नील के दाग की भांति मिटने वाला नहीं था । वे सारस मिथुन की भांति क्रीड़ा करते हुए समय व्यतीत कर रहे थे ।

(श्लोक ४-६)

एक दिन काकतालीय की तरह विष्णुश्री पर राजा विक्रमवश की दृष्टि पड़ी । उसे देखकर विक्रमवश जिसका विवेक काम द्वारा अपहृत कर लिया गया था सोचने लगा—उसकी आंखें हिरण-सी हैं, केश सुन्दर मयूरपूच्छ-से हैं, ओष्ठ कोमल व लाल पके बिम्बफल की तरह दो भागों में विभक्त हैं, उसके स्तन पूर्ण और मदन के कीदार्शल की तरह पीन हैं, उसके हाथ सरल और लता-से कोमल हैं, कटि अत्यन्त शीण है जो कि बज्र के मध्य भाग की तरह मुष्टि में आ सकता है । उसकी त्रिवली रेखा हंस-पंक्ति-सी है, नाभि नदी के भावर्त-सी है, नितम्ब सोन्दर्य रूपी सरिता की बेलाभूमि-से है, जंघाएं कदली वृक्ष-सी हैं, पैर कमल-से हैं, उसका सर्वांग किसका मन हरण नहीं करेगा ? शमशान में इन्द्र स्तम्भ-से बाईकप के लिए भ्रमवश विधाता ने इसे अपात को दान दिया है । इसे अपहरण कर मैं

अपने प्रासाद में रखूँगा। अ-पात्र को दान की विधाता की इस भूल को मैं सुधार दूँगा। (श्लोक ७-१२)

इस प्रकार सोचकर विक्रमयश काम के बन्दीभूत बना अपना यश नष्ट कर उसे अपने अन्तःपुर में ले आया और उसके साथ नानाविध काम-क्रीड़ा करने लगा। उसके विरह में बणिक तो अर्द्ध उन्माद दशा को प्राप्त हो गया मानो वह भूतप्रेत हो गया है या धतूरा पान कर लिया है या किसी व्याधि से आक्रान्त हो गया है अथवा मदिरा पान कर ली है या उसे किसी सर्प ने दशन कर लिया है या उसका वायु पित्त कफ विषम हो गया है।

(श्लोक १९-१९)

उसके विरह-दुःख में बणिक के दिन एवं मिलन-सुख में राजा के दिन व्यतीत होने लगे। (श्लोक २०)

राजा सदैव विष्णुजी के साथ ही रहते हुए उनकी अनेक रानियों ने ईर्ष्यान्वित होकर उस पर इन्द्रजाल और मन्त्र का प्रयोग किया। इन्द्रजाल और मन्त्र-प्रयोग से विष्णुजी कीट-काटी लता-सी धीरे-धीरे सूखकर मृत्यु को प्राप्त हो गयी। उसकी मृत्यु से राजा भी मृतप्राय हो गए एवं दुःख और वेदना से उनकी अवस्था नागदन्त-सी हो गयी। मुझ पर अभिमान किया है समझकर राजा उसकी मृत देह का अग्नि-संस्कार नहीं करने देते। अतः मन्त्रियों ने छलना द्वारा उसकी मृत देह को घन में फेंक दिया। तब राजा विलाप करते हुए कहने लगे—‘अभी तो तुम यहाँ थी, किन्तु अब दिखायी क्यों नहीं पड़ रही हो? वियोग के सहचर लुका-छिपी के इस खेल को समाप्त करो। कारण वियोग की अग्नि खेल नहीं है, यह जलाकर नष्ट कर देती है। तुम मेरे दुःख को क्यों समझ नहीं पा रही हो—कारण हमारी आत्मा तो एक ही है। जीवसुक्यवश क्या तुम किसी क्रीडा-न्तरिता के निकट गयी हो या क्रीडा-पर्वत पर चढ़ गयी हो या उपवन में विहार करने गयी हो, किन्तु, मेरे बिना तुम विहार कैसे करोगी? मैं भी आ रहा हूँ।’

ऐसा कहते हुए राजा उन्मादी की तरह नाना स्थानों में परिभ्रमण करने लगे। (श्लोक २१-२९)

इस प्रकार बिना खाए जब तीन दिन बीत गए तब मन्त्रियों

ने उनके जीवन की आशा का कर विष्णुश्री की मृत देह उन्हें दिखाई । राजा ने जब उसे देखा तब उसके केश भालू के केश-से अविव्यस्त थे । आँखें शशक नेत्रों की तरह वन्य बक द्वारा निकाल ली गई थीं । स्तन मांस-लोलुप शकुन द्वारा विक्षत था, उदर की आँतें भृंगालों द्वारा निकाली हुई वीभत्स थीं । सड़े भात पर मक्खियाँ जैसे भनभनाती हैं वैसे ही उसकी देह पर मक्खियाँ भनभना रही थीं । फूटे हुए अण्डे के चारों ओर जिस भाँति चीटियाँ जुट जाती हैं उसी प्रकार उसकी देह के चारों ओर चीटियाँ लगी हुई थीं और उस देह से दुर्गन्ध निकल रही थी । यह देखकर राजा का मन संसार से विरक्त हो गया । वे मन ही मन सोचने लगे :

‘हाय ! इस असार संसार में कुछ भी मूल्यवान नहीं है । फिर भी उसकी देह को मूल्यवान समझकर मैं इतने दिनों तक मोहान्वित रहा । जो परम मूल्यवत्ता को जानता है, वह कभी नारी के देह-सौन्दर्य पर प्रलुब्ध नहीं होता । कारण, वह हल्दी के रंग की भाँति क्षण स्थायी होता है । चर्म द्वारा आवृत स्त्री-देह बाहर से ही सुन्दर होती है; किन्तु भीतरी मांस, मेद, मज्जा, पित्त, कफ, मल-मूत्र आदि अपवित्र वस्तुओं से भरी हुई और पेशियों की शक्ति द्वारा धृत होती है । यदि नारी देह बाहर-भी भीतर और भीतर-भी बाहर होती तब तो उसके प्रेमी सिवार-गिड़ ही होते । कामदेव यदि नारी-देह को अस्त्र बनाकर संसार-विजय करना चाहते हैं तब पालक की भाँति वे अविवेकी अन्य अस्त्र का व्यवहार क्यों नहीं करते ? जिस राग द्वारा सब कुछ मोहनीय हो जाता है उसी राग को मैं जड़ सहित उखाड़ फेंकूँगा ।’ (श्लोक ३०-४०)

ऐसा चिन्तन कर संसार-विरक्त होकर राजा ने आचार्य सुव्रत से दीक्षा ग्रहण कर ली । शरीर के प्रति विगतस्पृह होकर सूर्य जिस प्रकार अपनी किरणों से जल को सोख लेता है उसी प्रकार उन्होंने एक-एक दिन, बेल-बेल की तपस्या द्वारा स्व-शरीर को सुखा डाला । इस प्रकार कठिन तपस्या में जीवन व्यतीत कर मृत्यु के पश्चात् वे सनत्कुमार देवलोक में परिपूर्ण आयुष्य वाले इन्द्र रूप में उत्पन्न हुए ।

(श्लोक ४१-४३)

सनत्कुमार देवलोक का आयुष्य समाप्त हो जाने पर विक्रम-यश के जीव ने रत्नपुर नगर में जिनघर्म नामक धनिक पुत्र के रूप

में जन्म ग्रहण किया। वे बाल्यकाल से ही समुद्र जिस प्रकार तट की मर्यादा का पालन करता है उसी प्रकार श्रावक के बारह व्रतों का पालन करने लगे। तीर्थक्षुरों की अष्टप्रकारी पूजा, साधुओं की निदोष आहारदान और स्वर्धर्मियों की वात्सल्यादि भक्ति सहित सेवा करते हुए जीवन बिताने लगे। (श्लोक ४४-४७)

नागदत्त ने पत्नी से वियुक्त होकर आर्तछ्यान में मरकर विभिन्न तिर्यंच योनियों में दीर्घकाल तक विचरण कर सिंहपुर नगर में अग्निशर्मा नामक ब्राह्मण के पुत्र रूप में जन्म लिया। बचस्क होने पर त्रिदण्डी संन्यासी के रूप में विचरण करता हुआ वह रत्नपुर नगर में आया और दो-दो मास का उपवास करने लगा। उस समय हरिबाहून रत्नपुर के राजा थे। वे वैष्णव थे। जब उन्होंने अग्निशर्मा की तपस्या के विषय में सुना तो उसे पारणे के लिए राजसभा में आमन्त्रित किया। अग्निशर्मा राजप्रासाद में आया तो हठात् वहाँ जिनधर्म को देखा। उसे देखने मात्र से ही पूर्व जन्म के वर के कारण क्रोधित हो गया और करबड़ होकर खड़े राजा से बोला—'महाराज, यदि आप मुझे पारणा करवाना चाहते हैं तो क्षीर का गरम पात्र इस वणिकपुत्र की पीठ पर रखकर करवाएँ अन्यथा मैं बिना पारणा किए ही चला जाऊँगा।' (श्लोक ४८-५४)

राजा ने जब विनीत भाव से मुनि को समझाया और कहा—'श्रेष्ठिपुत्र को तो नहीं अन्य किसी की पीठ पर गरम क्षीर का पात्र रखकर मैं आपको पारणा करवाऊँगा।' इस पर अग्निशर्मा क्रुद्ध होकर राजा से बोला—'राजन्, आप यदि इसी की पीठ पर गरम क्षीर का पात्र रखकर पारणा करवाएँ तो करूँगा नहीं तो बिना पारणा किए ही वापस लौट जाऊँगा।' (श्लोक ५५-५६)

राजा वैष्णव धर्मावलम्बी थे अतः सम्मत हो गए; किन्तु यह कैसा विवेक? राजाशा के कारण जिनधर्म ने अपनी पीठ उन्मुक्त कर दी। संन्यासी जितनी देर तक पारणा करता रहा जिनधर्म ने हस्ती जिस प्रकार दावाग्नि का उत्ताप सहन करता है उसी प्रकार उस पात्र का उत्ताप सहन किया। मेरे पूर्व जन्मकृत किसी पाप का ही यह फल है जो कि इस त्रिदण्डी वन्धु के उपकार से परिसमाप्त हो जाए ऐसा वह दीर्घकाल तक सोचता रहा। (श्लोक ५७-५९)

अग्निशर्मा का पारणा समाप्त होने पर जब वह पात्र उठाया

गया तो गांधरी से जिस प्रकार कर्दम सहित ईंट निकल आती है उसी प्रकार रक्त, मांस, मज्जा, रस सहित वह पात्र उठा। जिन-वाणी पर विश्वासवान जिनधर्म ने गृह लौटकर आत्मीय बन्धु-बान्धवों को बुलवाया। सबसे क्षमायाचना और सबको क्षमादान कर मन्दिर गया। वहाँ तीर्थङ्करों की पूजा कर मुनियों से दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षान्त में नगर परित्याग कर पर्वत-शीर्ष पर आरोहण किया। वहाँ संलेखना व्रत लेकर पूर्वाभिमुख होकर कायोत्सर्ग ध्यान में लीन हो गया। पीठ पर खुला मांस देखकर गिद्धादि पक्षी उसमें से मांस खींचने लगे उस असह्य वेदना को सहनकर जिनधर्म चारों ओर कायोत्सर्ग ध्यान में पंच परमेष्ठि मन्त्र का ध्यान करते हुए मृत्यु प्राप्त कर सौधर्म देवलोक में इन्द्र रूप में उत्पन्न हुए। (श्लोक ६०-६५)

त्रिदण्डी अग्निशर्मा मृत्यु के पश्चात् भृत्य-कर्म बन्धन के कारण शक्र का वाहन गेरान्त हस्ती के रूप में सौधर्म देवलोक में उत्पन्न हुआ। (श्लोक ६५-६६)

आयु शेष होने पर वहाँ से च्युत होकर त्रिदण्डी के जीव ने जन्म-जन्मान्तर से होते हुए यक्षराज असिताक्ष रूप में जन्म ग्रहण किया। (श्लोक ६७)

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में कुरुजंगल देश में हस्तिनापुर नामक एक नगर था। वहाँ अश्वसेन नामक एक राजा राज्य करता था जिसकी अश्ववाहिनी से पृथिवी की मेखला जैसे पूर्ण होती थी उसी प्रकार शत्रु मेखला भी उसकी शक्र तलवार से अवदमित होती थी। गुण रूप रत्न से वह रोहण पर्वत जैसा था। दूध में जैसे जलकोटों की अवकाश नहीं होता उसी प्रकार उसमें सामान्य अणु मात्र भी दोष नहीं था। थी उसकी तलवार की धार पर रहती थी मानो वह कोई दुःसह कार्य कर रही हो और यह कहता चाहती हो कि उसकी तुलना में वह तृणवत् है। प्रार्थीगण जब उनके पास आते तो वे उत्फुल्ल होते और जब प्रार्थियों को मांगने के लिए कुछ नहीं रहता तो हतोत्साह हो जाते। उसकी प्रधान रानी का नाम था सहदेवी। उसके सौन्दर्य को देखकर लगता मानो किसी देवी ने मृत्युलोक में अवतरण किया है। (श्लोक ६८-७३)

शक्र की समृद्धि का भोग कर आयुष्य पूर्ण होने पर जिनधर्म

था तभी हंस, सारस आदि की आवाज उसके कानों में पड़ी। हवा में प्रवाहित कमलगन्ध से उसने अनुमान लगाया कि कहीं समीप ही जलाशय है। मित्र से मिलन हो सकेगा सोचकर वह राजहंस की तरह द्रुतगति से उधर बढ़ा। उसके नेत्रों से आनन्दाश्रु प्रवाहित हो रहे थे। वह जितना ही आगे बढ़ता गया उतना ही वेणु और वीणा के साथ गाए गान्धार ग्राम का गीत उसके कानों में पड़ने लगा। उसने बहुमूल्य वस्त्र और अलंकार अपने तरुणियों के माथे लटके अपने मित्र को देखा।

(श्लोक १४७-१४९)

मन ही मन वह सोचने लगा क्या यही मेरा प्रिय मित्र है या यह किसी का इन्द्रजाल है? या ये सब मेरे हृदय से तो नहीं निकले हैं? वह जब इस प्रकार सोच ही रहा था कि चारण द्वारा अमृतवर्षी यह गीत उसके कानों में पड़ा—‘कुरुकुल सरिता के हंस, अश्वसेन रूप उदधि के चन्द्र, सौभाग्य में मनोभव रूप हे सनत्कुमार, तुम दीर्घजीवी बनो। विद्याधर ललनाओं की बाहुरूप लता के आश्रय रूप महिरुह, बैताढ्य पर्वत की उभय श्रेणियों पर विजय लाभ से श्री सम्पन्न, हे सनत्कुमार, तुम दीर्घजीवी हो।’

(श्लोक १५४-१५७)

यह सुनकर ताप-तप्त हस्ती जिस प्रकार उदधि में प्रवेश करता है, उसी प्रकार महेन्द्र कुमार सनत्कुमार के सम्मुख जाकर उसके पैरों पर गिर पड़ा। सनत्कुमार ने भी आनन्दाश्रु प्रवाहित करते हुए तुरन्त उसे उठाकर गले से लगा लिया। इस अप्रत्याशित मिलन के कारण दोनों वर्षाकालीन मेघ की तरह आनन्दाश्रु प्रवाहित करने लगे। रोमांचित देह लिए दोनों बहुमूल्य आसन पर उपविष्ट हुए। विद्याधर तरुनियाँ आश्चर्य चकित-सी उन दोनों को देखने लगीं। तीर्थंकरों की तरह ध्यानासन में उपविष्ट योगी की तरह उनके नेत्रों की दृष्टि परस्पर केन्द्रित हो गई मानो संसार में अन्य कुछ भी नहीं है। दिव्य औषधि के प्रयोग से जैसे रोग निरामय हो जाता है उसी प्रकार सनत्कुमार के मिलन से महेन्द्र सिंह की श्रान्ति-क्लान्ति दूर हो गई। नेत्रों के आनन्दश्रु को पोंछते हुए अमृत निःस्यन्दी स्वर में सनत्कुमार महेन्द्र सिंह से बोले—

देखने के लिए वह आकाश पथ पर उड़ रहा हो। बल्गा खींचकर कुमार उसे जितना ही रोकना चाहते वह उतनी ही द्रुतगति से इस प्रकार धावित या मानो उसने विपरीत शिक्षा प्राप्त की हो। मुहुर्त भर में वह धावमान अश्व अन्य राजाओं को पीछे छोड़कर ऐसे बला मानो वह कोई राक्षस हो। कुछ ही देर में राजपुत्र सहित वह अश्व चन्द्र जैसे नक्षत्रों से अदृष्ट हो जाता है उसी प्रकार राजाओं से अदृष्ट हो गया। (श्लोक ८५-९५)

बाढ़ जिस प्रकार नौका को बहा ले जाती है उसी प्रकार उस अश्व द्वारा अपहृत पुत्र को लौटा जाने के लिए राजा अश्वसेन ने स्वयं अश्वबाहिनी लेकर कुमार का अनुसरण किया। 'इधर से वह अश्व गया था', 'यह रहे उसके पैरों के चिह्न', 'यहाँ उसके मुख का फेन पड़ा है'—इस प्रकार जब वे बोल रहे थे उसी समय एक भीषण निर्मम और निष्ठुर मानो पृथ्वी की धौंकनो हो ऐसा असामयिक एक तूफान आया। इस तूफान ने प्रलयकालीन रात्रि की भांति मनुष्यों की आंखों को अन्ध कर दिया। कपड़े के आच्छादन से जैसे घर आच्छादित हो जाता है उसी प्रकार चारों ओर से उड़ती धूल द्वारा सभी सैनिक आवृत हो गए मानो वे मन्त्र द्वारा अभिमन्त्रित होकर एक कदम चलने में भी असमर्थ हो गए हों। चोड़े के पद-चिह्न और फेन जो कुमार के पथ का निर्देश दे रहे थे उस तूफान की धूल से नष्ट हो गए। निम्न भूमि या उच्च भूमि या सम भूमि यहाँ तक कि वृक्ष और पौधे भी दिखाई नहीं पड़ रहे थे। समस्त लोगों के मन में हुआ मानो वे पाताल में घँस रहे हैं। समुद्र यात्री वणिकों की नौकाओं में जल भर जाने से जिस प्रकार किकर्तव्य-विमूढ़ हो जाते हैं उसी प्रकार सैनिक भी अनुसन्धान को व्यर्थ समझकर किकर्तव्यविमूढ़ हो पड़े। (श्लोक ९६-१०२)

महेन्द्रसिंह अश्वसेन को प्रणाम कर बोला—'महाराज, यह सब भाग्य का निर्बन्ध है नहीं तो क्यों कुमार यहाँ आता, क्यों विदेशागत अश्व को यहाँ लाया जाता? अज्ञात चाल-चलन के अश्व पर कुमार चढ़ते भी क्यों और दृष्ट अश्व द्वारा वे क्यों अपहृत होते एवं क्यों आंखों की दृष्टि को आवृत कर देने वाला तूफान हो आता? किन्तु मैं सीमान्त स्थित सामन्त की तरह भाग्य को पराभूत कर अपने मित्र को मानो वे मेरे प्रभु हैं उन्हें खोजकर ले आऊँगा।

गिरि-कन्दराओं में, गिरि-शिखरों पर सघन अरण्य में, पाताल जैसे नदी के निकटस्थ बिलों में, जल हीन मरुभूमि में एवं अन्य दुर्गम स्थल में सामान्य सैनिक सह कुमार को खोजना मेरे लिए जितना सहज होगा विशाल सैन्यबाहिनी लेकर आपके लिए वह सहज नहीं होगा, उचित भी नहीं होगा। गुप्तचर की तरह मैं कहीं भी अकेला जा सकता हूँ। सामान्य पथ पर हस्ती का चलना सम्भव नहीं है।’

(श्लोक १०३-११०)

अश्वसेन को इस प्रकार बार-बार समझाकर पैरों पर गिर कर महेन्द्र सिंह ने उन्हें दुःखार्त विलसते राजधानी लौट जाने को विवश किया और खुद उसी क्षण सामान्य विश्वस्त अनुचरों सहित धार्तरिह हस्ती की तरह अक्षरणा के शक्तिशाली हो गया। वह सनत्कुमार की खोज में वन के समस्त प्रान्तों में घूमने लगा। गैहों के सींगों से उत्प्लिप्त पत्थरों से वह वन पथ असमतल था। घोष से तप्तसूअरों के प्रवेश के कारण वहाँ के सरोवर कदममय थे। झाड़-भँगाड़ भालुओं एवं सिंह-गर्जना से प्रतिध्वनित होता था। चीताओं द्वारा अनुसरण करने के कारण हरिणों का भुँड इधर-उधर भाग रहा था। बूखों पर बड़े-बड़े अजगर लिपटे हुए थे। सघ्न पशुओं को निगलने के कारण वे हिजने नहीं पा रहे थे। वृक्ष की छाया में हरिण घूम रहे थे। नदी मार्ग का पथ पानी पीने के लिए आगत सिंह-सिंहनियों द्वारा अवरोध था। इसके अतिरिक्त मदनोन्मत्त हस्तियों द्वारा उत्पादित भग्न वृक्षशाखाओं से उस अरण्य-पथ पर चलना कठिन था।

(श्लोक १११-११७)

महेन्द्र सिंह जितना ही अग्रसर होता गया वैसे-वैसे ही उसके अनुचर भी छिन्न-भिन्न होते गए। कंटकवृक्ष, अन्य पशु, टीले, गह्वर से वह वन क्रमशः भयंकर होता गया। उसके अनुचर अम-बलान्त होकर एक-एक कर उसको परित्याग कर चले गए। संसार-त्यागी मुनि की तरह तब वह एकाकी ही वन में विचरण करने लगा। अब वह हाथ में धनुष बाण लेकर अधिकार प्राप्त आदिवासियों के राजकर्मचारी की तरह— गहन वनों में, गिरि-कन्दराओं में घूमने लगा। हाथियों की चीन्हाड़ और सिंह की गर्जना में उसे सनत्कुमार की ही पुकार

मुनायी पड़ी अतः वह उधर ही दौड़ गया। वहाँ उन्हें न पाकर निर्जर के शब्द को ही उनकी पुकार समझकर वहीं जाकर उपस्थित हो गया। प्रेम का तो यही नियम है। वह नदी, हस्ती और सिंह को बोला उन सबों ने सनत्कुमार के कण्ठ-स्वर का अनुकरण किया है इसी से बड़ ज़मति हो गया है कारण अंश को देखने से ही तो समझ को जाना जाता है।

(श्लोक ११८-१२३)

महेन्द्र सिंह ने अपने मित्र को वहाँ न पाकर पथभ्रष्ट पक्षि की तरह एक ऊँचे वृक्ष पर चढ़कर चारों ओर देखा। दरिद्र-पुत्र की तरह वह एकाकी वसन्तकाल में अशोकवन में दुःख से कातर बने हुए की तरह, वकुलवन में विभ्रान्त की तरह, सहकार वन में उद्विग्न की तरह, मल्लिकावन में असहाय की तरह, कर्णिकावन में जीवन से मानो घृणा हो गयी हो इस प्रकार, पाटलवन में पाण्डुर की तरह सिन्धुवार वन में दूरान्त की तरह चम्पक वन में कम्पित की तरह और खल की तरह मलय पवन से दूर रह कर, कोयल के पंचम स्वर से मानो उसके कर्ण कुहर विदीर्ण हो रहे हों व चन्द्र किरणों से देह को ज्वाला शान्त नहीं हो रही है इस प्रकार वसन्तकाल व्यतीत किया।

(श्लोक १२४-१२८)

प्रौष्मकाल भी उसने एकाकी विचरण करते हुए ही बिताया। प्रति पद पर सूर्य-किरणों से तप्त रजकणों ने उसके चरण-कमल के नखों को विषडूरित अग्नि-स्कूलिग की तरह दग्ध किया। मानो वह पैरों की ज्वाला को अघाह्य कर दावाग्नि की भ्रम राशि पर चलने का इन्द्रजाल दिखा रहा हो इस प्रकार उस पथ पर चलने लगा। उसने पार्वत्य हस्ती की तरह अग्निशिखा कपी उत्पन्न हुवा में दग्ध शरीर की उपेक्षा कर रोगी के ओषध-पान की तरह नदी के उत्पन्न और पल्लवयुक्त जल को पीकर पथ अतिक्रम किया।

(श्लोक १२९-१३२)

राक्षस जैसे मुख से अग्नि-शिखा निकालते हैं वैसे ही विद्युत् उद्गिरणकारी भयंकर मेघ को देखकर भी वह जरा भी भयभीत नहीं हुआ। दीर्घ व अविच्छिन्न शरधारा-सी जलधारा से अकान्त हो कर भी वह सामान्य भी विचलित

नहीं हुआ मानो उसने बर्ष धारण कर रखा हो। पार्वत्य नदी के प्रवाह से उम्माड़े वृक्षों द्वारा अवरोध होने पर भी उसने वह नदी राजहंस की तरह सहज ही अतिक्रम कर ली। सूअरों की तरह वन का कर्दम भरा पथ भी मित्र के अन्वेषण में उसने सहज ही पार कर लिया। (श्लोक १३३-१३६)

सिर पर था चित्रा नक्षत्र (शरद् काल) का उत्ताप और पैरों तले थी उत्पन्न धूल मानो वह अग्निगृह में निवास कर रहा हो, किन्तु मन ही मन शीतल जल, कमल, पक्षी, हंस आदि का चिन्तन करते हुए और हे बन्धु, तुम कहाँ हो, तुम कहाँ हो इस प्रकार उसे खोजते हुए सब कुछ सहन किया। मदगन्ध की तरह सप्तपर्ण की गन्ध से उन्मत्त हस्ती मूष की उसने उपेक्षा की। पद्मगन्ध से आकुण्ठ अरण्य में प्रवेश करने वाले हस्ती की तरह उसने गहन अरण्य में प्रवेश किया और शरदकालीन मेघ की तरह मित्र की खोज में इधर-उधर भटकने लगा।

(श्लोक १३७-१४०)

हिम पर्वत के सहोदर रूप उत्तरी पवन-से जब नदी और जलाशय जम गए, लाल गगर, तेज में प्रस्फुटित श्वेत काल, रात्रि में प्रस्फुटित श्वेत और नील कमल शीत के प्रभाव से जब म्रियमाण हो गए, दावाग्नि का उत्ताप भी जब उन्हें बचा नहीं सका, किरात भी जब शीत से जर्जर होकर दावाग्नि की कामना करने लगे ऐसे शीतकाल को भी उसने अरण्य में व्यतीत किया। यह निश्चय ही उसके कठिन मनोबल का धोतक था।

(श्लोक १४१-१४३)

जो पथ पत्तों के जरने से घुटनों तक आच्छादित हो गया था जिसमें सर्प, बिच्छु आदि आश्रय लिए थे ऐसी राह पर भी वह निर्भय चलता रहा। कर्ण को अप्रिय ऐसी सिंहादि के गर्जना की भी उसने उपेक्षा की। केवल भाव अंकुर भक्षण कर उस शीतकाल को व्यतीत किया जबकि मित्र की दुश्चिन्ता में वह शीतल नहीं था।

(श्लोक १४४-१४६)

इस प्रकार सनत्कुमार को खोजते हुए एक वर्ष व्यतीत हो गया। एक दिन अरण्य में कुछ दूर जाकर जब खड़ा हो गया और व्योर्तिविद की तरह आकाश में न जाने क्या देख रहा

‘मित्र, तुम यहाँ कैसे आए, फिर तुम अकेले ही क्यों हो ? तुम कैसे जान सके कि मैं यहाँ हूँ ? और तुमने यह समय किस प्रकार व्यतीत किया ? मेरे विरह में पूज्य पिताजी कैसे हैं ? मेरे माता-पिता ने इस अगम्य स्थान में तुम्हें अकेला कैसे भेज दिया ?’

(श्लोक १५७-१६६)

इस प्रकार पूछने पर महेन्द्र सिंह अभ्रुवाण्य रुद्ध कण्ठ से जो-जो जैसा-जैसा घटा था सब कुछ बता दिया । तब सनत्कुमार ने कुशल विद्याधर अंगनाओं द्वारा उसको स्नान करवाकर भोजन करवाया । तदुपरान्त महेन्द्र सिंह ने विस्मय विस्फूर्ति से नेत्र किए सनत्कुमार से करबद्ध होकर पूछा—‘वह अश्व तुम्हें कितनी दूर ले गया था और क्या-क्या घटनाएँ घटी सब कुछ मुझे बताओ और यदि गोपनीय न हो तो यह समृद्धि किस प्रकार प्राप्त हुई वह भी कहो ।’

(श्लोक १६७-१७९)

सनत्कुमार सोचने लगा—जो मेरा अभिन्न हृदयी मित्र है उससे छिपाना क्या ; किन्तु आर्यों को यदि उनके सम्मुख दूसरा भी उनका दुःसाहसिक अभियान की सत्यकथा ही बतलावे तो भी वह सुनने में अस्वस्तिकर लगता है तो अपने मुख से अपने अभियान की कथा मैं अपने मित्र को कैसे कहूँ ? तब उन्होंने समीप ही बैठी अपनी पत्नी से कहा—‘बकुलमति, मुझे जोर से नींद आ रही है । तुम्हें विद्या से जो ज्ञातव्य है जानकर जो जो घटित हुआ है महेन्द्र सिंह को बतला दो ।’

(श्लोक १७२-१७५)

ऐसा कहकर वह सोने के लिए विश्रामघर की ओर चला गया । बकुलमति ने तब कहना प्रारम्भ किया—‘उस दिन आपके सम्मुख वह अश्व आपके मित्र को लेकर अदृश्य हो जाने के पश्चात् एक महावन में प्रविष्ट हुआ । वह वन यम के गोपन क्रीड़ा-क्षेत्र की तरह भयंकर था । दूसरे दिन मध्याह्न में जब वह पंचम चाल में चल रहा था तो भूख-प्यास के कारण जोभ निकाल कर बीच राह में खड़ा हो गया । तब आर्यपुत्र घोड़े से उतरे, कारण घोड़े को नाभि प्वास उठ रही थी और घर की छत गिरते समय जैसे पाँव अकड़ जाते हैं वैसे ही उसके पैर अकड़ गए थे । आर्यपुत्र ने उसकी बल्गा खोल दी और उसके ऊपर की जीन भी हटा दी । घोड़ा तभी चक्कर खाकर जमीन पर गिर पड़ा और मानो मृत्यु के भय से ही उसका

शवास तक गया। तब आर्यपुत्र जल की खोज में इधर-उधर घूमने लगे कारण वे स्वयं भी तो तृष्णा से कातर थे; किन्तु मनुभूमि-से उस अरण्य में वे किसी को भी देख नहीं पाए। आपके मिल तो ऐसे ही कोमलदेही हैं फिर दीर्घ यात्रा की क्लान्ति एवं दावानल के उत्ताप से क्लिष्ट होने के कारण अधिक दूर नहीं जा सके। अतः एक सप्तपर्ण वृक्ष के नीचे बैठ गए और वहीं मूर्च्छित हो गए।

(श्लोक १७६-१८५)

‘उनके पूर्व जन्म का पुण्य था। इसलिए उस वन के अधिष्ठाता यक्ष उन पर अनुकूल होकर शीतल जल लाए और मुख पर छीटा। शीतलता के संचार से उनकी संज्ञा लौटी, वे उठ बैठे और उसके द्वारा दिया जल पिया। तदुपरान्त उन्होंने पूछा—‘देव, आप कौन हैं और यह जल आप कहाँ से लाए?’ प्रत्युत्तर में यक्ष बोला—‘मैं यहाँ का अधिवासी हूँ और यह जल आपके लिए मानसरोवर से लाया हूँ।’ तब आर्यपुत्र बोले—‘मेरे शरीर में जो दाह है लगता है वह मानसरोवर में स्नान किए बिना शान्त नहीं होगा।’ मैं आपकी इच्छा पूर्ण करूँगा’ कह कर वह देव उन्हें कदली कुम्भ पर बैठा कर मानसरोवर ले गया। वहाँ महावत जैसे हाथी को स्नान करवाता है वैसे ही आर्यपुत्र ने नानाविध क्रीड़ा करते हुए स्नान किया। मर्दन करने वालों के हाथों के स्पर्श से जिस प्रकार शरीर की व्यथा दूर हो जाती है उसी प्रकार शीतल जल ने उनके समस्त शरीर में प्रविष्ट होकर उनकी क्लान्ति दूर कर दी। (श्लोक १८६-१९२)

‘जब वे स्नान कर रहे थे। तब उनके पूर्व जन्म का शत्रु असिताक्ष नामक देव मानो दूसरा कृतान्त ही हो इस भाँति वहाँ आया और बोला—‘अरे ओ दुवृत्त, क्षुधार्थ सिंह जैसे हस्ती की खोज करता है उसी प्रकार मैं भी बहुत दिनों से तुझे खोज रहा था। अब तू कहाँ जाएगा?’ यह कहकर एक बृहद् वृक्ष उखाड़ कर लकड़ी की तरह उसे आर्यपुत्र पर फेंका। आपके मिल ने मुण्ठी आघात से उस वृक्ष को हस्ती जैसे महावत को सहज ही उठा फेंकता है उसी प्रकार फेंक दिया। तब उसी पक्ष ने प्रलयकालीन अन्धकार की तरह समस्त पृथ्वी को अन्धकारमय कर डाला। उसने मन्त्रबल से अन्धकार के मानो सहोदर हो ऐसे घुम्रवर्ण और विकटाकार पिशाचों की सृष्टि की जिनके

मुख चिता की लपटों की तरह आग फेंक रहे थे। वज्रपात के शब्दों की तरह वे चूर अट्टहास-सा कर रहे थे। लाल केश, लाल नेत्रों के कारण वे जलते हुए अट्टहास की भाँति लग रहे थे। उनकी निकली हुई जीभ वक्ष-कोटर से निकलते सर्प-सी लग रही थी। उनके जबड़े मोटे और दाँत दीर्घ थे। मधुमक्खियाँ जिस प्रकार मधु की ओर दौड़ती हैं वैसे ही वे आर्यपुत्र की ओर दौड़े।

(श्लोक १८३-२०१)

‘किन्तु आर्यपुत्र मंच के अभिनेताओं की भाँति उन विकराल निशाचरों को अपनी ओर आते देखकर जरा भी भयभीत नहीं हुए। जब यक्ष ने आर्यपुत्र को भयभीत नहीं पाया तो वम-पाश की भाँति पाश से उन्हें बांध दिया। हस्ती जैसे द्राक्षालता के कुञ्ज को सहज ही तोड़ डालता है उसी प्रकार उन्होंने बड़ी सहजता से उस बन्धन को तोड़कर स्वयं को मुक्त कर लिया। इस प्रकार विफल होकर सिंह जैसे पर्वत पर अपनी पूँछ पटकता है उसी प्रकार वह आर्यपुत्र पर मुष्टि-प्रहार करने लगा। क्रुद्ध महाव्रत जैसे अंकुश द्वारा हस्ती को आहत करता है उसी भाँति आर्यपुत्र अपनी वज्र-सी मुष्टि द्वारा उस यक्ष को आहत करने लगे। मेघ जैसे विद्युत द्वारा पर्वत पर आघात करता है उसी प्रकार यक्ष ने अपने लौह मुद्गर से आर्यपुत्र पर आघात किया तब उन्होंने एक बन्दन वक्ष उत्पाटित कर यक्ष पर फेंका। उस आघात से पूर्णतः निर्जीवि होकर वह सूखे वृक्ष की तरह जमीन पर गिर पड़ा।

(श्लोक २०२-२०८)

‘तब उस यक्ष ने बृहद् पत्थर-से एक पहाड़ को उठा कर आर्यपुत्र पर फेंका। उस आघात से आर्यपुत्र मूर्च्छित हो गए और सन्ध्या समय जैसे कमल पटल बन्द हो जाते हैं वैसे ही नेत्र बन्द कर लिए। ज्ञान लीटने पर प्रबल वायु जैसे मेघ को छिन्न-भिन्न कर देती है वैसे ही उस पर्वत को हस्त प्रहार से चिरी-चिरी कर डाला। इतना ही नहीं आपके मित ने फिर तो हस्त दण्ड के प्रहार से उस यक्ष को चूर-चूर कर डाला; किन्तु वेद-योनि में होने के कारण उसकी मृत्यु नहीं हुई और वह अंधड़ की तरह वहाँ से भाग गया। मृत्यु से पूर्व सूजर जैसे चीत्कार करता है उसी प्रकार वह भी चिल्लाने लगा। देवियाँ

और विद्याधर कन्याएँ जो इस युद्ध को देख रही थीं कतुलदमी की तरह आर्यपुत्र पर पुण्य वर्षा करने लगीं । (श्लोक २०९-२१४)

‘अपराह्न में आर्यपुत्र दृढ़ संकल्प कर मदभस्त हस्ती की तरह कुछ आगे बढ़े । वहाँ उन्होंने नन्दन से आगत मदन को संजीवित करने वाली खेचर कन्याओं को देखा । उन्होंने आपके मित्र को स्वयंवर-माल्य की तरह हावभाव और विलासपूर्ण दृष्टि से देखा । वस्तुस्थिति जानने के लिए विचक्षणा में क्षयणी आपके मित्र उनके पास जाकर अमृत-निःस्पन्दी स्वर में पूछने लगे—

‘तुम लोग किन महानुभावों की कन्या हो ? किस कुल की अलंकार कृपा हो ? इस वन में किसलिए घूम रही हो ?’ उन्होंने उत्तर दिया—‘देव, हम आठों विद्याधर राज भानुवेष की कन्याएँ हैं । हमारे पिताजी की राजधानी यहाँ से दूर नहीं है । कमल पर राजहंस जिस प्रकार निवास करता है उसी प्रकार उस नगरी में निवास कर आप उसे अलंकृत करिए ।

(श्लोक २१५-२२१)

‘उनकी बात सुनकर आपके मित्र मानो सन्ध्याकृत्य करने जा रहे हैं इस भाँति उस नगर में गए । सूर्य अस्त हो गया । पात्र की चिन्ता से चिन्तित व्यक्ति के लिए वंशाल्यकरणी तुल्य आपके मित्र को उन्होंने द्वार-रक्षक द्वारा अपने पिता के पास भेजा । उन्हें देखकर उनकी अभ्यर्चना के लिए भानुवेष उठकर खड़ा हुआ और बोला—

‘देवकृपा से ही आप जैसे गुणवंत द्वारा मेरा घर पवित्र हुआ है । आपको देखने से ही लगता है कि आप उच्चकुल जात और शक्तिशाली हैं । चन्द्र का जन्म क्षीर समुद्र से हुआ है यह तो चन्द्र को देखने से ही पता चल जाता है । आप मेरी कन्याओं के लिए उपयुक्त वर हैं इसलिए मैं अपनी आठों कन्याओं का विवाह आपके साथ करना चाहता हूँ । कारण स्वर्ण में ही रत्न जड़ा जाता है ।’

(श्लोक २२२-२२६)

‘इस प्रकार अनुवृद्ध होकर आपके मित्र ने उसी समय दिक् कुमारियों-सी उन आठों कन्याओं से विधिवत् विवाह कर लिया । मंगलमूर्तवद्ध अवस्था में वे केलिगृह में उनकी साथ शयन करने गए

और रत्नजड़ित शय्या पर मुखपूर्वक सो गए। निद्रित अवस्था में उस यक्ष ने उन्हें उठाकर अन्यत्र फेंक दिया। छल शक्तिमान से भी अधिक शक्तिशाली होता है। अतः नींद टूटने पर उन्होंने मंगलसूत्र को जमीन पर गिरा हुआ और स्वयं को वन में देखा। सोचने लगे—यह क्या हुआ? तत्पश्चात् वन में पूर्व की भाँति ही फिर भ्रमण करते हुए उन्होंने एक सात मंजिल वाला प्रासाद देखा। यह क्या किसी ऐन्द्रजालिक का इन्द्रजाल है, ऐसा सोचते हुए उन्होंने उस प्रासाद में प्रवेश किया। वहाँ प्रविष्ट होते ही उन्होंने एक तरुणी का उत्क्रोश भरा क्रन्दन सुना। उसके क्रन्दन से मानो वन भी क्रन्दन कर रहा था। दयार्द्रचित्त आर्यपुत्र उस क्रन्दन को सुनकर सीधे सातवीं मंजिल पर पहुँचे। वह महल ज्योतिष्क देवों के विमान की तरह प्रतिभासित हो रहा था। वहाँ उन्होंने एक रूप-लावण्यवती विषण्णवदना नीचा मुँह किए एक कुमारी को अध्रु प्रवाहित कर रोते हुए देखा। वह बार-बार कह रही थी—‘हे कुरुकुल पुंगव सनत्कुमार, इस जन्म में न होने पर भी दूसरे जन्म में आप ही मेरे पति बनना।’ (श्लोक २२७-२३७)

‘उसे अपना नाम उच्चारण करते सुनकर संदिग्ध मन से कि कौन मुझे इस प्रकार याद कर रही है, अभीष्ट देव की तरह उसके सम्मुख जाकर उपस्थित हो गए और बोले, ‘शुभ्र! सनत्कुमार कौन है? तुम कौन हो? तुम कैसे यहाँ आई? तुम्हारा दुःख क्या है जो तुम सनत्कुमार को पुकार-पुकार कर रो रही हो?’ यह सुनकर उस तरुणी के मन में आनन्द का संचार हुआ और वह मधुर स्वर में बोली—

‘देव, मैं सौराष्ट्र के राजा साकेत पुराधिपति की कन्या हूँ। मेरा नाम सुनन्दा है। मेरी माँ का नाम चन्द्रवशा है। कुरुकुल सूर्य सनत्कुमार जिनके रूप से मदन भी पराजित होता है वे महाराज अवशसेन के पुत्र हैं। वे ही दीर्घबाहु मेरे पति हैं कारण मेरे माता-पिता ने मेरे स्वप्न-दर्शन के कारण जल का अंजलिदान देकर मुझे उन्हें दान कर दिया था। इसी बीच विवाह होने के पूर्व ही परद्रव्य अपहरणकारी दस्यु की तरह एक बिद्याधर मेरे प्रासाद की छत से मुझे उठाकर यहाँ ले आया। वह मन्त्र बल से इस प्रासाद का निर्माण कर मुझे यहाँ रख गया है। वह अभी कहाँ है यह मैं नहीं

जानती। यह भी नहीं जानती मेरा भी क्या होगा ?'

(श्लोक २३८-२४४)

‘आर्यपुत्र बोले—‘हे भीरु, भय मत करो। मैं ही कुसुवन्शी सनत्कुमार हूँ जिसे तुमने स्वप्न में देखा था।’ तब वह बोली, ‘मैं कृत-कृत्य हुई कारण बहुत दिनों पश्चात् भाग्य के द्वारा स्वप्न साकार होने की भाँति आप मेरे सम्मुख खड़े हैं। हे देव, ईश्वर को धन्यवाद।’

(श्लोक २४५-२४६)

‘वे लोग जब इस प्रकार वार्तालाप कर रहे थे तभी अशनिवेग का पुत्र बज्रवेग विद्याधर क्रोध से लाल नेत्र किए वहाँ आ पहुँचा। बज्रवेग आर्यपुत्र को उठाकर आकाश की ओर उड़ चला। ‘हा देव, मैं पुनर्देव द्वारा नष्ट हुई’ कहती हुई वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। आर्यपुत्र ने क्रुद्ध होकर बज्रवेग को पत्थर-से कठोर हस्त आघात से मशक की भाँति धार डाला। तत्पुनरागते अशनि वह लिए चन्द्र की तरह उसके नीले नयन-कमलों को आनन्द देने के लिए पुनः सुनन्दा के पास लौट गए। उन्होंने सुनन्दा को होश दिलाया और वहीं उससे विवाह कर लिया कारण ज्योतिषियों ने कहा था कि यह कन्या रमणीरत्न है।

(श्लोक २४७-२५२)

‘अपने भाई की मृत्यु का संवाद पाकर क्रुद्ध सन्ध्यावली उसी क्षण वहाँ आ पहुँची। आर्यपुत्र को देखकर और नैमित्तिकों द्वारा की गई यह भविष्य वाणी स्मरण कर कि तुम्हारा भ्रातृहन्ता ही तुम्हारा पति होगा वह शान्त हो गई। अपनी इच्छा ही सबके लिए बलवान होती है। आर्यपुत्र को पतिरूप में चाह कर वह स्वयं द्वितीय जयश्री की तरह उनके पास गई। सुनन्दा की सानन्द सम्मति पाकर आर्यपुत्र ने उस अनुरागवती से भी गान्धर्व-विवाह कर लिया।

(श्लोक २५३-२५६)

‘उसी समय दो विद्याधर अस्त्र-शस्त्रादि तथा रथ सहित वहाँ आए और आर्यपुत्र को बोले—‘बज्रवेग के पिता विद्याधर राजा अशनिवेग ने मरुड़ जैसे सर्प की हत्या करता है उसी प्रकार उसकी हत्या कर दे’ है सुनकर अपनी सेना से आकाश को आच्छादित कर दिक्-हस्ती से भी अधिक बलवान, क्रोधरूप लवण-समुद्र की तरह आपके साथ युद्ध करने आ रहा है। हम आपके साने हैं, हमारे पिता चन्द्रवेग और भानुवेग द्वारा प्रेरित होकर आपकी सहायता के लिए

यहाँ आए हैं। आप उनके द्वारा भेजे हुए इन्द्ररथ-से इस रथ पर आरोहण कर और अस्त्र-शस्त्रादि धारण कर शत्रु-सैन्य को पराजित करिए। चन्द्रवेग और भानुवेग वायु से द्रुतगामी यान पर आ रहे हैं। वे आपके ही प्रतिरूप हैं।' (श्लोक २५७-२६२)

‘उसी समय नदी सहित पश्चिम और पूर्व समुद्र की तरह चन्द्रवेग और भानुवेग अपनी मूर्तिप्रतिमा लेकर यहाँ उपस्थित हुए। पुष्करावतं मेघ की तरह अशनिवेग की सेना का कोलाहल सुनाई पड़ा। उसी समय सन्ध्यावली ने आर्यपुत्र को प्रज्ञप्तिका नामक विद्या प्रदान की। कारण स्त्रियाँ पति का पक्ष ही ग्रहण करती हैं। युद्ध के लिए उद्ग्रीव आर्यपुत्र अस्त्र धारण कर रथ पर चढ़े। अश्वियों को युद्ध ही प्रिय होता है। चन्द्रवेग और भानुवेग एवं अन्य विद्याधरगण ने, चन्द्ररूप शत्रु-सैन्य के लिए जो राहु रूप थे, सैन्य द्वारा अशनिवेग को घेर लिया। एकड़ो-एकड़ो, मारो-मारो चिल्लाते हुए अशनिवेग की सेना दीड़ने लगी। उभय पक्ष की सेनाएँ असीम साहस से मुर्गे की तरह बार-बार ऊपर उड़कर क्रोध से आघात कर युद्ध करने लगी। उस समय युद्ध के सिहनाद के अतिरिक्त कुछ सुनाई नहीं दे रहा था, अस्त्रों की चकमक के अलावा कुछ दिखाई नहीं दे रहा। हाथी की तरह युद्ध में कुशल वे कभी आगे कभी पीछे होकर, कभी अस्त्राघात करके कभी अस्त्राघात खाकर युद्ध करने लगे। बहुत समय तक युद्ध चलने के पश्चात् उभय दल की सेनाएँ जब क्लान्त हो गयीं तब अशनिवेग हवा की तरह द्रुतगामी रथ पर चढ़कर सामने आया और विद्रूप-के स्वर में हँसते-हँसते बोला—‘कृतान्तगृह का नवीन अतिथि चन्द्रवेग का वह हत्यारा कहां है?’ ऐसा कहकर उसने धनुष पर टंकार दी। तब उन दोनों महाशक्तिशालियों में युद्ध आरम्भ हो गया। तीर के बदले ऐसे तीर निक्षिप्त हुए कि जिससे सहस्रमाली का किरणजाल भी आवृत हो गया। (श्लोक २६३-२७४)

‘आर्यपुत्र और विद्याधरराज परस्पर एक दूसरे की हत्या करने को उत्सुक होकर अपनी गदा आदि से युद्ध करने लगे; किन्तु विजय किसी को नहीं मिली। उन्होंने दिव्यास्त्रों से युद्ध किया। नागबाण, गरुड़बाण, अग्निबाण, वरुणबाण ने एक दूसरे को प्रतिहत किया। (श्लोक २७५-२७७)

विद्याधरराज ने धनुष भुकाकर एक तीर निक्षेप किया। आर्यपुत्र ने एक तीर से अशनिवेग के धनुष का चिल्ला काट डाला मानो उसके जीवन का ही अन्त कर डाला हो। अशनिवेग जब दृश्य में साहसिकता के आर्यपुत्र के शरीर पर पहुँचा तब उन्होंने अर्द्धयश की भाँति उसका आधा हाथ ही काट डाला। अत्यधिक कोधित होकर एक हाथ कट जाने पर भी पर वह एक दाँत टूटे हस्ती की तरह या एक दाँत खोए सूअर की तरह, उनकी ओर बढ़ने लगा। जब वह होठ दबाकर आर्यपुर पर खड्ग का वार करने जा ही रहा था कि उन्होंने विद्यालब्ध चक्र द्वारा अशनिवेग का मस्तक छेदन कर डाला। (श्लोक २७८-२८१)

अब अशनिवेग की राज्यश्री पूर्णतः आर्यपुत्र की आश्रित हो गयी। कारण श्री साहसियों का ही आश्रय ग्रहण करती है। चन्द्रवेग, भानुवेग और अन्य विद्याधर सहित आर्यपुत्र वंताडप पर्वत पर गए। जिन विद्याधर राजाओं को उन्होंने युद्ध में पराजित किया था उनके द्वारा वे विद्याधर पति के रूप में अभिषिक्त हुए। शक्र जैसे नन्दोश्वर द्वीप में अट्टाई महोत्सव करता है उसी प्रकार जिनकी महत्ता अवुलनीय है ऐसे आपके मित्र ने वहाँ अष्टाङ्गिका महोत्सव किया। (श्लोक २८२-२८५)

एक दिन विद्याधरों के चूडामणि रूप मेरे पिता जी ने आर्यपुत्र से कहा—'बहुत दिन पूर्व मैंने महाशक्तिधर और जान में समुद्रतुल्य एक मुनि का दर्शन किया और उन्हें बहुलमति आदि मेरी एक सौ कन्याओं के नाची पति के विषय में पूछा। प्रत्युत्तर में उन्होंने कहा—'चतुर्थ चक्री सन्तकुमार आपकी इन एक सौ कन्याओं के पति होंगे। सौभाग्यवश आप उन्हीं समय यहाँ आए जबकि मैं सोच रहा था कि आपको कहीं खोजूँगा और कैसे आपको इनसे विवाह करने को कहूँगा? देव, अब आप अनुग्रह कर उन्हें ग्रहण करें कारण, महान पुरुषों के सम्मुख की गयी प्रार्थना कभी व्यर्थ नहीं होती, मुनि वाक्य भी व्यर्थ नहीं होता।' (श्लोक २८६-२९०)

याचक के लिए चिन्तामणि तुल्य आपके मित्र ने मेरे पिता द्वारा इस प्रकार अनुकूल होकर मेरे सहित एक सौ कन्याओं से विवाह किया। तब से विद्याधर कन्याओं से परिवृत होकर आपके

मित्र कभी मनोमुग्धकारी संगीत सुनने में, कभी सुन्दर अभिनय देखकर, कभी कहानियाँ सुनकर, कभी चित्र देखकर, कभी दिव्य सरिता में जल-क्रीड़ा कर, कभी उद्यान में पुष्प चयन कर समय व्यतीत करने लगे। यहाँ आपके बन्धु कीड़ा के लिए आए थे जहाँ आपसे उनका मिलन हुआ। इस भाँति निष्ठुर भाग्य का चक्रान्त व्यर्थ हुआ।' (श्लोक २९१-२९५)

चकुलमति की कथा समाप्त होते ही सनत्कुमार हस्ती जैसे सरोवर से निकल आता है उसी प्रकार शोकग्रस्त से बाहर आए। तदुपरान्त विद्याधरों से परिवृत्त होकर इन्द्र जैसे सुमेरु पर्वत पर जाता है उसी प्रकार महेन्द्रसिंह सहित वैताडप पर्वत पर गए। (श्लोक २९६-२९७)

एक दिन महेन्द्रकुमार सनत्कुमार से बोले—'मित्र, तुम्हारी इस सवृद्धि से मेरे आनन्द की सीमा नहीं है; किन्तु तुम्हारे माता-पिता तुम्हारे विरह में दुःखी हैं। वे सर्वदा तुम्हें स्मरण करते हैं। तुम्हारे और मेरे प्रति उनका इतना अनुराग है कि हमलोगों जैसे किसी को देखते ही यह सनत्कुमार है, यह महेन्द्रसिंह है वे ऐसा सोचने लगते हैं। एतदर्थ चलो, हम हस्तिनापुर चले। चन्द्र जैसे समुद्र को आनन्दित करता है तुम भी उन्हें वैसे ही आनन्दित करो।' (श्लोक २९८-३०१)

महेन्द्रसिंह जब इस प्रकार बोले तब शत्रुस्य पहाड़ के लिए जो वज्र तुल्य हैं ऐसे उन्होंने उसी मुहूर्त में पत्नी, बन्धु-बान्धव, संन्य-सामन्तों और अनुचरों से परिवृत्त होकर हस्तिनापुर के लिए प्रस्थान किया। उनके अधीनस्थ राजाओं के विभिन्न आकाशयानों की द्युति से आकाश बहुसूर्यमय लग रहा था। किसी ने उनका छत्र पकड़ा था, कोई चँवर डुला रहा था, कोई उनकी पादुका बहन किए चल रहा था, कोई ताड़ पंखा धारण किए था, किसी के हाथ में उनका ताम्बूल-पात्र था, कोई पथ बता रहा था, कोई हाथी पर चढ़ा था, कोई अश्व पर कोई रथ पर, कोई पैदल ही आकाश-मार्ग से जा रहा था। (श्लोक ३०२-३०७)

मेघ जैसे ताप-विलुप्त मनुष्य को आनन्दित करता है उसी प्रकार सनत्कुमार ने दुःखार्त माता-पिता और पुरवासियों को दर्शन देकर आनन्दित किया। आनन्दमना अश्वसेन ने सनत्कुमार को

सिंहासन पर बैठाया और महेन्द्रसिंह को उनका सेनापति बना दिया। तीर्थकर धर्मनाथ स्वामी के समवसरण में जाकर अश्वसेन ने बसोज्येष्ठों के सम्मुख दीक्षा ग्रहण कर अपने जीवन को सार्थक किया।

(श्लोक ३०८-३१०)

चौदह महारत्न और चक्रादि सनत्कुमार के राज्य में उत्पन्न हुए। चक्र का अनुसरण कर उन्होंने भरत के छह खण्डों को जीत लिया एवं सैसर्प आदि रत्नों को प्राप्त किया। इस प्रकार दस हजार वर्षों में समस्त भरत क्षेत्र को जय कर वे हस्तिरत्न पर आरुढ़ होकर हस्तिनापुर में प्रविष्ट हुए। जब वे महामना नगर में प्रविष्ट हुए तभी अवधिज्ञान से जानकर सौधमैन्द्र ने पूर्व बन्धुत्व के लिए उन्हें अपना प्रतिरूप समझा। जिस हेतु पूर्व जन्म में वे सौधमैन्द्र थे अतः वे मेरे भ्राता हैं ऐसे स्नेह के कारण शक्र ने कुबेर को बुलवाया और कहा—‘शक्रों में उत्तम, चक्री, कुरुवंशरूप समुद्र के लिए चन्द्र तुल्य महामना अश्वसेन के पुत्र मेरे भाई के समान हैं। छह खण्ड भरत जय कर आज वे नगर में प्रवेश कर रहे हैं। उनका चक्रवर्ती के रूप में अभिषेक करना है। अतः उसका आयोजन करो। इतना कहकर सौधमैन्द्र ने उन्हें हार, अर्द्धहार, छत्र, दो चँवर, मुकुट, युगल कुण्डल, दो देवदूष्य वस्त्र, सिंहासन, पादुका और उज्ज्वल पादपीठ सनत्कुमार को प्रदान करने के लिए दिए। साथ ही साथ उन्होंने तिलोत्तमा, उर्वशी, मेनका, रम्भा, तुम्बुरु और नारद को भी अभिषेक में जाने के लिए कहा। कुबेर तत्काल उन्हें लेकर हस्तिनापुर गए और सनत्कुमार को शक्र का आदेश निवेदित किया। सनत्कुमार की आज्ञा मिलते ही कुबेर ने रोहन पर्वत की उपत्यका-सा एक योजन दीर्घ रत्नखचित मंच का निर्माण करवाया। उस पर दिव्य चन्द्रातप लगवाया और मंच के मध्य रत्नों की बेदी निर्मित कर उस पर रत्न सिंहासन स्थापित किया। कुबेर के आदेश पर जम्भक देव क्षीरसमुद्र से जल ले आए। समस्त राजन्यवर्ग महार्घ गन्ध-माला आदि ले आए।

(श्लोक ३११-३२४)

आयोजन सम्पन्न होने पर कुबेर ने सनत्कुमार को रत्न सिंहासन पर बैठाया और इन्द्र द्वारा प्रदत्त उपहार प्रदान किए। इन्द्र के सामानिक देवों की तरह सनत्कुमार के अनुचरवृन्द, सामन्त और राजन्यवर्ग यथास्थान खड़े रहे। नाभिपुत्र का जिस प्रकार

राज्याभिषेक किया गया था उसी प्रकार देवों ने पवित्र जल से सनत्कुमार को चक्रवर्ती पद पर अभिषिक्त किया। तुम्बुरु आदि गानकों ने संगल गान किया। देवों ने मृदंगादि वाद्य बजाए। रम्भा, उर्वशी आदि ने नृत्य किया, गन्धर्वों ने नाना प्रकार के कौतुक दिखाए। स्नानाभिषेक समाप्त कर देवों ने उन्हें दिव्य वस्त्र, गन्ध, अलंकार और मातृव्य आदि प्रदान किए। हस्ती रत्न को सुगन्धित केशर से चर्चित कर उसकी पीठ पर सनत्कुमार को बैठा कर कुबेर ने हस्तिनापुर में उनका प्रवेश करवाया। अपनी नगरी की तरह ही हस्तिनापुर को धन सम्पन्न कर कुबेर ने चक्रवर्ती से विदा ली। (श्लोक ३२५-३३२)

चक्रवर्ती रूप लता की क्यारी के रूप में उनका अभिषेक भुक्तुवज्ज राजाओं और सामन्तों द्वारा भी अनुष्ठित हुआ। इस अभिषेक समारोह के कारण हस्तिनापुर का बारह वर्षों के लिए दण्ड, कर आदि से मुक्त कर दिया गया। इन्द्र-से वैभव सम्पन्न सनत्कुमार पिता की तरह प्रजा को पुत्रवत् पालन करने लगे। उन्हें करादि द्वारा पीड़ित नहीं किया। शक्ति में जिस प्रकार उनके समकक्ष त्रिलोक्य में कोई नहीं था उसी भाँति रूप में भी त्रिलोक्य में कोई नहीं था। (श्लोक ३३३-३३६)

एक दिन शक्र सौधर्म कल्प में अपने रत्न सिंहासन पर बैठ कर सौदामिनी नामक नाटक देख रहे थे। उसी समय वहाँ ईशान कल्प से संगम नामक एक देव आया। उसकी कान्ति और रूप ने वहाँ अवस्थित समस्त देवों के रूप और कान्ति को स्तान कर दिया। यह देख कर वे सब विस्मित हो गए। उसके चले जाने पर देवों ने शक्र को इस रूप और कान्ति का कारण पूछा। शक्र ने प्रत्युत्तर में कहा—'पूर्व जन्म में उसने आर्यविल वज्रमान तप किया था उसी कारण यह रूप और कान्ति अर्जित की है।' देवों ने पुनः पूछा—'उसके जैसे रूप और कान्ति त्रिलोक में और किसी के हैं?' इन्द्र ने उत्तर दिया—'उससे भी अधिक रूप और कान्ति कुरुकुल के अलंकार चक्रवर्ती सनत्कुमार को प्राप्त हैं। उन-सा रूप और कान्ति अन्यत्र किसी मनुष्य या देवों में भी नहीं है।' (श्लोक ३३७-३४३)

विजय और वैजयन्त नामक दो देवों को इन्द्र की इस

बात पर विश्वास नहीं हुआ। वे पृथ्वी पर उतरे। सनत्कुमार का सौन्दर्य देखने के लिए ब्राह्मण वेश में वे राजप्रासाद के द्वार पर जहाँ द्वारपाल खड़े थे पहुँचे। सनत्कुमार उस समय स्नान के लिए बैठे थे अतः देह के समस्त रत्नाभरण उतार कर उबटन का लेप कर दिया गया था। द्वार-रक्षक ने ब्राह्मणों का आगमन निषेधित किया। सनत्कुमार ने उन्हें वहाँ ले जाने को कहा। वहाँ जाकर जब उन्होंने सनत्कुमार को देखा तो विस्मित होकर मस्तक नीचा किए सोचने लगे—

इनका ललाट अष्टमी के चन्द्र से भी सुन्दर है। आकर्ण-विस्तृत नेत्र नील पद्म को भी लज्जित कर रहा है। ओष्ठ पके बिम्ब से भी अधिक रक्तिम है। कान मुक्ता सीप-से हैं। कण्ठ पांचजन्य शंख को भी पराजित कर रहा है। भुजाएँ गजराज की सूँड का स्मरण करवा रही हैं। वक्ष देश ने सुवर्ण शिला के सौन्दर्य को चुराया है। कटिदेश सिंह शिशु-सा क्षीण है। और अधिक क्या कहें? उनका देह-सौन्दर्य भाषा में पकड़ा नहीं जा सकता। उनकी देह का लावण्य ऐसा निर्बाध है कि चन्द्र किरण द्वारा आवृत नक्षत्रलोक की तरह उबटन की तो बात ही मन में नहीं आती। इन्द्र ने जैसा कहा था ये वैसे ही हैं। सत्य ही महामना कभी झूठ नहीं बोलते। (श्लोक ३४४-३५४)

सनत्कुमार ने उनसे पूछा, 'हे द्विजोत्तमगण, आप यहाँ क्यों आए हैं?' वे बोले, 'हे नरशार्दूल, आपका रूप स्वर्ग मर्त्य सर्वत्र विख्यात है और सभी के लिए विस्मयजनक है। इसी रूप की चर्चा सुन कर स्वनेत्रों से इस रूप को देखने हम यहाँ आए हैं। लोग आपके रूप के विषय में जैसा कहते हैं उसी प्रकार यह आश्चर्यजनक सुन्दर है।' (श्लोक ३५५-३५८)

सनत्कुमार के अधरों पर हास्य बिखर गया। वे गर्व से बोले—'हे द्विजोत्तमगण, उबटन लेपित देह में वह सौन्दर्य कहाँ? जब तक मैं स्नान न कर लूँ तब तक आप अपेक्षा करें और मेरा अंगराग लिप्त स्वर्णाभरण मण्डित देह-सौन्दर्य देखें।

(श्लोक ३५९-३६१)

सूर्य जैसे आकाश को अलंकृत करता है उसी प्रकार स्नान के पश्चात् स्वर्णाभरणों से भूषित होकर चक्री ने अपने प्रताप

से राजसभा को अलंकृत किया। उन दोनों ब्राह्मणों को वहाँ लाया गया जिससे वे उनका सौन्दर्य देख सकें; किन्तु उन्हें देखते ही वे विषण्ण होकर सोचने लगे—इतनी-सी देर में ही इनका वह रूप-लावण्य, कान्ति कहाँ चली गयी? सबभूत ही मृत्यु लोक में मनुष्य का सब कुछ ही नश्वर है। (श्लोक ३६२-३६४)

सनत्कुमार ने विस्मित होकर उनसे पूछा—‘इसके पूर्व जब आप लोगों ने मुझे देखा तो हर्षोत्फुल्ल हो उठे थे; किन्तु अभी सहसा दुःखी और विषण्णमना क्यों हो गए हैं?’ तब वे मधुर स्वर में सनत्कुमार से बोले, ‘राजन्, हम दोनों सौधर्म देवलोक के देव हैं। सौधर्म देवलोक में इन्द्र ने आपके रूप की प्रशंसा की। हमें विश्वास नहीं हुआ। अतः मानव देह में आपका वह रूप देखने यहाँ आए। उस समय इन्द्र ने जैसा कहा था वैसे ही आपका रूप देखा; किन्तु अब आपका वह रूप बदल चुका है। निःश्वास जैसे दर्पण को अन्ध कर देती है उसी प्रकार रूप का अपहरण करने वाली व्याधि द्वारा आपकी देह ग्रस्त हो गयी है?’ (श्लोक ३६५-३६९)

इस सत्य को प्रकाशित कर वे देव तत्क्षण अन्तर्धान हो गए। सनत्कुमार ने स्वयं भी अपनी देह को हिमग्रस्त वृक्ष की भाँति प्रभाहीन देखा। तब वे सोचने लगे—‘हाय! यह देह सर्वदा ही रोग का आकर है। अल्पबुद्धि मूर्ख ही व्यर्थ इसका गर्व करते हैं।’ (श्लोक ३७०-३७१)

‘दीमक जैसे भीतर ही भीतर वृक्ष को नष्ट कर देता है उसी भाँति देह को भी देह में उत्पन्न व्याधि भीतर ही भीतर नष्ट कर देती है। यद्यपि कभी-कभी यह देह बाहर से देखने में सुन्दर लगती है, फिर भी यह भीतर से बटवृक्ष के फल की तरह कीट पूर्ण है। जलकुम्भी जैसे सुन्दर जलाशय को नष्ट कर देता है उसी प्रकार व्याधि भी शारीरिक सौन्दर्य को क्षणभर में नष्ट कर देती है। शरीर शिथिल हो जाता है, किन्तु कामना नहीं जाती। रूप नष्ट हो जाता है; किन्तु भोग-लिप्सा रह जाती है। वृद्धावस्था आ जाती है; किन्तु ज्ञान का उदय नहीं होता। धिक्कार है मनुष्य की इस देह को! रूप-लावण्य, कान्ति, वैभव, शरीर और सम्पत्ति इस संसार में कुशाग्रस्थित जलबिन्दु की

तरह अस्थायी है। अतः इस नाशवान देह द्वारा सकाम निर्जरा रूप तप करना ही उत्तम है।' (श्लोक ३७२-३७७)

मार्गदर्शक — ऐसा रीति पर संसार में विरत बने अनन्तकुमार ने प्रव्रज्या ग्रहण करने की इच्छा से अपने पुत्र को सिंहासन पर बैठाया। तदुपरान्त उद्यान में जाकर जो कुछ हेतु है उसका परित्याग करने के लिए विनयधर मुनि से भागवती दीक्षा ग्रहण कर ली। महाश्रत ग्रहण व उत्तरगुण पालन करने के लिए सर्वदा समभाव में स्थिर रहते हुए वे जब ग्रामानुष्ठान विचरण करने लगे तब हस्तीमूष जैसे-जैसे मूषपति का अनुसरण करता है उसी प्रकार उनके प्रति अनुरागी सामन्तराजगण उनका अनुसरण करने लगे। छह मास पर्यन्त अनुसरण कर वे लौट आए। कारण सर्वविरत ममत्व और अनुरागहीन निष्परिग्रही उन महात्मा ने उनकी ओर मुड़ कर भी नहीं देखा। (श्लोक ३७८-३८३)

दो दिनों के उपवास के पश्चात् एक दिन वे जब पारणा के लिए एक गृहस्थ के घर गए तो वहाँ छाछ और उबाला हुआ जो माख मिला। उन्होंने वही खाकर पारणा किया। यही काम उनका चलता रहा। एक दिन पारणा दो दिन उपवास करने से, दोहद रह जाने पर शरीर में जैसे व्याधियाँ बढ़ जाती है उसी प्रकार उनकी देह में भी रोग बढ़ने लगा। वे महाभना खुजली दाद, ज्वर, दमा, मन्दाग्नि, पेट का दर्द और नेत्र रोग इन सत् व्याधियों से आक्रांत हो गए। उन्होंने उसी अवस्था में ७०० वर्ष व्यतीत किए। इस भीति दुःसह परिषह सहन कर व्याधि उपचार से निःस्पृह रहते हुए घोर तप करने के कारण उन्हें विभिन्न लब्धियाँ प्राप्त हो गयीं। उन्होंने अपने थूक, कफ, पसीना, शरीर का मेल, विष्टा व स्पर्श द्वारा रोग निर्मुक्त करने की क्षमता प्राप्त की। (श्लोक ३८३-३८७)

सनत्कुमार की विशुद्ध तपस्या के प्रति अद्भुत होकर इन्द्रदेव सभा में बोले—'जलते हुए फूस की भीति चक्रवर्ती के विपुल वैभव को परित्याग कर सनत्कुमार कठोर तप में संलग्न हैं। यद्यपि तप के प्रभाव से व्याधिमुक्त होने की क्षमता उन्होंने अर्जित कर ली है फिर भी देह के प्रति निरासक्त वे महाभना स्वयं को रोगमुक्त नहीं कर रहे हैं? पूर्वोक्त वही विजय और

बैजपन्त दोनों देव यह सुनकर विश्वास न होने के कारण वैद्य के रूप में सनत्कुमार के पास पहुँचे। वे उन्हें बोले, 'हे महामना, आप क्यों रोग से कष्ट पा रहे हैं? हम वैद्य हैं। हम चिकित्सा द्वारा इस रोग को निरामय कर सकते हैं। आप यदि सम्मति दें तो आपका जो शरीर व्याधिग्रस्त हो गया है उसे इसी मुहूर्त्त में हम रोगरहित कर सकते हैं।' (श्लोक ३८८-३९३)

सनत्कुमार बोले, 'हे वैद्यगण, व्याधि दो प्रकार की होती है। एक द्रव्यव्याधि, दूसरी भाव-व्याधि। क्रोध, मान, माया, लोभ भाव-व्याधि है जो कि मनुष्य को हजारों जन्म तक कष्ट देती है। यदि आप उसका निरामय कर सके तो सर्वतोभावेन अवश्य ही निरामय कर दीजिए और यदि द्रव्य-व्याधि निरामय कर सकते हैं तो देखिए—' (श्लोक ३९४-३९६)

ऐसा कहकर अपनी क्षतग्रस्त अंगुली पर अपना झूक लगाया। पारा के स्पर्श से ताम्बा जिस प्रकार स्वर्ण वर्ण हो जाता है वैसे ही वह अंगुली स्वर्ण-सी हो गयी। सन्तुष्ट होकर वे देव उनके पैरों पर गिर कर बोले, 'ऋषिवर, हम वही दोनों देव हैं जो इन्द्र की बात का विश्वास न होने से आपका रूप देखने आए थे। आज भी इन्द्र ने जब कहा—'व्याधि निरामय की लब्धि होते हुए भी ऋषि सनत्कुमार रोग यन्त्रणा सहन करते हुए उत्तम तप कर रहे हैं' तो हमें विश्वास नहीं हुआ। अतः यहाँ आपकी लब्धि देखने आए थे। अब उसे अपनी आँखों से देख लिया है।' ऐसा कह कर उन्हें प्रणाम कर देव चले गए।

(श्लोक ३९७-४०१)

चक्री की आयु ३ लाख वर्ष की थी। ५०००० वर्ष उन्हें कुमारवस्था में, ५०००० वर्ष माण्डलिक राजा के रूप में, १०००० वर्ष दिग्विजय में, १०००० वर्ष चक्री रूप में व १००००० वर्ष वृत्ती रूप में व्यतीत किए। मृत्यु समय आने पर उन्होंने संलिखना व्रत ग्रहण कर लिया और पंच परमेष्ठी का स्मरण करते हुए श्रुत ध्यान में देह त्याग कर सनत्कुमार देवलोक में देव रूप में उत्पन्न हुए।

(श्लोक ४०२-४०४)

शास्त्र रूप समुद्र से संगृहीत मुक्ता-सा यह चतुर्थ पर्व, जहाँ

२२ दलाका पुरुषों में ५ अर्हत्, ५ बलदेव, ५ वामुदेव, ५ प्रति-
 वामुदेव और दो चक्रवर्तियों का जीवन विवरण दिया गया है,
 यह आपके कल्याण के लिए हो। कुछ सूत्र से, कुछ आख्यान
 से, कुछ योग पर अर्थात् गुरु शिष्य परम्परा प्राप्त विषय वर्णित
 हुआ है। यदि इसमें कोई भूल-भ्रान्ति हो तो, हे मुजन, वह
 मन्द कर्म की भाँति निष्फल हो। (श्लोक ४०५-४०६)

सप्तम सर्ग समाप्त

चतुर्थ पर्व समाप्त

मार्गदर्शक - अर्चाय भी सुविदितामर नी म्हा

